पदप्रकाशः

प्रो० [illegible] मिश्र



वाराणसी (भारत)

चौखम्भा-प्राच्यविद्या-ग्रन्थमालायाः
द्वितीयं पुष्पम्

महाराजाधिराजभोजकृतः

तत्त्वप्रकाशः

सिद्धान्त-शैव-दर्शन ग्रन्थः

श्रीकुमारदेव-अघोरशिवाचार्यरचिताभ्यां
तात्पर्यदीपिका-वृत्तिनामव्याख्याभ्यां-भूमिका-हिन्दीभाषानुवाद-
विविधपरिशिष्टैश्च समलङ्कृतः

सम्पादक
डा० कामेश्वरनाथमिश्र
एम. ए., पी-एच्. डी., साहित्याचार्य
प्राध्यापक, संस्कृतविभाग, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

आशीर्वचन
म० म० डा० गोपीनाथ कविराज, पद्मविभूषण



चौखम्भा ओरियन्टालिया
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
वाराणसी (भारत)

प्रकाशक—
चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या तथा दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक एवं विक्रेता
पो० आ० चौखम्भा, पो० बाक्स नं० ३२
गोकुल भवन के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१, भारत
टेलीफोन : ६२६९५, ६३०२२ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

प्रथम संस्करण १९७६
मूल्य रू० ३०–००

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी

CHAUKHAMBHA PRACHYAVIDYA GRANTHAMALA
NO. 2

TATTVAPRAKĀŚAH

SIDDHĀNTAŚAIVA DARŚANAM

By

Mahārājādhirāja Bhoja

With

Tātparyadīpikā & Vritti Commentaries

By

Śri Kumāradeva & Aghoraśivāchārya

&

Introduction, Translation & Several Appendices

By

DR. KAMESHWAR NATH MISHRA
M. A., Ph. D., Sāhityāchārya
Deptt. of Sanskrit, Kashividyapith, Varanasi

With a Foreword

By

M. M. DR. GOPINATH KAVIRAJ, PADMA VIBHUṢAṆ

CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
VARANASI (INDIA)

Publishers :
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)

Phone : 62695, 63022. Gram : Gokulotsav

First Edition
Price Rs. 30-00

***Printers*—Vidya Vilas Press, Gopal Mandir Lane, Varanasi.**

MAHAMAHOPADHYAYA
Gopi Nath Kaviraj
M. A., D. LITT.
PADMA VIBHUSHAN

2/A, SIGARA, VARANASI

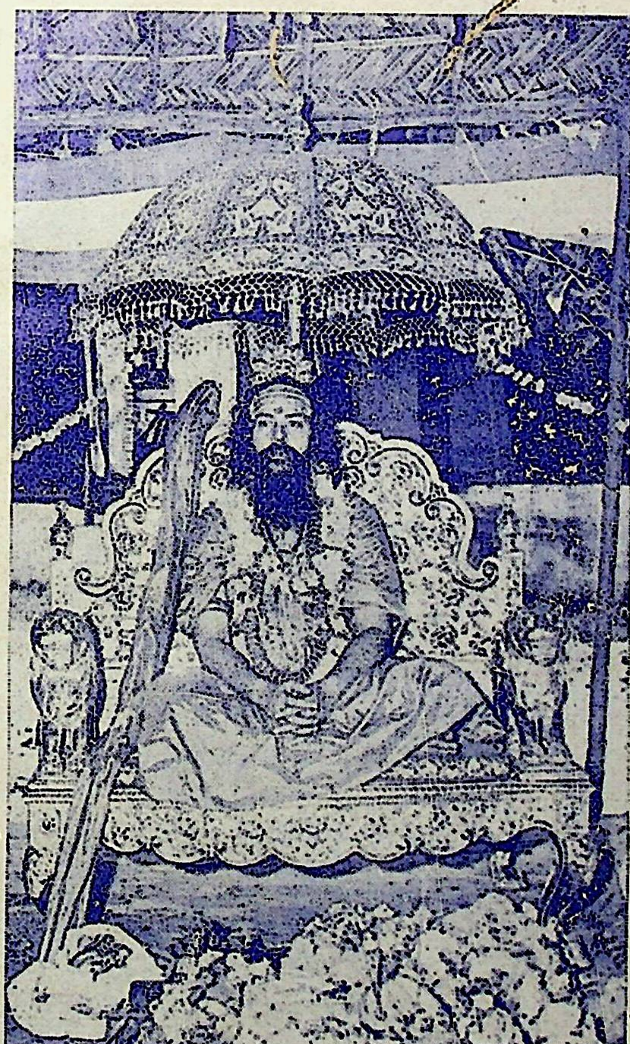
Date 18–1–1976

आशीर्वचन

डा० कामेश्वर नाथ मिश्र द्वारा सम्पादित भोजराज-कृत 'तत्त्व-प्रकाश' श्रीकुमारदेव और अघोरशिवाचार्य की टीकाओं के साथ प्रकाशित होने जा रहा है, जानकर मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। सम्पादक ने विशेष परिश्रम से कारिकाओं का हिन्दी में अनुवाद, परिशिष्ट में विशेष-शब्द-सूची आदि और जो विस्तृत भूमिका लिखी हैं, मुझे आशा है उनकी सहायता से प्राचीन 'शैव-सिद्धान्त' की दार्शनिक विचारधाराओं में पाठकों के अनायास प्रवेश में सुविधा होगी। ऐसे दुर्लभ तथा प्राचीन ग्रन्थों का प्रकाशन सर्वथा प्रशंसनीय है।

Gopi nath Kaviraj

(ह० गोपीनाथ कविराज)



उत्तराम्नाय-बदरिकाश्रमस्थ-ज्योतिष्पीठाधीश्वर-जगद्गुरुशङ्कराचार्य
अनन्तश्रीविभूषित स्वामी स्वरूपानन्द सरस्वती महाराज
के चरणकमलों में समर्पित

निवेदन

'तत्त्वप्रकाश' सिद्धान्त शैवदर्शन के प्रमेयों पर प्रचुर प्रकाश डालने वाला प्रमुख ग्रन्थ है। इसकी पाण्डुलिपियाँ अनेक पुस्तकालयों में विद्यमान हैं। श्रीकुमार तथा अघोरशिव की पृथक्-पृथक् व्याख्याओं के साथ यह ग्रन्थ दक्षिणभारत से बहुत पहले प्रकाशित हुआ था। सम्प्रति वह अलभ्य नहीं तो दुष्प्राप्य अवश्य हो गया है। डा० दासगुप्त तथा डा० जे० एन० सिन्हा ने 'सिद्धान्त' के निरूपण के प्रसङ्ग में प्रायः श्रीकुमार की व्याख्या के साथ पाण्डुलिपि अथवा प्रकाशित 'तत्त्वप्रकाश' का उपयोग किया था। आज शैव-दर्शन की ओर बढ़ती हुयी अभिरुचि तथा ग्रन्थों की दुर्लभता का अनुभव कर अध्येताओं के अधिकाधिक लाभहेतु दोनों उपलब्ध टीकाओं के संशोधित पाठ से युक्त 'तत्त्वप्रकाश' का प्रकाशन कारिकाओं के हिन्दी अनुवाद, 'सिद्धान्तदर्शन' के नामकरण, साहित्य, प्रमेय, आदि तथा भोज, श्रीकुमार, अघोरशिव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विवेचन से समन्वित भूमिका और विविधपरिशिष्टों के साथ किया जा रहा है।

श्रीकुमार ने पूरे ग्रन्थ को छः परिच्छेदों में विभक्त किया है जब कि अघोरशिव ने इस प्रकार का कोई उपक्रम नहीं किया। अतः ग्रन्थ तथा व्याख्याओं की मौलिकता को सुरक्षित रखने और रचयिताओं की भावना के समादर के लिये कारिकाओं की संख्या आनुक्रमिक रखी गयी है तथा यही विधि श्रीअघोर की टीका की भी है। श्रीकुमार की योजना के अनुसार उन की 'तात्पर्यदीपिका' में परिच्छेदों का उल्लेख यथा स्थान कर दिया गया है। इनमें श्लोक-संख्या परिच्छेदानुसार है। हिन्दी अनुवाद में दोनों प्रकार की संख्यायें उल्लिखित हैं। अविभक्त मूलग्रन्थ पर भिन्नविध टीकाओं का युगपत्-सन्निवेश अभीष्ट होने से इस क्रम की योजना की गयी।

उक्त योजना सुकर रही, किन्तु व्याख्याओं में उद्धृत सन्दर्भों का आकर निर्देश बहुत जटिल लगा। ग्रन्थों का नाम निर्देश किये विना दिये गये उद्धरणों का मूल बृहत्काय, अप्राप्य या अतिदुष्प्राप्य एवं अब तक नागरी लिपि में अप्रकाशित अथवा पाण्डुलिपि के रूप में ही प्राप्य, अनेक संस्करणों वाले बहुसंख्यक आगमों, पुराणों, स्मृतियों तथा प्रकरणग्रन्थों से एक ही

व्यक्ति को सामान्य आयु के एक जीवन में स्वयं ही ढूँढपाना पूर्णतः असम्भव नहीं तो अधिकांशतः तो है ही। निराशा की पराकाष्ठा तब होती है जब नामतः निर्दिष्ट ग्रन्थों के सन्दर्भ विभिन्नपाठात्मक अनेक संस्करणों में भी नहीं मिलते। कहीं पुराणवाक्यों को स्मृति कह कर और कहीं किसी ग्रन्थ-कार का नाम देकर, कहीं 'वृद्धाः' 'पूज्यचरणाः' 'गुरुवर्याः' आदि कह कर उद्धरण दिये गये हैं। लोकप्रत्यक्ष है कि विख्यातकीर्तिवैदुष्य वाले भारत के प्राचीन दार्शनिकों, कवियों, आचार्यों आदि का व्यक्तित्व एवं समय आज भी स्थिर नहीं हो पाया है, उनका सम्पूर्ण जीवन ही ऊहापोह का विषय बना हुआ है। ऐसी दशा में टटोलने से अधिक कुछ भी नहीं किया जा सकता। अथाह महासिन्धु में अथक परिश्रम से प्राप्त मुक्ता, शुक्ति और शैवाल सब सामने उपस्थित है। महत्त्वपूर्ण होने पर भी लघुकाय ग्रन्थ की भूमिका में शैवदर्शन का विशद विवेचन न तो अपेक्षित रहा और न सम्भव ही, अतः यहाँ उसका निरूपण स्वल्प ही किया गया है।

शैवदर्शन के प्रति अभिरुचि का बीज संस्कारतः प्राप्त था, वह सिञ्चित हुआ कैलासवासी गुरुवर डा० कान्तिचन्द्रपाण्डेय की कृपावारि से, अङ्कुरित हुआ गुरुवर डा० रामचन्द्र द्विवेदी की स्नेहिल विचारभूमिका में, और पल्लवित होने का अवसर मिल रहा है पुण्यकाशी में अपने विचारशील विभागाध्यक्ष डा० अमरनाथ पाण्डेय से प्राप्त स्वस्थ एवं प्रेरक वातावरण में। पं० हेमेन्द्रनाथचक्रवर्ती के उर्वरकसहयोग से निरन्तर लाभ मिला है। 'चौखम्भा ओरियण्टालिया' के स्वत्वाधिकारी गुप्तबन्धुओं—इस ग्रन्थ के प्रकाशकों-का योगदान दर्शन-तरु-संवर्धन में प्रकाश सा है। अपने इन सभी शुभ चिन्तकों का मैं हृदय से आभारी हूँ। विश्वविख्यात अध्यात्मविद्याविद् म० म० डा० गोपीनाथ कविराज के आशीर्वाद से बल मिला है। वर्तमान तथा भावी अहैतुकी कृपा हेतु उन्हें प्रणतिततति समर्पित है। सफलता भगवान् विश्वनाथ के अधीन है।

काशीविद्यापीठ
मकरसंक्रान्ति, २०३२ वि०
(१५ जनवरी १९७६)

—निवेदक
—कामेश्वरनाथ मिश्र

विषयानुक्रमणी

परिशिष्ट—



भूमिका

शैवदर्शन एवं 'सिद्धान्त'

शैवभावना का मूल सुदूर प्राग्वैदिक अतीत में सन्निहित है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा सदृश महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उत्खननों से प्राप्त विभिन्न सामग्रियों से इस भावना की प्राचीनता निर्विवाद सिद्ध होती है। शैवमत जितना ही प्राचीन है उतना ही इसका व्यापक प्रभाव भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, पर्व, उत्सव, लोकगीत और जन-जीवन के सामान्य व्यवहारों पर परिलक्षित होता है। यद्यपि भारतीय धर्म एवं दर्शन के महासिन्धु में पञ्चदेव, पञ्चायतन षण्मत आदि चिन्तनतरङ्ग स्फुरित होती रहीं, तथापि सबको आत्मसात् कर आष्टमूर्तिक शैव महाज्वार ने विचारभूमि में जो दर्शन-रत्न बिखेरे उनसे साधना-जगत् चमत्कृत, आह्लादित एवं प्रकाशित हुये बिना रह न सका। यह शैवधारा संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, इतिहास-पुराणों तथा विभिन्न भाषाओं के आगमों से निर्बाध बढ़ती हुई अनेक साम्प्रदायिक उपधाराओं में विभाजित हो गयी। पूरे भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न समयों में विभिन्न स्थानों पर अनेक रूपो में शैवचिन्तन का विकास हुआ। अनेक विद्वानों ने शैवदर्शन के स्वतन्त्र, प्रकरण तथा व्याख्या ग्रन्थों की रचना की। दार्शनिक जगत् के अद्भुत प्रस्थान ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर भी शैवदर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के अनुसार व्याख्यायें लिखी गयीं। साधकवर्ग में भी विभिन्न रूपों में 'शिव' का प्रवेश हुआ।

आज दार्शनिक क्षेत्र में शैवचिन्तन का द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि रूपों में दर्शन होता है। पाशुपत तथा सिद्धान्तशैव-दर्शन द्वैतवादी हैं। वीर-शैवदर्शन विशेषा-द्वैतवादी अथवा भेदाभेदवादी कहा जाता है। श्रीकण्ठ–प्रतिपादित दर्शन शैवविशिष्टा-द्वैतवादी है। लकुलीश-पाशुपत शैवदर्शन द्वैताद्वैत का प्रतिपादक है। नन्दिकेश्वरदर्शन, रसेश्वरदर्शन तथा काश्मीरीय शैवदर्शन–क्रम, कुल या कौल एवं प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदायों के साथ–प्रधानतः अद्वैतवादी हैं[1]।

इन विशिष्ट आठ महान् सम्प्रदायों के अतिरिक्त शब्दब्रह्माद्वैतवादी व्याकरणदर्शन तथा द्वैताद्वैतातीतवादी नाथ-दर्शन के प्रमुख आचार्य भी शैव थे। नाथ-सम्प्रदाय के साधक प्रधानतः शैव थे। न्याय-वैशेषिक-साधना भी पहले शैवयोग की ही थी।[2]

---

१. सारस्वतीसुषमा, वर्ष १८, अङ्क १-२, २०२० सम्वत्, तथा Bhaskari Vol. III Benaras. 1954.

२. MM. Gopinath Kaviraja; Gleanings From the History & Bibliography of the Nyaya-Vaiśeṣika Literature, Calcutta, 1961.

सिद्धान्त-शैव-दर्शन—

यह दर्शन सामान्यतः शैवागमदर्शन, आगमदर्शन, दक्षिणभारतीय-शैवदर्शन, शैवम्, या शैवदर्शनम् का पर्याय बन चुका है। प्रत्येक अभिधान किसी न किसी विशेषता का ज्ञापक है। 'शैवागमदर्शन' नाम से प्रकट होता है कि इस सम्प्रदाय के दार्शनिक-सिद्धान्तों का मूल आधार शिवप्रोक्त अट्ठाइस आगम अथवा तन्त्र हैं।[1] पाञ्चरात्र, शाक्त आदि आगमों पर भी आश्रित अनेक सम्प्रदाय हैं, किन्तु 'शैव' पद से इसकी उनसे भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। जहाँ इस सम्प्रदाय को 'आगमदर्शन' कहने का प्रचलन है, वहाँ भी इसका उक्त अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये और 'शैव' पद का अध्याहार कर लेना चाहिये। इस सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा इसके लिये 'आगमदर्शन' का प्रयोग करना वस्तुतः उनके अभिनिवेश का परिचायक है और इस तथ्य को स्पष्ट करता है मानो सभी आगमों में शैवागम ही प्रधान है और उनका प्रतिपाद्य मात्र इनकी ही साम्प्रदायिक मान्यतायें हैं।

यही बात इसके 'दक्षिणभारतीयशैवदर्शन' नाम के लिये भी कही जा सकती है। यद्यपि दक्षिण भारत में अन्य प्रकार के भी शैवदर्शन के सम्प्रदायों का प्रचार था, यथा वीरशैवों का कन्नडभाषी प्रदेशों में, तथापि अपेक्षाकृत अधिक स्थान, काल एवं अनुगामियों में व्याप्त होने से इसको ही यह उपाधि प्राप्त हुई। इस मत का प्रभाव मध्य तथा उत्तर भारत में भी कुछ शताब्दियों तक भिन्न-भिन्न स्थानो में रहा, तथापि तमिलनाड में जो दक्षिणी भारत में है, इसका विशेष प्रभाव रहा। यद्यपि श्री के. एस. पिल्लई[2] सदृश विद्वान् इस दर्शन की मूल उत्पत्ति दक्षिण भारत में मानते हैं तथा 'शिव' को भी मूलतः तमिल भाषा का शब्द सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तथापि इसकी दक्षिणभारतीय उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।[3] हमें निर्विवादरूप से यही स्वीकार करना चाहिये कि इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति भले ही दक्षिण भारत में न हुई हो, किन्तु दीर्घकाल से आज तक विशेष प्रचार एवं प्रसार का केन्द्र दक्षिण भारत रहा है। इस सम्प्रदाय का 'शैवम्' या 'शैवदर्शनम्' अभिधान तमिलनाड में ही विशेषतः प्रचलित रहा। ये नाम उस क्षेत्र में इस मत की अत्यन्त प्रमुखता तथा प्रसिद्धि को ही व्यक्त करते हैं।

उक्त नामों के अतिरिक्त इस मत का सर्वाधिक विख्यात नाम 'सिद्धान्त' है। 'सिद्धान्त' पद समस्त है जिसका अर्थ दो प्रकार का विग्रह करके लिया जा सकता है। प्रथम विग्रह होगा षष्ठीतत्पुरुष का, जिसका अर्थ होगा 'सिद्धों का अन्त-मत-' (सिद्धानाम् अन्तः)। इसका स्पष्ट अर्थ होगा वह मत जिसे सिद्ध-महापुरुषों ने—न कि सामान्य पामरजनने-प्रवर्तित किया। इससे इसकी प्रामाणिकता, आप्तता तथा उत्कृष्टता के साथ

---

१. शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु प्रसिद्धः। रत्नत्रय ॥१०॥ पर अघोरशिव.
२. The Metaphysics of the Saiva-Siddhānta System. pp. 4–5. Tinnevelly, 1929.
३. S. N. Dasgupta; A History of Indian Philosophy Vol. V. p. 18.

साधना प्रधानता प्रकट होती है। श्री के. एस. पिल्लई महोदय ने 'एरिवर' (Arrivars) नामक अत्यन्त आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न ऋषियों के समूह को न केवल इस मत का अपितु अट्ठाइस आगमों का भी उद्भावक माना है।[1] तेरहवीं शताब्दी ईसवी के बाल-महात्मा-कवि मेकन्डर (Meikandar) सदृश सिद्धों से पुनरुज्जीवित तथा पोषित इस सम्प्रदाय को सिद्धों से असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता किन्तु इसी मत का सम्बन्ध सिद्धमहापुरुषों-योगियों अथवा अलौकिक शक्तिसम्पन्न महात्माओं से था, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः भारत का कोई भी प्रामाणिक दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है जो किसी सिद्धमहापुरुष से सम्बद्ध न रहा हो अथवा प्रादुर्भूत न हुआ हो, क्योंकि यहां के दर्शन मात्र विचार नही हैं, वे ऐसी सुविचारित चिन्तन धारायें हैं जिनका द्रष्टाओं ने तपस्या से अनुभव किया है, प्रत्यक्ष किया है और अनुभूत-सत्य होने के कारण ही गुरुओं ने अपने शिष्यों को अपने जीवन में उतारने की दीक्षा दी है।

इसी विग्रह के अन्तर्गत 'सिद्धान्त' का एक और अर्थ निकलता है। 'सिद्ध' तथा 'अन्त' शब्द 'निर्णय' या 'प्रयोजन' के भी पर्याय समझे जाते हैं। ऐसी दशा में 'सिद्धान्त' शब्द का अर्थ होगा—'निर्णयों का निर्णय' 'प्रयोजनों का प्रयोजन' 'लक्ष्यों का लक्ष्य' अर्थात् 'सर्वोत्कृष्ट मान्यता'। यह भी इस सम्प्रदाय वालों का अभिनिवेश ही प्रकट करता है। जिसका अभिप्राय है कि यही सम्प्रदाय सर्वोत्कृष्ट हैं और इसके आगे अन्य सम्प्रदायों की मान्यतायें अवर है।[2] दूसरा विग्रह 'सिद्ध है मत जो' (सिद्धश्चासौ अन्तः) कर्मधारय समास के अनुसार है। इसका अर्थ प्रथमविग्रह के द्वितीय अर्थ के अतीव सन्निकट है जिससे इसकी प्रामाणिकता ही प्रकट होती है।

उक्त सन्दर्भों से एक तथ्य और सामने आता है कि यह नामकरण, बौद्ध-दर्शन के महायानियों की भांति—इसी सम्प्रदाय के आचार्य द्वारा किया गया है, वह भी अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्टता का द्योतन करने के निमित्त। जैसे भी हो सिद्धों को मान्य यह दर्शन कालक्रम से भविष्य में शैवदर्शन के एक सम्प्रदाय विशेष के लिये रूढ हो गया। अघोर शिवाचार्य के शब्दों में—'सिद्धान्तशब्दः पङ्कजादिवद् योगरूढ्या शिवप्रणीतेषु कामिकादिषु दशाष्टादशसु तन्त्रेषु प्रसिद्धः।'[3]

---

१. The Metaphysics of the Saiva-Siddhānta System. p. 2.
२. The word 'siddhānta' bears two meanings, viz., (1) the conclusion of the siddhars (2) the final word or the end of ends." The Metaph. of Saiva-Siddhānta. p. 5.

"All these are looked upon as a gradation of steps leading upto the siddhantam which transcends them all. It is for this reason that it has been called the 'end of ends' beyond which there is no path." ibid. p. 8.

३. रत्नत्रय ॥ १० ॥ पर 'वृत्ति'।

इस सम्प्रदाय के आचार्यों में अपने शास्त्र और सम्प्रदाय के प्रति श्रेष्ठता का भाव पराकाष्ठा पर रहा। रामकण्ठ के शिष्य श्रीकण्ठसूरि के 'रत्नत्रय'प्रकरणग्रन्थ की निम्न-लिखित कारिकायें दर्शनीय हैं—

आप्तोक्तिरत्र सिद्धान्तः शिव एवाप्तिमान् यतः।
न ताभ्यां सदृशः कश्चिच्छ्रेय आप्तिविधायकः॥ १०॥
सिद्धान्त एव सिद्धान्तः पूर्वपक्षास्ततः परे।
आप्तस्तु शिव एवैकः शिवान्ये त्वशिवा मताः॥ ११॥
सिद्धान्तः सेव्यते सद्भिः शक्तिपातपवित्रितैः।
कामकारितयान्यैस्तु निन्द्यते पशुशास्त्रवत्॥ १२॥
तदत्र कथितं सर्वस्रोतसां ज्यायसि प्रभोः।
उदक्षेणोर्ध्ववक्त्रेण ततस्तदवधारयेत्॥ १६॥
अलौकिकानि सूक्ष्माणि गोपितानि शिवेन च।
त्रीणिरत्नानि को वेत्ति सिद्धान्तेन विना स्वयम्॥ १८॥
हेतूनपि कुतर्कान्धतमसारीन् मनीषया।
तद्वद्योगञ्च को वेत्ति सबीजाबीजलक्षणम्॥ १९॥
सिद्धान्तः सेवितः सद्भिरपि कामान् प्रयच्छति।
सर्वान् साधकचित्तस्थानाप्तश्चिन्तामणिर्यथा॥ २०॥

इन उक्तियों से अपने शास्त्र के प्रति अविचल आस्था प्रकट होती है। यह आस्था दुराग्रह और परनिन्दा में परिवर्तित हो जाती है, जब ये शास्त्रकार अथवा साम्प्रदायिक दूसरे दर्शनों पर घोर आक्षेप करने लगते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होने लगता है मानो इनका ही शास्त्र आगमाश्रित हो और शिव का ग्रन्थकर्तृत्व इनकी ही पैतृकसम्पत्ति हो, जब कि सभी शैवदार्शनिक सम्प्रदाय शैवागमों को अपना मूल आधार मानते हैं।

अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता की इस भावना के लिये हम उसके अनुगामी को अपराधी भी नहीं कह सकते। वस्तुतः एक निष्ठावान् साधक की यह उत्कृष्ट विवशता है कि वह अपने साधना-सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझे। जब तक साधक में अपनी साधना पर अटूट विश्वास नहीं होगा तब तक उसका चरमलक्ष्य प्राप्त करना असम्भव है। दोष वहीं होता है जब साधक अपनी उत्कृष्टता के आगे दूसरों को निकृष्ट समझने लगता है और यह भूल जाता है कि सभी सत्सम्प्रदाय एक अथवा एक दिशा में पड़ने वाले लक्ष्य के प्रापक मार्ग हैं। भिन्न-भिन्न दिशा-दृष्टियों से एक लक्ष्य के अनेक मार्ग हो सकते हैं और सभी अच्छे हो सकते हैं, यही सत्य न समझने के कारण सम्प्रदायभेद साम्प्रदायिक संघर्ष का कारण बना और परस्पर कटुता बढ़ती गई।

सिद्धान्त-साहित्य—

यह साहित्य भाषा के आधार पर (१) संस्कृत–भाषा–निबद्ध (२) तमिलभाषा निबद्ध इन दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। संस्कृत-भाषा-निबद्ध ग्रन्थ भी (१) आगम (२) पुराण (३) प्रकरण। (४) तथा व्याख्या के रूप में दृष्टिगोचर हो तेहैं।

आगम—

सिद्धान्त-साहित्य का मूल शैवागम हैं। शैवागमों की संख्या अट्ठाइस है। यही प्रमुख कहे गये हैं। इनके उपागम असंख्य समझे जाते हैं। श्रीकुमार ने प्रमुख आगमों की गणना इस प्रकार की है।

> कामिकं[१] योगजं[२] चिन्त्यं[३] कारणं[४] त्वजितं[५] परम्[६]।
> दीप्तं[७] सूक्ष्मं[८] सहस्रं[९] च अंशुमान्[१०] सुप्रभेदकम्[११] ॥
> विजयं[१२] चैव निःश्वासं[१३] स्वायम्भुवमतः[१४] परम्।
> वीरं[१५] च रौरवं[१६] चैव मकुटं[१७] विमलं[१८] तथा ॥
> चन्द्रज्ञानं[१९] च विम्बं[२०] च प्रोद्गीतं[२१] ललितं[२२] तथा।
> सिद्धं[२३] [२४]सन्तानसर्वोक्तं[२५] पारमेश्वरमेव[२६] च ॥
> किरणं[२७] वातुलं[२८] चैव त्वष्टाविंशतिसंहिताः।
> मूलभेदमिति ख्यातमसंख्यमुपभेदकम् ॥[१]

डा० दासगुप्त ने छब्बीस प्रमुख आगमों का नाम गिनाया है। उनमें 'सिद्धागम' और 'परागम' का नाम नहीं है। उनके अतिरिक्त उन्होंने 'अनलागम' तथा 'शिवज्ञान-बोध' का नाम दिया है।[२] वहीं उन्होंने 'शिवज्ञानसिद्धि' ग्रन्थ में उद्धृत कुछ आगमों तथा तन्त्रों का नामोल्लेख किया है। वे हैं—हिमसंहिता, चिन्त्यविश्व, शिवधर्मोत्तर (पुराण), पौष्कर, सिद्धतन्त्र, सर्वमतोपन्यास, परा, रत्नत्रय, निवास, मृगेन्द्र, ज्ञानकारिका, नादकारिका, कालोत्तर, विश्वसारोत्तर, वायव्य, मातङ्ग, शुद्ध, सर्वज्ञानोत्तर, सिद्धान्तरहस्य, ज्ञानरत्नावली, मेरुतन्त्र, स्वच्छन्द एवं देवीकालोत्तर[३]। इनमें से सिद्धतन्त्र और परागम श्रीकुमार की तात्पर्यदीपिका में उल्लिखत हैं। शिवधर्मोत्तर एक पुराण है; नादकारिका और रत्नत्रय अष्टप्रकरणों में दो ग्रन्थ हैं। 'वायव्य' संभवतः शिवमहापुराण की वायवीय संहिता का नामान्तर है। 'चिन्त्यविश्व' संभवतः पूर्वोक्त 'चिन्त्य' ही हो। पौष्कर, मृगेन्द्र और मातङ्ग आगम हैं जो कुछ की दृष्टि में उपागम भी कहे जा सकते हैं। शेष प्रकरण अथवा तन्त्र-ग्रन्थ प्रतीत होते हैं, उनमें कुछ प्रधान आगम मतान्तर से हो सकते हैं, यद्यपि इन तीनों तथा 'मातङ्गपारमेश्वर' से अघोरशिव आदि की वृत्तियों में प्रचुर उद्धरण दिये गए हैं। मृगेन्द्र वस्तुतः कामिक का ही एक अङ्ग माना जाता है[४]। शामेरस (Schomerus) महोदय ने जिन अट्ठाइस आगमों के नामों का उल्लेख किया है, उनमें अनिल, चन्द्रहास, और नारसिंह ये तीन श्रीकुमार की सूची से नये हैं। संभव है चन्द्रज्ञान ही

१. तत्त्वप्रकाश ॥ ५ ॥ पर तात्पर्यदीपिका में।
२. A Hist. of Ind. Phil. Vol. V p. 16 Footnote No. 1.
३. वही।
४. वही पृ. १८।

चन्द्रहास हो। शेष दो पूर्णतः भिन्न है। इनके स्थान पर श्रीकुमार द्वारा परागम तथा सर्वोक्तागमों की गणना की गई हैं[1]। इस प्रकार कुछ के अतिरिक्त प्रायः शेष सबकी प्रामाणिकता निर्विवाद हैं। डा० वी० पोन्निया 'विमल' को ही 'बिम्ब' कहते है और 'आग्नेय' नामक एक अन्य आगम का नाम देते हैं।[2] इनमें से मात्र नव—कारण, कामिक, वीर, चिन्त्य, वातुल, व्यामल (विमल), कालोत्तर, सुप्रभेद तथा मकुट आगम कुछ की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण हैं।[3] वस्तुतः सभी आगमों का सिद्धान्तदर्शन के लिये बहुत महत्त्व नहीं है।[4] भोगकारिका[5] और परमोक्षनिरासकारिका[6] में रौरवसूत्र, या रुरुसिद्धान्त या रौरवागम का विशेष महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। 'सिद्धान्त' के लिये इनका ही महत्व अधिक है।

डा० दासगुप्त ने इन आगमों की मूलभाषा के विषय में बड़ा मनोरञ्जक प्रश्न उठाया है।[7] आगमों को शिवप्रोक्त कहा जाता है, किन्तु उनकी भाषा संस्कृत, प्राकृत अथवा देशज क्या थी इसका निर्णय शेष रह जाता है। भारत में संस्कृत ही आस्तिक क्षेत्र में धर्म की भाषा रही है, तथापि अपनी क्षेत्रीय अथवा मातृभाषा में भी भगवान् की अर्चा का पूर्ण निषेध नहीं किया जा सकता क्योंकि भगवान् सबके हैं और सभी उनके चिन्तन, ध्यान अथवा अर्चा के योग्यतानुसार अधिकारी हैं। मध्यकालीन सन्तों ने देशी अथवा क्षेत्रीय भाषा को महत्व दिया था, फिर भी एक परिनिष्ठित वेश, भाषा, साहित्य आदि का महत्त्व अधिक समझा जाता हैं। दूसरी बात यह है कि निगम (वेद और वैदिक साहित्य) संस्कृत में ही हैं, अतः आगमों के भी उसी भाषा में होने की एक सहज कल्पना होती है। किन्तु तमिलप्रदेश में यह भावना प्रधान रही है कि सर्वप्रथम आगमों की रचना तमिल में हुई। श्री के. एस. पिल्लई महोदय न केवल आगमों को अपितु वैदिक संहिता तथा उपनिषदों पर भी तमिल की छाप देखते हैं।[8]

---

१. वही पाद टिप्पणी संख्या २।
२. Theory of Knowledge of Śaiva Siddhanta, Annamalainagar, 1962, p. 15.
३. वही।
४. वही।
५. भोगकारिका २।
६. परमोक्षनिरासकारिका-भूमिका।
७. A Hist. of Ind. Phil. Vol. V. pp. 15–16.
८. In process of time, it came to pass that many of the ideas and words of this system found a prominent place in some of the Vedic songs and Upanishads, and a cycle of Sanskrit literature called Tantric or Agamic came into being as adaptations of the mystic lore of the Tamil saints." The Metaphysics of the Saiva-Siddhanta System, pp. 2–3.

डा. दासगुप्त ने 'शिवज्ञानसिद्धि' में 'शिवधर्मोत्तर' (पुराण) का एक श्लोक उद्धृत पाया था—

> संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यश्च शिष्यानुरूपतः ।
> देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः ॥[1]

इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला था कि आगम संस्कृत तथा कुछ द्राविड भाषाओं-जैसे तमिल, तेलगु, तथा कन्नड-में प्राप्य रहे होंगे। किन्तु अन्त में उनका यही निर्णय प्रतीत होता है कि संस्कृत की ही ऋणी ये भाषायें हैं, विशेषकर दार्शनिक अंशों के लिये।[2] वह आगमों की तमिलभाषा-मूलकता को उस स्थान के लोगों का काल्पनिक देशभक्तिपूर्ण विश्वास मानते हैं।[3] उक्त उद्धरण का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में थे। सद्गुरु का यह कर्त्तव्य था कि वह शिष्यों को उनका ज्ञान दे। जो संस्कृत नहीं समझते रहे होंगे उनको समझाने के लिये वह शिष्ययोग्य प्राकृत अथवा देशज भाषाओं का प्रयोग कर सकता था। यही उपदेश बाद में शिष्यों ने अपनी देशीय भाषाओं में गुरुवचन के रूप में सुरक्षित रखा। देशी भाषा के जानने वालों ने इनको ही मूल स्रोत समझ लिया। श्री जे. एम. एन. पिल्लई[4] तथा श्री के. एम. बालसुब्रमनियम्[5] सदृश आधुनिक विद्वान् 'सिद्धान्त' की वेदमूलकता में विश्वास रखते हैं।

पौराणिक-साहित्य—

आगमों के पश्चात् 'सिद्धान्त-शैव-दर्शन' में पुराणों को महत्त्व मिला है। यद्यपि निगमों की कर्मकाण्डप्रधान तथा आगमों की साधनाप्रधान धाराओं का अन्तर प्रारम्भिक साहित्य में दृष्टिगोचर होता है, तथापि मध्यकाल में दोनों धाराओं में अद्भुत सामञ्जस्य

---

१. A History of Ind. Phiio. Vol. V. pp. 15–16.

२. "It also explains the controversy as to whether the Āgamas or Siddhāntas were originally written in Sanskrit or in the Dravidian tongue....The same works may be found also in many cases in the whole Dravidian language; but the inspiration and the thoughts are almost always taken from Sanskrit. The essence of Dravidian culture is therefore almost wholly taken from Sanskrit, at least so for as philosophy is concerned" ibid p. 16.

३. "We are, therefore forced to think that the assertion that these Agamas were originally written in Dravidian and then translated into Sanskrit, seems only to be a mythical patriotic belief of the Tamil people." ibid p. I8.

४. Studies in Śaiva Siddhanta, 1911.

५. Special Lectures on Saiva Siddhānta, 1959.

उपस्थित हुआ, यहां तक कि वैदिकेतर धाराओं ने भी अपने को वैदिक सिद्ध करने का अथक प्रयास किया। 'ईशानशिवगुरुदेवपद्धति' के प्रथम पटल और श्रीकुमारदेव की 'तात्पर्यदीपिका' टीका में उपनिषदों के वाक्यों का प्रयोग तथा शैवोपनिषदों के उल्लेख की प्राप्ति इस तथ्य को सिद्ध करते हैं। तिरुमूलर में भी यह समन्वय की भावना परिलक्षित होती है।[१] संभवतः "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं वेदाः" श्रुति के अनुसार आगमों की प्रामाणिकता के लिये उनको भी शिवप्रोक्त बतलाया गया। शैवदर्शन के ग्रन्थकारों ने पुराणवाक्यों को 'स्मृति' वाक्य कह कर सादर उद्धृत किया है। श्रीकुमार की 'तात्पर्य-दीपिका' में ये निदर्शन प्रचुर हैं।

अष्टादश पुराणों में (१) लिङ्ग (२) शिव (३) अग्नि (४) स्कन्द (५) कूर्म तथा (६) मत्स्य शिव से सम्बद्ध हैं, शैव हैं। इनके अतिरिक्त वैष्णव, ब्राह्म अथवा शाक्त पुराणों में भी शिव का उल्लेख है, किन्तु, वह गौण है। आगम और निगम के समन्वयवादी सिद्धान्तशैवाचार्य इन पुराणों से उद्धरण प्रमाण के रूप में लिये हैं।

प्रकरण एवं व्याख्याग्रन्थ—

'अष्टप्रकरण' के एक खण्ड की भूमिका में सिद्धान्त-दर्शन के आचार्यों तथा ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची छन्दोबद्धरूप में दी गयी है, जिसके अनुसार श्रीकण्ठ, अप्पयदीक्षित, सूत, पौराणिक, विद्यारण्य आदि को मान्य कामिक आदि मुख्यशैव आगमों की वेदों के तुल्य प्रामाणिकता स्वीकार की गई है।[२] यहाँ श्रीकण्ठ (ब्रह्मसूत्रभाष्यकार) तथा अप्पयदीक्षित (श्रीकण्ठभाष्य के टीकाकार) जो शैवविशिष्टाद्वैत के प्रतिपादक माने जाते हैं, द्वैत सिद्धान्तशैव के आचार्य के रूप में सन्दिग्ध हैं। अप्पयदीक्षित भी द्वैतवादी नहीं है। 'सूतसंहिता' पुराण का अंश है जिस पर विद्यारण्यस्वामी अथवा माधवाचार्य की व्याख्या है। इसको शैवसिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय 'सर्वदर्शनसंग्रह' आदि में उद्धृत किया गया है। सूतसंहिता की व्याख्या अद्वैत के अतीव निकट है, जब कि श्रीकण्ठ का भाष्य सिद्धान्त के द्वैतवाद से काफी दूर है। अतएव कुछ विद्वानों ने इन दोनों को सिद्धान्तग्रन्थ नहीं माना है। इनकी सिद्धान्तपरकता विवाद का विषय है।[3]

---

१. Dr. V. Ponniah; Theory of Knowledge of Śaiva-Sidhānta. pp. 15–16.

२. श्रीकण्ठाप्पयदीक्षितैर्मुनिवरैः श्रीसूतपौराणिकैः
विद्यारण्यमहायतिप्रभृतिभिस्तोष्टूयमानाः सदा।
श्रीमत्कामिकमुख्यशैवनिगमाः श्रीशैवपूजापराः
लोकेऽस्मिन् विलसन्ति वेदवचसा तुल्यप्रमाणाः शुभाः॥

३. In saivite group, (Akam) the sivadwaita doctrine has been influenced by monistic views, and its best exposition is by Srikantha who is a great commentator on Brahmasutras. This creed should not be mistaken for the siddhānta system

इस कोटि के ग्रन्थों को सामान्यतः दो विभागों में रखा जा सकता है—प्रथम तो वे जो पौराणिक अंशों अथवा आगमों पर सिद्धान्तानुसारिणी व्याख्यायें हैं, दूसरी वे जो स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थ हैं और उन पर व्याख्यायें हुई हैं, अथवा जो टीका रहित भी हैं।

आगम-पुराणांश-व्याख्यायें—

१–कालोत्तरागमवृत्ति-रामकण्ठ कृत।[1]
२–किरणागमवृत्ति[2]
३–मतङ्गागमवृत्ति—रामकण्ठ द्वितीयकृत (द्रष्टव्य रत्नत्रय ॥ ८ ॥ की वृत्ति)
४–मातङ्गपारमेश्वरवृत्ति—रामकण्ठ भट्ट प्रथम (१० म शती) (द्रष्टव्य-रत्नत्रय, ८,१०५ की वृत्ति)
५–मृगेन्द्रागमवृत्ति—नारायणकण्ठ (११ वीं शती)
६–मृगेन्द्रागमवृत्तिदीपिका-अघोरशिव (१२ वीं शती ई.)
७–रौरवागमसुवृत्ति–सद्योज्योति (९९०–१०१५ ई.) (देखें तत्त्वसंग्रह ५२ की वृत्ति)
८–रौरवागमसुवृत्तिव्याख्या–अघोरशिवकृत (देखें तत्त्वसंग्रह ५२ की वृत्ति)
९–शिवसहस्रनामावलिभाष्य—लिङ्गाध्वरकृत
१०–सूतसंहिताव्याख्या—विद्यारण्यकृत
११–स्वायम्भुवागमवृत्ति-सद्योज्योतिकृत (द्रष्टव्य 'रत्नत्रय' ॥ ८ ॥ की वृत्ति तथा नरेश्वरपरीक्षा ॥ २१६ ॥ पर वृत्ति)
१२–स्वायम्भुवागम वृत्ति की टिप्पणी—भट्टनारायणकण्ठकृत
१३–उद्योतटीका—रामकण्ठद्वितीय कृत। (११ वीं शती)।

आगमों की टीकाओं के विषय में डा. पाण्डेय का मत है कि अघोरशिव के पूर्व अट्ठाइस में से कई आगमों पर व्याख्यायें लिखी जा चुकी थीं।[3]

---

which has its origin in Tantric literature." The Metaphysics of the Saiva Siddhanta System, p. 21,

१. मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका। ४२१। में उल्लिखित।
२. रत्नत्रय, १०५ की अघोरशिव की वृत्ति में उल्लिखित।
३. It appears that before the time of Aghoraśiva commentaries on many of the twenty eight tantras of the siddhānta school had been written. For, he distinctly mentions commentaries on Svāyambhuva, Kiraṇa and Mataṅga Agamas together and puts the word 'etc.' at the end. And referring to their authors he states the name of Rāma Kaṇṭha using the word etc. (Ādi) at the end. He also mentions a vritti on the Kālottara Āgama by Rāmakaṇṭha, in his Dipikā, a commentary on Nārāyaṇa Kaṇṭha's vṛtti on the Mṛgendra Tantra." Bhaskari Vol. III, p. XXV.

प्रकरणग्रन्थ तथा उनकी व्याख्यायें—

१—क्रियाक्रमोद्योतिका या क्रियाक्रमोद्योतनिका—अघोरशिवाचार्य (१२ वीं शती)
२—प्रभाव्याख्या (क्रि. क्र. द्यो. पर)—अतिविशुद्धनिर्मलमणि
३—तत्त्वत्रयनिर्णय—सद्योज्योति (९९०—१०१५ ई.)
४— „ „ वृत्ति-अघोरशिव
५—तत्त्वप्रकाश-भोजदेव
६— „ „ तात्पर्यदीपिका-श्रीकुमारदेव
७— „ „ वृत्ति-अघोरशिवाचार्य
८—तत्त्वसंग्रह—सद्योज्योति
९— „ बृहट्टीका-नारायणकण्ठ (११वी शती) (देखिये अघोरशिव की वृत्ति)
१०— „ लघुटीका-अघोरशिवाचार्य
११—नादकारिका-रामकण्ठ द्वितीय (११ वीं शती)
१२— „ „ वृत्ति—अघोरशिवाचार्य
१३—नरेश्वरपरीक्षा—
१४—नरेश्वरपरीक्षावृत्ति—रामकण्ठ द्वितीय (११ वीं शती)
१५—पद्धति—उत्तुङ्गशिव (११ वीं शती) कर्त्ता हैं। (देखें भास्करी Vol. III, p. XXIV & p. 236)
१६—परमोक्षनिरासकारिका—सद्योज्योति
१७— „ „ वृत्ति—भट्टरामकण्ठ द्वितीय
१८—प्रशालङ्कार—शङ्करनन्दन (९ म शतक) (Bhaskari Vol. III, p. 225)
१९—भोगकारिका—सद्योज्योति
२०— „ „ वृत्ति—अघोरशिवाचार्य
२१—मन्त्रविवेकटीका—रामकण्टद्वितीय (देखिये मोक्षकारिका । ४ । की वृत्ति)
२२—आगमविवेक— „ „ („ परमोक्षनिरासवृत्ति ४९ में)
२३—मोक्षकारिका—सद्योज्योति
२४— „ „ वृत्ति—भट्टरामकण्ठ द्वितीय (११ वीं शती)
२५—रत्नत्रय—श्रीकण्ठसूरि (११वीं शती)
२६—रत्नत्रयोल्लेखिनीव्याख्या—अघोरशिव
२७—शिवतनुशास्त्र—बृहस्पति (९ म शती ई.) Bhaskari Vol. III, pp. XVI–XVII)

इस श्रेणी तथा इसके अतिरिक्त शैवसिद्धान्त के कुछ प्रमुखग्रन्थों के नाम भोज, अघोर-शिवाचार्य आदि के ग्रन्थों के विवरण के समय तथा ग्रन्थ के अन्त में संलग्न टिप्पणियों में दिये गये हैं।[1] पिष्टपेषण उचित नहीं समझा गया।

---

१. ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारों की विस्तृत सूची के लिये देखें डा. कान्तिचन्द्रपाण्डेय के दो ग्रन्थ—(I) Bhaskari Vol. III, Varanasi. (II) शैवदर्शनबिन्दुः, वाराणसी।

तमिलभाषानिबद्धग्रन्थ—

तमिल भाषा में इस दर्शन से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थ हैं। डा. वी. पोन्निआ ने उनमें प्रमुख की सूची इस प्रकार दी है—[१]

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	
१. तिरुवुन्तियार (Tiruvuntiyār)	उय्यवन्त तेवनायणार	११४८ ई.
२. तिरुक्कलिड्डुप्पटियार (Tirukkḷiṟṟuppaṭiyār)	उय्यवन्त तेवनायणार तिरुक्कटवूर वासी- (Uyyavanta Tevanāyaṇar of Tirukkaṭvūr)	११७८ ई.
३. शिवज्ञानबोधम्	मेकण्ठतेवर	१२२१ ई.
४. शिवज्ञानसिद्धियार	अरुणन्ति शिवाचारियर	१२५३ ई.
इसपर छः प्रमुखटीकायें हैं—		
(१) टीका—	मराइज्ञान देशिकार	
(२) „	शिवाग्रयोगी	
(३) „	निरम्बवडकियर	
(४) „	शिवज्ञानयोगी	
(५) „	सुब्रह्मण्यदेशिकर	
(६) „	ज्ञानप्रकाशर	
५. इरुपाविरुपहतु	„ „	१२५४ ई.
६. उण्मइ विळक्म	मणवाचकम्-कटन्तार	१२५५ ई.
७. शिवप्रकाश	उमापतिशिवाचारियर	१३०६ ई.
८. तिरुवरुट्पयण्	„ „	१३०७ ई.
९. विणा-वेण्पा	„ „	१३०८ ई.
१०. पोड्रिप्पह्रोटइ	„ „	१३०९ ई.
११. कोटिक्कवि	„ „	१३१० ई.
१२. नेञ्चु-विड्ड-तूतु	„ „	१३११ ई.
१३. उण्मइ-नेडि-विलक्कम	तत्त्वनातर (चिकाली के)	१३१२ ई.
१४. सङ्कल्पनिराकरणम्	उमापति शिवाचारियर	१३१३ ई.।

इनके विशिष्ट विवरण के लिये जिज्ञासु डा० पोन्निआ के उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ पच्चीस से छियालीस तक देखें।[२]

इन तमिलभाषा के ग्रन्थों से अध्येताओं को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होगा ही। संस्कृत से अनभिज्ञ अथवा स्वल्पपरिचित तद्देशीय जिज्ञासुओं के लिये भी इनका विशिष्ट महत्त्व है।

---

१. Theory of Knowledge of Śaiva Siddhānta, 1962. pp. 27, 28, 33.

२. देखें—Dr. Dasgupta. A Hist. of Ind. Phil. Vol. V, p. 19 footnote No. 1.

किन्तु डा० दासगुप्त की मान्यता तो यह है कि सिद्धान्त शैवदर्शन का ज्ञान प्राप्त कराने में सम्बद्ध संस्कृतग्रन्थ ही पर्याप्त हैं, विशेषतः इस सम्प्रदाय के दार्शनिक तथ्यों के लिये तमिल का आश्रय आवश्यक नहीं है।[१]

इसप्रकार सिद्धान्तशैवदर्शन के साहित्य का अतिसंक्षिप्त विवरण, जो यहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ, दिया गया। आशा है इस विषय के अध्येता विशिष्ट ज्ञान के लिये इन ग्रन्थों का मूलरूप देखने का कष्ट करेंगे।



१. So for as the knowledge of the present writer goes, there is hardly anything of philosophical value or systematic thought which is available in Dravidian, and not in Sanskrit." ibid p. 16. footnote.

सिद्धान्त-दर्शन

सिद्धान्त शैव दर्शन द्वैतवादी है। यहाँ द्वैतवाद का अर्थ यह नहीं है कि केवल दो तत्त्वों को ही पार्यन्तिक महत्त्व दिया गया है, अर्थात् केवल दो ही तत्त्व परमप्रतिपाद्य के रूप में मान्य हैं, अपितु इसका अभिप्राय यह समझना चाहिये कि इस दर्शन में जीव (पशु) तथा परमात्मा (पति) दोनों में वैसा तादात्म्य नहीं है जैसा शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद में—'जीवो ब्रह्मैव नापरः'—है। इस दर्शन में पति, पशु और पाश इन तीन पदार्थों अथवा तीनरत्नों को प्रधान माना गया है। ऐसी अवस्था में यह द्वैतवादी भी न होकर त्रैतवादी अथवा बहुत्ववादी (Pluralistic) हो जायेगा।

इस सम्प्रदाय के कुछ विद्वान् इसको अद्वैतवादी भी कहते हैं, किन्तु उनकी 'अद्वैत' की अपनी व्याख्या है। उनके अनुसार 'नञ्' अथवा 'अ' के संस्कृत में सामान्यतः तीन अर्थ—अभाव, सादृश्य और विरोध हो सकते हैं। संख्या के साथ इनको 'सादृश्य' अर्थ अभीष्ट है जिसका अर्थ होगा कि जीव तथा परमात्मा निःसन्देह ये दो तत्त्व हैं, किन्तु अनन्य सादृश्य के कारण वस्तुतः ये दो नहीं हैं।[1] महात्मा मेकण्डान (Meykandān) ने 'शिवज्ञानबोधम्' के द्वितीय सूत्र की व्याख्या में अपने सम्प्रदाय को अद्वैती कहा है।[2] उमापति शिवाचार्य ने भी अपने ग्रन्थ 'शिवप्रकाशम्' के प्रारम्भिक पद्यों में अपने मत को अद्वैत कहा है। उनके शब्दों का अंग्रेजी अनुवाद श्री जे. एम. एन. पिल्लई ने किया है जिसमें उन्होंने 'शैवसिद्धान्त' को वेदान्त का सारतत्त्व कहा है और उसके अद्वैत-प्रतिपादन की उत्कृष्टता की प्रशंसा की है, क्योंकि इस मत के अत्यन्त प्रामाणिक धर्मग्रन्थों में शरीर तथा आत्मा, चक्षु और सूर्य, आत्मा और चाक्षुषज्ञान के सदृश अयुत-सिद्ध सम्बन्ध को माना गया है। ये उस प्रकार के भेद, भेदाभेद तथा अभेद सम्बन्धों को स्वीकार नहीं करते जैसे क्रमशः प्रकाश तथा अन्धकार, शब्द और अर्थ तथा स्वर्ण और

---

१. The negative prefix of 'na' or 'A' in Sanskrit is capable of three kinds of meanings of Abhava, Sadrisya and Virodha only when it is used in connection with nouns. But when it is used in connection with numerals, it would give only the Sadrisya meaning. Thus the word Ekam with the prefix of 'A' becomes 'Anckam' and the word 'dwaitam' with the prefix of 'A' would become Adwaitam. Therefore, the word Adwaitam, according to Saiva Siddhanta means : 'No doubt there are two but in fact, they are not two, they are ananya.' K. M. Balsubramaniam : Special Lectures on Saiva Siddhanta, pp. 36–37,

२. J. M. N. Pillai : Studies in Saiva-Siddanta, p, 244.

आभूषण सदृश उदाहरणों के अनुसार अन्य सम्प्रदाय वालों को मान्य है।[1] सिद्धान्त दर्शन के आचार्य, विशेषरूप से 'शिवज्ञानबोधम्' के रचयिता, पति और पशु में केवल एक सम्बन्ध न मान कर इन तीनों को एक साथ मानते हैं।[2] जहाँ एकात्मवादी की मान्यता है कि ब्रह्म तथा जीव में स्वर्ण और आभूषण की भांति अभेद सम्बन्ध है, और द्वैतवादी मध्व का मत है कि ईश तथा जीव सर्वथा भिन्न हैं, प्रकाश और तमस की भांति दोनों में भेद सम्बन्ध है, तथा पाञ्चरात्रों के अनुसार ब्रह्म तथा जीव में शब्द और अर्थ की भांति भेदाभेद भाव है, वहाँ 'सिद्धान्त' में इन तीनों का सामञ्जस्य परिलक्षित होता है। यहाँ भेद, अभेद और भेदाभेद सभी है। यही सम्बन्ध यहां 'अद्वैत' कहा जाता है। इस अद्वैत में इसका निषेध नहीं है कि दो तत्वों की सत्ता नहीं है अपितु निषेध इस बात का है कि दोनों में भिन्नता है और दोनों भिन्न हैं। इनके अनुसार यह मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि यह कथन ही कि 'केवल एक की ही सत्ता है दूसरे की नहीं' वक्ता की पृथक् सत्ता का भान करा देता है। जो भिन्न नहीं है, जिसकी एक के अतिरिक्त स्थिति नहीं है, वह अपने को अभिन्न समझ ही नहीं सकता। अतः 'सिद्धान्त' की यह मान्यता कि ईश और जीव में उसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है जैसे आत्मा और शरीर का है, वह स्वरूपतः जीव से उसी प्रकार भिन्न है जैसे सूर्य तथा चक्षु और वह जीवों से उसी प्रकार भिन्नाभिन्न है जैसे कि आत्मबोध चाक्षुप दर्शन से सम्बद्ध है।[3] एक ओर तमिल के शिवाचार्य 'वेदान्त'

---

१. 'We expound here the beauty of Saiva Siddhanta, the cream of the Vedānta, whose excellent merit consists in its exposition of the Advaita, postulating an inseparable relation like body and soul, eye & the sun, the soul and the eye, supported as it is by the Dharma of the highest authoritative books, and unlike the Bheda, Bhēdābhēda and Abhēda relations illustrated, respectively, by light and darkness, word and meaning, gold and ornament, set forth by other schools, and which is further supported by perfectly logical methods, and is light to the truth-seekers & darkness to others." ibid. p. 245.

२. The relation of God and soul is not any one of these three relations to the exclusion of the other two, but is all the three, oneness, otherness & implicit union." Siva-Jñāna-Bodham 2., Translated and commented by G, Mathews, Oxford, 1948, Expository Notes. p. 33.

३. "God is one with souls by association, as Soul with body, He is different from souls by nature as sun & eye; He is in union with soul being the soul of the soul, as the consciousness of the soul unites with the eyes seeing." ibid..

तथा 'अद्वैतशब्द' अपने दर्शन के साथ जोड़ने के लिये व्याकुल हैं, वहीं अघोरशिवाचार्य सदृश संस्कृत के आचार्य सिद्धान्त-दर्शन को अद्वैत से सर्वथा भिन्न घोषित करते हैं और शैव ग्रन्थों की अद्वैतवादी व्याख्या के विरोध में वृत्तियाँ लिखते हैं।[1] निःसन्देह दोनों के 'अद्वैत' के अर्थ में अन्तर है। अघोरशिव उस शाङ्कराद्वैत का विरोध करते हैं जिसमें 'अ' का अर्थ 'अभाव' है, जिसके अनुसार 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' की स्थापना होती है, जब कि तमिलभाषी सादृश्यवादी हैं और उनके अनुसार दो तत्त्वों का पृथक् अस्तित्व होने पर भी उनमें इतना साम्य है कि दोनों एक दूसरे से भिन्न नहीं प्रतीत होते।

भोज को भी पति तथा पशु दोनों दो तत्त्वों के रूप में मान्य हैं क्योंकि उनके अनुसार चिद्घन शिव जीव पर अनुग्रह करते हैं तब उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यह मोक्ष की दशा शिव-तादात्म्य की न होकर मात्र 'शिवसमानतारूपा' ही है।[2] आचार्य सद्योज्योतिरचित 'परमोक्षनिरासकारिका' का भी यही मन्तव्य है कि यहाँ वह 'परमोक्ष' अभीष्ट नहीं जिसमें पशु पति ही हो जाय, अपितु अत्यन्त सारूप्य होने पर भी दोनों में भेद बना ही रहना चाहिये। जीव उन्नति करते करते सर्वदोष विनिर्मुक्त होकर शिवसदृश हो सकता है, किन्तु शिव नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त शिव तथा आत्मा में यह भी अन्तर है कि यद्यपि जीव मुक्त होकर के शिवस्वभावात्मक भी हो जाते हैं तथापि शिव अनुग्रह-कर्ता-अनुग्राहक-है और ये हैं अनुग्राह्य जो उनकी कृपा से ही मुक्त होते हैं, स्वयं मुक्त नहीं हो सकते जब कि शिव 'सततोदित'[3] अर्थात् नित्यमुक्त है। शिव एक हैं, शिव मन्त्र-स्वरूप हैं, जीव नहीं।[4]

इस दर्शन के साथ 'वेदान्त' तथा 'अद्वैत' शब्द जोड़ने के कई कारण दृष्टिगत होते हैं। तेरहवीं शताब्दी में दक्षिण में भी अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये अवैदिक सम्प्रदायों में भी अपने को वैदिक प्रतिपादित करने की प्रतिस्पर्धा सी लगी हुई थी। जनता में वेदों तथा तदुपजीवी साहित्य की स्वतःप्रामाणिकता प्रतिष्ठित हो चुकी थी, अतः उनको सन्तुष्ट करने और अपने को प्रामाणिक घोषित करने के लिये सर्वप्रथम अपने को वैदिक सिद्ध करना अनिवार्य हो गया था। विशेष करके दार्शनिक जगत् में वेदों के अन्तिम भाग—उपनिषदों-की प्रस्थानग्रन्थ के रूप में सभी क्षेत्रों में पूर्णप्रतिष्ठा हो चुकी थी। लगभग यही बात 'अद्वैत' के विषय में भी कही जा सकती है। आद्यश्रीशङ्कराचार्य ने ब्रह्माद्वैत का जो डिण्डिमघोष किया उसके समक्ष समस्त कोलाहल विलीन हो गये। उनकी वेदाश्रितता, अलौकिक प्रतिभा और दिव्यशक्तियों से श्रद्धाभिभूत लोक अद्वैत के अतिरिक्त कुछ सुनने को प्रस्तुत भी न था। ऐसी दशा में जनता को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अथवा जनता में प्रवेश पाने के लिये अपने साथ अद्वैत की मुद्रा रखना आवश्यक हो

---

१. अद्वैतवासनाविष्टैः सिद्धान्तज्ञानवर्जितैः। व्याख्यातोऽत्रान्यथाऽन्यैर्यत् स ततोऽस्माकमुद्यमः॥ 'तत्त्वप्रकाश' पर वृत्ति के प्रारम्भ का द्वितीय श्लोक।

२. चिदनुग्रहस्त्वयं किल यन्मोक्षः शिवसमानतारूपः। तत्त्वप्रकाश॥ २६॥

३. तत्त्वप्रकाश॥ ७॥

४. वहीं॥ ६॥

गया। इस प्रकार अद्वैत के नाम से प्रवेश पा कर आचार्यों ने उसकी अपने ढंग से व्याख्यायें की और बुद्धिकौशल से जनमानस को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। इनको ब्रह्मवाद के साथ अथवा विरोध में शिव, विष्णु, सूर्य, शक्ति अथवा गणपति की स्थापना के लिये लोक का कोपभाजन नहीं बनना पड़ा क्योंकि भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने षण्मत की स्थापना करके सबको एक तथा वैदिक सिद्ध कर दिया था।

पदार्थ—

'सिद्धान्त' शैवदर्शन में तीन मूल पदार्थ स्वीकार किये गये है—ये हैं—पति, पशु और पाश।[1] सृष्टिक्रम में यही व्यवस्था है। प्रतिलोमक्रम अर्थात् विनाश या प्रलयक्रम में भी अन्ततः तीन ही पदार्थ शेष रह जाते हैं जिनको सामान्यतः माया, पुरुष और शिव इस क्रम में रखा जाता है।[2]

'तत्त्वत्रयनिर्णय' ग्रन्थ में सद्योज्योति तीनो पदार्थों का समान्य नाम शम्भु, पुरुष और माया देते है[3] जब कि श्रीकण्ठसूरि अपने 'रत्नत्रयम्' में प्रकारान्तर से इनकी रत्न से तुलना करते हैं और इन तीनों को विन्दु, शक्ति और शिव की संज्ञा देते हैं।[4] नाम में भिन्नता दृष्टिभेद से संभव है, किन्तु प्रधान तीन ही पदार्थ सिद्धान्तदर्शन में मान्य हैं और उनके स्वरूप में वस्तुतः भेद नहीं है। यदि कहीं मतभेद की प्रतीति हो भी तो उसे मात्र विस्तृत उपबृंहण समझना चाहिये।

पति—शिव पति हैं।[5] चित्-ज्ञान और क्रिया ही इसका स्वरूप है। यह एक है, सर्वव्यापक है अर्थात् असीमस्वतन्त्र है, अनित्य नहीं है, नित्यमुक्त है, सर्वसामार्थ्यशाली और शान्त है। यही मुख्यरूप से समस्त जगत् का एकमात्र बीज है और करुणावश सबको कर्मानुसार भोग और मोक्ष प्रदान कर अनुग्रह करता है।[6] अज होने से इसकी उत्पत्ति का और नित्य होने से इसके नाश एवं मोक्ष का प्रश्न नहीं उठता अपितु यह स्वयं जीवों को निर्वाण प्रदान करता है।[7] पति की यह अवस्था तत्त्वातीत है जिसको सभी लिङ्गों, रूपों और अवस्थाओं से परे कहा जाता है। यह छत्तीस तत्त्वों से भी पर वह अवस्था है जहाँ शक्ति का नित्य स्वरूपविलास हुआ करता है। यह वह पदार्थ है जहाँ प्रलय उपस्थित होने पर माया से शुद्धाध्व के समस्त तत्त्वों के शक्ति में विलीन होने पर उनके विलय भाव के साथ शक्ति अविभक्त रूप से समाविष्ट हो जाती है।[8] यह विशेष

---

१. वही ॥ ५ ॥

२. वही ॥ ६९ ॥

३. शम्भुः पुरुषो माया नित्यं विभु कर्तृशक्तियुक्तं च।
सुप्तेऽपि विकृतिजाते त्रितयं जागर्ति तत्त्वानाम् ॥ ३ ॥

४. विन्दुशक्तिशिवाख्यानि त्रीणि सिद्धान्तसागरात् ॥ ३ ॥

५. तत्र पतिः शिव उक्तः—तत्त्वप्रकाश ॥ ५ ॥

६. वही ॥ १ ॥

७. वही ॥ २ ॥

८. वही ॥ ६८ ॥

रूप से ध्यान रखने का विषय है कि यह अवस्था परमशिव की दशा है जो शुद्धाध्व के प्रथम तत्त्व शिवतत्त्व से भी परे है। इसी में जब सिसृक्षा जाग्रत होती है तब वह स्वयं निमित्त कारण बनकर, अपनी समवायिनी महामाया, शुद्धा माया अथवा बिन्दु को उपादान बना कर शुद्धाध्व के तत्त्वों की सृष्टि करता है और शिव आदि तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता हैं। पति के विषय में यह भी भ्रान्ति नहीं होनी चाहिये कि यह त्रिदेवों-ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र या महेश में से एक है। वस्तुतः 'सिद्धान्त' के अनुसार ये पशु की एक दशा विशेष हैं, पशु के एक रूपमात्र हैं।[1]

मुक्त होने पर पशु अथवा आत्मा भी शिवसदृश हो जाता है किन्तु दोनों में विशेष अन्तर यह है कि पति के अनुग्रह से जीव मुक्त होते हैं और पति स्वयं अनादिमुक्त होता है। शिव एक है और जीव अनेक। शिव अथवा पति पञ्चमन्त्रतनु कहा जाता है।[2] पति के पञ्चमन्त्रतनुत्व के विषय में अनेक प्रकार की व्याख्यायें की जाती हैं। कुछ आचार्यों का मत है कि वाणी के रूप में मन्त्र होते हैं। वाणी का रूप सूक्ष्म से स्थूल की ओर क्रमशः १-नाद, २-बिन्दु ३-वर्ण ४-पद तथा ५-वाक्य हैं। अतः मन्त्रस्वरूपता ही शिवत्व है। कुछ आचार्यों के अनुसार शिव छन्दःशरीर हैं और इसके अनुसार शिवशरीर में उष्णिक् छन्द लोम, गायत्री त्वक्, त्रिष्टुप् मांस, अनुष्टुप् स्नायु, अस्थि जगती पङ्क्ति मज्जा तथा प्राण बृहती है। कुछ का मत है कि प्रणव तथा चारों वेद ही पञ्चमन्त्र हैं और यही शिव के शरीर हैं। अथवा बीज, बिन्दु, नाद, शक्ति, और शान्ता कला यह पञ्चरूपात्मक प्रणव ही शिवतनु है। इसी प्रकार लिङ्ग पुराण तथा पारमेश्वरागम के अनुसार ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात तथा इनके मन्त्र ही क्रमशः शिव के शिर, मुख, हृदय, गुह्याङ्ग, और चरण स्थानीय हैं।[3]

पशुपति अथवा पति पञ्चकृत्यकारी है। वह सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव तथा अनुग्रह करता है।[4] यह समस्त कृत्य वह प्राणियों के भोग तथा मोक्ष के लिये करता है।

पशु—पाशबद्ध होने के कारण आत्मा को पशु कहा जाता है[5] और पशुओं पर निग्रह तथा अनुग्रह में समर्थ होने के कारण उसके नियन्ता को पति अथवा पशुपति कहा जाता है। पशु का दूसरा अभिधान 'अणु' भी है। जिस प्रकार एक परमाणु मूलमें समस्त शक्तियों का केन्द्र होने पर भी अतीव लघुत्तम तथा प्रभाव के पूर्ण व्यापक न होने के कारण छोटा कहा जाता है, उसी प्रकार शिवसदृश सामर्थ्य रखने पर भी कर्त्तृत्व, अस्तित्व ज्ञातृत्व आदि के अवरुद्ध हो जाने से वह 'अणु' कहा जाता है। यह अवरोध मलों-पाशों-के कारण होता है। अणु होने पर भी, समस्त शक्तियों के सीमित होने पर भी, सामान्य परमाणु तथा इनमें अन्तर का मुख्य नियामक है इसका चेतन होना, जब कि परमाणु

---

१. जे. एम. एन. पिल्लई : स्टडीज इन शैवसिद्धान्त, पृष्ठ ३७।
२. तत्त्वप्रकाशः ॥ ६ ॥
३. वहीं तात्पर्यदीपिका।
४. वही ॥ ७ ॥
५. पाशाः कथ्यन्ते, तैर्यें बद्धास्ते पशव इति। तत्त्वप्रकाशः ॥ ८ ॥ पर तात्पर्यदीपिका।

अचेतन होते हैं। इन बद्ध पशुओं को मुक्ति मिलती है पति के अनुग्रह से। सांख्य के 'पुरुष' की भांति पशु भी अनेक है।

बन्धो (मलों) के आधार पर पशुओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। विज्ञानकल, प्रलयकल तथा सकल। तीनों में से एक-मल-से युक्त आत्मा को विज्ञानकल, मल तथा कर्म इन दोनों से युक्त को प्रलयकल तथा तीनों पाशों से—मल, कर्म तथा माया से-बद्ध जीव को सकल कहा जाता है।[१] इनमें से विज्ञानकल की भी दो श्रेणियाँ हैं। जिनका 'मल' नामक पाश-कलुष-समाप्त हो चुका है, उनको समाप्तकलुष विज्ञानकल तथा जिनका मल नामक पाश समाप्त नहीं हुआ है उनको असमाप्तकलुष विज्ञानकल कहते हैं। द्वितीयप्रकार के विज्ञानकलों का कलुष न समाप्त होने से इनकी ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ भी प्रच्छन्न रहती हैं। पति अनुग्रह करके समाप्त-कलुषों को आध्यात्मिक साधना में दीक्षित करता है, उसके विषय में श्रवण-मनन-निदिध्यासन का अवसर देता है और उनको आत्मस्वरूप तथा पतिस्वरूप का परोक्ष ज्ञान देता है।[२] क्योंकि अपरोक्षता तो 'समाधि' से प्राप्त होती है। समाप्त-कलुष विज्ञानकल लगभग मुक्त की भांति होते हैं। अतः पति इनमें आठको 'विद्येश्वर पद' पर नियुक्त करता है। शेष को 'मन्त्र' पद पर नियुक्त करता है। ये मन्त्र भी देवता रूप होते हैं। इनकी संख्या सात कोटि है।[३]

प्रलयाकल भी सामान्यतः दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। प्रथम तो वे जिनके मल और कर्म दोनों पाश ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गये हैं, तथा दूसरे वे जिनके दोनों दग्ध नहीं हुये हैं। इनमें प्रथम कोटि के प्रलयाकलों को भगवान् शिव भुवनों का अधीश्वर बनाते हैं। इन प्रलयाकलो में भी कुछ पक्वकर्मवालों को गणों का स्वामी-गणेश, तथा कुछ पक्वकर्म वालों को-मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि बनाते हैं।[४] मन्त्रेश्वरों की संख्या ११८ है। इन एक सौ अठारह मन्त्रेश्वरों में आठ मण्डली, आठ क्रोधादि, एक वीरेश, एक श्रीकण्ठ तथा सौ रुद्र (८+८+१+१+१०० = ११८) हैं। इन सबका नियोजन महेश्वर स्वयं करते हैं, स्वभिन्न किसी अन्य निमित्त की सहायता उनको अपेक्षित नहीं है।[५]

इनसे अवशिष्ट पक्वमलकर्म वाले जीवों को भी 'सकल' की श्रेणी में रखा जाता है। उनको सूक्ष्म-शरीर के साथ संयोजित करके देवता, मनुष्य, तिर्यक् आदि का जीवन दिया जाता है। इनके अतिरिक्त भी जो पाशत्रय से बद्ध हैं उन सबको कर्मानुसार सुखदुःख-भोग के लिये विभिन्न शरीर देकर छोड़ दिया जाता है।[६]

उक्त विवरण पर ध्यान देने से कई तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम यह स्पष्ट होता है कि देवयोनियाँ जिनको हम महत्व देते हैं, अनेक कोटियों में विभक्त हैं।

---

१. तत्वप्रकाशः ॥ ८–९ ॥
२. Dr. J. N. Sinha, Schools of Saivism. p. 117.
३. तत्वप्रकाशः ॥ १० ॥
४. तात्पर्यदीपिका ॥ ११–१२ ॥
५. वही।
६. तत्वप्रकाशः ॥ १६ ॥

उत्तरोत्तर बन्धों से छुटकारा—मलपरिपाक—उनकी उत्तरोत्तर उत्कृष्टता का कारण हैं। परमेश्वर उनको उत्तरोत्तर प्रेरित करते रहते हैं, कर्मानुसार फल देते रहते हैं। शिव सर्व-समर्थ तो हैं किन्तु वे अनुग्रह करके पशु को केवल परोक्षज्ञान देते हैं, वह कृपा करके जीव को सत्पथ पर प्रेरित कर देते हैं और साधना के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता तथा पर्याप्त अवसर प्रदान करते हैं। जो पशु साधना द्वारा जितने अधिक मलों को क्षीण करता जाता है उसको वह 'मन्त्र' आदि से लेकर विद्येश्वर तक बना देते हैं।

सकल ही प्रकृति तथा गुणत्रय से मुख्यतः सम्बद्ध होता है। प्रलयाकल का मुख्य रूप पुरुषतत्त्व का है जो माया के 'पञ्चकञ्चुकों' से आवेष्टित होता है और विज्ञानकल अशुद्ध माया के अशुद्धाध्व, और तदन्तर्वर्ती पञ्चकञ्चुक तथा गुणादि से परे होता है। यह बात पृथक् है कि सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम क्रमशः व्यापक, व्यापकतर और व्यापकतम होता है, अतः विज्ञानकल का प्रभुत्व अधिकतम हो सकता है। सिद्धान्त-दर्शन में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये त्रिदेव सकलों के ही क्षेत्र में आते हैं और सगुण हैं, तथा मन्त्र, महेश्वर, सदाशिव आदि निर्गुण होते हैं।[१]

पाश—सामान्यतः पाश तीन कहे गये हैं, मल, कर्म तथा माया। किन्तु भोज स्पष्टतः चार पाश स्वीकार करते हैं—

पाशाश्चतुर्विधाः स्युः पुंसो मलकर्मसंज्ञकौ प्रथमौ।
मायीयतिरोधायकशिवशक्तिसमुद्भवौ चान्यौ ॥ त. प्र. १७ ॥

इस चतुर्विधता को वह पुनः जोर देकर कहते हैं—"पाशाश्च चतुर्विधास्त्वेवम्"। (त० प्र० २०)॥ उनका कहना हैं कि शेष मल स्वयं में जड़ है अंतः पुरुष का तिरोधान करने में स्वतः असमर्थ हैं। यह शिव की स्वरूपभूता तिरोधायिका शक्ति है, जो पाश है और इन तीनो को प्रेरित करती है। अतः मूल रूप में हमें इसको चतुर्थ पाश के रूप में स्वीकार करना ही चाहिये। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि पाशत्रय की प्रेरिका होने से तिरोधानशक्ति को प्रथम स्थान पर मानना चाहिये चतुर्थ पर नहीं। इसका कोई उत्तर न भोज देते हैं न टीकाकार किन्तु अनुमान है कि लोक में तीन पाश प्रथित हैं, शैव-सिद्धान्त के आचार्य तथा अध्येता सामान्यतः इन्हीं से परिचित हैं, अतः उसमें जोड़ने के लिये लायी गयी वस्तु को चतुर्थ स्थान पर रखना चाहिये। स्थान के क्रम से इसका महत्त्व नहीं घटता। दूसरी बात यह है कि यह शिवशक्तिरूपा तिरोधान-शक्ति इन तीनो की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है, अतः उस पर दृष्टि इनके बाद हो पड़ सकती है।

कुछ आचार्य मायोद्भूत जगत् को भी पाश कहते हैं।[२] किन्तु यह मात्र मायीय मल का उपबृंहण है। वस्तुतः भूत स्वयं पाश नहीं हैं अपितु उनसे बद्धता का भाव उत्पन्न करने

---

१. J. M. N. Pillai : Studies in Saiva–Siddhanta p. 37.
२. They are mala, karma, māyā, the world produced by māyā, and God's power of veiling the soul's knowledge and action." Schools of Saivism, p. 117.

वाले कारण है। कहीं 'अर्थपञ्चक'—विन्दु, मल, कर्म, माया और रोधशक्ति को पाश कहा गया है, किन्तु बिन्दु को या तो माया का एक रूप मान लेना चाहिये अथवा उसको शुद्धाध्व में होने के कारण पाश के क्षेत्र से पृथक् कर दिया जाना चाहिये। दोनों दशाओं में उसको पाशरूप मानना उचित नहीं। ये कल्मष, कषाय या पाश पुरुष की कर्तृत्व, आदि शक्तियों को सीमित कर देते हैं।

तत्त्व—काश्मीरीय शैवदर्शन की भांति 'सिद्धान्त' में भी छत्तीस तत्त्व स्वीकार किये गये हैं। पच्चीस तत्त्वों का नाम—पुरुष और प्रकृति से लेकर पृथ्वी-तत्त्व-पर्यन्त–सांख्य दर्शन के अनुसार है, यद्यपि स्वरूप में न्यूनाधिक अन्तर है। माया-तत्त्व अलग से स्वीकृत है। इसके अतिरिक्त काल, कला, विद्या, राग और नियति ये पञ्चकञ्चुक तथा शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और विद्या (सद्विद्या या शुद्धा विद्या) ये पाँच शुद्धाध्व के तत्त्व हैं। इस प्रकार सब मिलाकर छत्तीस तत्त्व हो जाते हैं।

भोजकृत 'तत्वप्रकाश' में इनका सुन्दर निरूपण है। 'तत्वत्रय' और 'रत्नत्रय' में इनका दूसरे ढंग से निरूपण है। 'सद्योज्योति' आचार्य के 'तत्वसंग्रह' में इन सभी छत्तीस तत्वों का भोज के सदृश ही निरूपण है। इन दोनो ग्रन्थों में इतना साम्य है कि पञ्चकञ्चुकों की उत्पत्ति के क्रम में अन्य आचार्यों में मतभेद भी है, किन्तु भोज तथा इनमें एकरूपता है।

तमिल भाषा में कुछ छोटे छोटे ग्रन्थ हैं जिनको 'कट्टलाई' कहते हैं। इनमें तत्त्वों की संख्या १९, २५, ३६ या ९६ मानी गई है।[१] इन तत्त्वों के स्पष्ट ज्ञान के लिये रेखा-चित्र द्रष्टव्य हैं। पिष्टपेषण को बचाने के लिये यहाँ सभी तत्त्वों का निरूपण नहीं किया जा रहा है, मूल देखना चाहिये।

इन सभी तत्त्वों को चिद्, अचिद् तथा चिदचिद् (अथवा शुद्ध, अशुद्ध और शुद्धाशुद्ध) इन तीन भागों में विभाजित किया गया है। शुद्धाध्व के पाँच तत्त्व शिव-स्वरूप होने से तथा अशुद्धमाया की पहुँच से परे होने के कारण चित् अथवा शुद्ध कहे जाते हैं। माया, पुरुष और पञ्चकञ्चुक ये सात 'शुद्धाशुद्ध' कहे गये हैं और प्रकृति से लेकर पृथ्वीपर्यन्त सभी तत्त्व 'अशुद्ध' कहे गये हैं।[२]

उत्पत्ति के क्रम के विषय में 'सिद्धान्त' का मत है कि शुद्धाध्व में निमित्त कारण स्वयं भगवान् शिव हैं, उन्हें दूसरे निमित्त की आवश्यकता नहीं होती और अपनी इच्छा-शक्ति

---

१. In Tamil, small tracts called kattalai exist, which describe and define these tattvas. These tattvas are variously enumerated as 19 or 25 or 36 or 96. Both Siddhantins and Vedantins (Idealist) accept the number 36 or 96, but they differ in several particulars" Pillai : Studies in Saiva-Siddhanta, p. 35.

२. तत्वप्रकाशः ६३–६४।

रूपी करण से बिन्दु, महामाया अथवा शुद्धामाया को उपादान कारण बना कर सृष्टि का निर्माण करते हैं। वहीं अशुद्धाध्व में 'अनन्त' नाम देवता निमित्त कारण होते हैं और माया अथवा अशुद्धमाया उपादान कारण होती है। ईश्वर पुरुषों का निर्माण स्वेच्छा से तो करते ही हैं, उनका कर्म भी सहयोगी होता है जिसके अनुसार ही वह जीव की रचना करते हैं। शुद्धाध्व के तत्त्व कालतत्त्व से परे होने के कारण क्रम-रहित हैं। इनका यह नाम तथा भेद मात्र व्यापारवश किया गया है।[1] इस प्रकार शुद्धाध्व के पञ्चतत्त्वों को एक ही व्यक्ति के विभिन्न व्यक्तित्वों के सदृश समझा जा सकता है। यथा एक पिण्ड उत्पन्न होता है, उसकी सत्ता होती है, किन्तु बिना किसी परिवर्तन के भी, अपेक्षा मात्र से वह किसी का पुत्र, किसी का भाई, किसी का मित्र आदि होता है, उसी प्रकार एक ही चिद्घन, क्रम हीन शिव शक्ति, सदाशिव आदिरूपों में विभिन्न अपेक्षाओं से अन्तरयुक्त प्रतीत होते हैं।

प्रकृति से पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों की उत्पत्ति में सांख्य से साम्य होने पर भी एक विशेष भेद यह है कि जहाँ प्रकृति सांख्य में त्रिगुणात्मिका मानी जाती है वहीं उससे सीधे महत्तत्त्व की अभिव्यक्ति स्वीकृत है, किन्तु 'सिद्धान्त' में प्रकृति से 'गुणतत्त्व' की अभिव्यक्ति मानी गई है यद्यपि इसको प्रकृति से भिन्न संख्या वाले तत्त्व के रूप में स्वीकृत नहीं किया गया है।[2] इनके अनुसार प्रकृति अपना ज्ञान गुणतत्त्व के रूप में ही अभिव्यक्त होकर कराती है। अतः गुणतत्त्व वस्तुतः प्रकृति की प्रतीति का प्रथम माध्यम है। इसके अतिरिक्त सांख्य की प्रकृति स्वतन्त्र है और अन्तिम मूल है जब कि यहाँ वह माया से उत्पन्न होती है।

'सिद्धान्त' तथा 'सांख्य' के 'पुरुष' में मात्र नाम तथा संख्या का साम्य है। सांख्य का 'पुरुष' कर्त्ता नहीं है किन्तु द्रष्टा है, 'सिद्धान्त' का पुरुष कर्त्ता, भोक्ता सब कुछ हैं, सीमित रूप में। पुरुष पशु का ही एक रूप है जो तत्त्वों में अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। पशु का नाम पुरुष तब पड़ता है जब वह काल, कला, नियति आदि पाँचों तत्त्वों से आबद्ध हो जाता है।[3] यह वस्तुतः सामान्य जीव का स्वरूप है।

मुक्ति—शिव जीव के बन्ध और मोक्ष के कारण हैं। उनकी दो शक्तियाँ हैं—बन्धकारिणी तथा मोचिका। प्रथम अनादिकाल से जीव को बद्ध किये है। जब समय पाकर पाशों का परिपाक होता है, कर्मसाम्य होता है, अर्थात् धर्माधर्म समाप्त हो जाते हैं तब शिव के 'अनुग्रह' से जीव पर 'शक्तिनिपात' होता है। ऐसी अवस्था में शिव ही गुरु की मूर्ति में अवस्थित होकर समस्त पाशों का विनाश दीक्षा द्वारा करके शिव-साम्य प्रदान करता है।

यह मलपरिपाक दो प्रकार से होता है—भोग द्वारा और मोक्ष द्वारा। शिव परमकृपा

---

१. वही ॥ ३२ ॥
२. तत्त्वप्रकाशः ॥ ३४ ॥
३. वही ॥ ४९ ॥

करके जीवों को कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कराते रहते हैं। जीव स्वयं कोई प्रयास नहीं करता, अपितु मात्र भोक्ता के रूप में भोग करता रहता है। अन्त में प्रलयकाल उपस्थित होता है और परमकारुणिक शिव उसको भी मुक्ति दे देते हैं।

दूसरी प्रक्रिया है साधना की। जीव प्रयत्नशील होता है मुक्ति पाने के लिये और चतुष्पाद साधना स्वीकार करता है। चर्या, क्रिया, और योग की साधना के पश्चात् मलपरिपाक और शक्तिनिपात के बाद शिव ज्ञानगुरु के रूप में उसे प्राप्त होते हैं। दीक्षा-मिलती है, पञ्चाक्षर-साधना के बाद निदिध्यासन अथवा समाधि की पूर्णता पर अपरोक्ष आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है।

शाङ्कर-अद्वैत की भाँति 'सिद्धान्त' में भी जीवन्मुक्ति को स्वीकार किया गया है। यहाँ भी प्रारब्धवश शरीर धारण होता रहता है और अन्त में शरीर-पात के पश्चात् विदेहमुक्ति की स्थिति आ जाती है।

'सिद्धान्त' की मुक्ति द्वैतवादी है। अर्थात् मुक्तावस्था में भी शिव और पुरुष दोनों की पृथकता बनी रहती है। पुरुष शिव के जैसा हो जाता है किन्तु शिव नहीं हो जाता। इसीलिए 'शिवज्ञान-सिद्धि' में कहा गया है कि भगवान् शिव के चरणों में पहुँचना ही मुक्ति है।[१] इस दशा में जीव की ऐसी विभोरावस्था होती है जिसमें वह भगवान् शिव का अनुभव करता है, साक्षात्कार करता है और दिव्य सुख का आस्वादन करता है, किन्तु उसे इसका ज्ञान नहीं रहता कि वह क्या कर रहा है।[२] इस प्रकार मुक्तिदशा में जहाँ अद्वैतवेदान्ती आत्मा को ब्रह्म बना देते हैं, वहीं 'सिद्धान्ती' जीव को 'शिवभोग' कराता है—शिवत्व का आस्वादन कराता है।[3]

---

१. Special Lectures on Saiva-Siddhanta. p. 185.

२. वही पृ. १८६.

३. If the Sankara's Adwait says the soul becomes God, the siddhantic Adwait says the soul enjoys God, without a consciousness that it enjoys. In other words, Sankara speaks of the soul becoming sugar whereas the Siddhiar speaks of the soul tasting the sugar." ibid p. 186.

भोज, तत्त्वप्रकाश तथा टीकाकार

यह नाम भारतीय इतिहास में अतीव विख्यात है। वैदिक काल में विशेषकर ऐतरेय ब्राह्मण में 'भोज' शब्द 'राजा' का वाचक रहा।[1] श्री सत्यव्रत सामश्रमी[2] तथा श्री आनन्दोराव बरुआ[3] के अनुसार यह शब्द मात्र 'राजा' का नहीं अपितु एक 'राजवंश' का वाचक रहा। महाभारत में 'भोज' शब्द उसी राजा की उपाधि माना गया था जिसने एक निश्चित संख्या में यज्ञ सम्पन्न किये हों। इससे उपर्युक्त कथनों की संगति बैठ जाती है, अर्थात् जो शब्द सर्वप्रथम मात्र राजवाचक था, वह एक विशिष्ट राजा के लिये सीमित हो गया और पुनः वह उसके वंश का विरुद हो गया। शब्दों के अर्थसंकोच और अर्थ-विस्तार की स्वाभाविक प्रवृत्तियों पर विचार करने से उक्त अर्थ अस्वाभाविक नहीं लगते।

सम्प्रति प्रतिपाद्य भोज-शब्द विख्यात धारानगरी वाले मालवदेश के शासक के लिये रूढ़ है। यह एक व्यक्तिविशेष का नाम है। उनका वंश 'परमार' था।[4] वह अग्निवंशीय क्षत्रिय थे। उस वंश का उद्भव अर्बुदाचल पर्वत पर वसिष्ठ के अग्निकुण्ड से हुआ था। 'परिमल' के उल्लेख के अतिरिक्त भोज की उस उक्ति से भी यह ऐतिह्य प्रकट होता है जो 'नायकगुण' के प्रसङ्ग में 'सरस्वतीकण्ठाभरणम्' नामक काव्यशास्त्र के ग्रन्थ में उन्होंने स्वयं उद्धृत किया है—

> वासिष्ठैः सुकृतोद्भवोऽध्वरशतैरस्त्यग्निकुण्डोद्भवो
> भूपालः परमार इत्यधिपतिः सप्ताब्धिकाञ्चेर्भुवः
> अद्याप्यद्भुतहर्षगद्गदगिरो गायन्ति यस्योद्भटं
> विश्वामित्रजयोर्जितस्य भुजयोर्विस्फूर्जितं गुर्जराः ॥[5]

किन्तु म० म० टी० गणपति शास्त्री ने परमारवंशीय भोज नाम के तीन राजाओं[6]

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भूमिका पृ. ३ (निर्णयसागर, १९३४ ई.)

२. वही।

३. Saraswatikanṭhābharaṇa, Introduction p. viii, Gauhati, 1969.

४. 'परमार' नाम के लिये द्रष्टव्य पद्मगुप्तपरिमल का 'नवसाहसाङ्कचरितम् ११। ४९–७४।

५. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—पञ्चमपरिच्छेद।

६. "There were three kings of the name of Bhoja in the Parmar Dynasty; one of them lived about 575 A. D., the other 665 A. D., and the third about 1044 A. D., but it is not certain which of them is the present author. The work is cited as authority in the Śaivadarśana of Sarvadarśana saṃgraha" तत्त्वप्रकाशः Preface, Trivandrum 1920.

का उल्लेख किया है, कौन भोज 'तत्त्वप्रकाश' का रचयिता था, इसके विषय मे शंका भी व्यक्त की है, किन्तु वहीं कुछ पहले वह 'तत्त्वप्रकाश' का रचयिता उसी भोज को मानते हैं जो 'सरस्वतीकण्ठाभरण' आदि ग्रन्थों का था।[१] वस्तुतः केवल एक धाराधीश के नाम से अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। वही किम्वदन्तियों और जनश्रुतियों में भी विख्यात हैं। उनके ही द्वारा अथवा संरक्षण और निर्देशन में लिखे गये ये ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। भारमल्ल के पुत्र और कच्छ के राजा एक और भोजदेव का नाम सुना जाता है जिन्होंने 'धर्मप्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।[२] यह हमारे भोज से सर्वथा भिन्न हैं। श्री गणपति शास्त्री द्वारा उल्लिखित प्रथम दो भोजों की रचनायें, यदि रही भी हों, दृष्टि में नहीं आ सकीं, सुनी भी नहीं गयीं। विद्वानो का पक्ष अन्तिम भोज को ही विख्यात भोज मानने की ओर है। आश्चर्य का विषय है कि श्री सी० एम० डफ (C. M. Duff) महोदय ने अत्यन्त प्रामाणिक तथा ताम्रलेखों एवं शिलालेखों तक पर आधारित ग्रन्थ "दि क्रोनोलोजी आफ इण्डियन हिस्ट्री" (The chronology of Indian History", Cosmos Publications, Delhi, 1972) में पृष्ठ ३०० पर मालवा के जिन उन्नीस परमारवंशीय राजाओं का उल्लेख किया है, उनमें केवल एक 'भोज' का नाम है, अन्यों का नहीं। अतः इतिहास के तथ्यों के आधार पर ८२५ ई. से १२११ ई. तक केवल एक भोज परमारवंश में हुये जो सिन्धुराज के पुत्र थे। यही हमारे अभीष्ट हैं। श्री टी. गणपति शास्त्री के अन्य भोजों का नाम नहीं मिलता है। संभव है वे कभी ८२५ ई. से पूर्व रहे हों, किन्तु विख्यात नहीं थे, इसी से उनका नाम सारिणी में न हो।

कन्नौज के 'महोदय' राजाओं में रामभद्र के पुत्र भोज प्रथम (८६२ ई.), महेन्द्रपाल के पुत्र भोज द्वितीय (९१७ ई. के बाद), मेवाड़ के राजाओं में गुहिल के पुत्र भोज (७३५ ई. के बाद), काश्मीर के राजा सल्हण के पुत्र भोज (११४४ ई.),[३] आदि का भी नाम मिलता है। किन्तु इन सबका विश्वविख्यात पराक्रम, ग्रन्थकर्तृत्व, अत्यधिक विद्याव्यसन तथा दार्शनिकता चर्चा का भी विषय नही रहा। अतः यहाँ के प्रतिपाद्य भोज वही हैं जो परमारवंशीय विख्यात राजा थे, अन्य नहीं।

हमारे विवेच्य भोजदेव, भोज अथवा भोजराज या मात्र 'राजन्'[४] भूतकाल से ही विख्यात हैं। इनके पिता सिन्धुल अथवा सिन्धुराज थे जो 'नवसाहसाङ्कचरित' काव्य

---

१. वही।
२. Catalogus Catalogorum—देखें 'भोजदेव'।
३. C. M. Duff : The Chronology of Indian History : pp. 149, 296, 310 etc.
४. "Our Bhoja is frequently cited in later Alaṃkāra literature as Bhojarāja, and sometimies simply as *rājan* which designation like that of *muni* applied to Bharata seems to mark him out parexcellence in this literature." S. K. De : Sanskrit Poetics, pp. 135, Calcutta, 1960

के नायक हैं। इनके चाचा थे महाराजाधिराज वाक्पति द्वितीय जिनका दूसरा नाम 'मुञ्ज' भी था। मुञ्ज ने चेदिवंशीय राजाओं को पराजित किया था। इन्हीं के अनुज और अपने पिता सिन्धुल के पश्चात् महाराजाधिराज भोज सिंहासनारूढ़ हुये। यही विविध विद्याओं-काव्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र, वास्तुशास्त्र, युद्धकौशल, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि—में परम निष्णात, समराङ्गणसूत्रधार, कलापारदृश्वा, कुशल प्रशासक तथा कवि, दानवीर, विद्वानों और कवियों के आश्रय दाता थे, जिनके लिये "प्रत्यक्षरं लक्षं (लक्ष्यं वा) ददौ" सदृश शब्दों का प्रयोग कर तथा श्रेष्ठ पूर्वापरवर्ती कवियों को आश्रय में समाहित कर बल्लालसेन कृतकृत्य हुये।

समय—भोजदेव का प्रामाणिक उल्लेख इतिहास ग्रन्थों में मिलता है, अतः इनका समय विशेष विवाद का विषय नहीं रहा। राज्यारोहण आदि की तिथियों के आधार पर इनकी जन्मतिथि आदि में स्वल्प पौर्वापर्य परिलक्षित होता है। इनके अनेक दानपत्र आज तक उपलब्ध हो चुके हैं। कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी[1] में तथा दानवीरता के प्रसङ्ग में "भोजनृपतेस्तत्त्यागलीलायितम्" कहकर 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने उल्लेख किया है। इनका समय लगभग निश्चित है। वाजसनेयी संहिता के टीकाकार उव्वट, तिलकमञ्जरी के कर्त्ता धनपाल तथा दशरूपक आदि के रचयिता धनिक आदि भोज के प्रायः समकालीन थे।[2] नागौर से प्राप्त वि० सं० ११६१ के शिलालेख में इनके पूर्वपुरुषों से लेकर इन तक का उल्लेख है।[3] उदयपुर-प्रशस्ति में भोज की प्रशंसा है।[4] ये तथ्य ऐतिहासिक हैं और इनका समय निश्चित करने में सहायक हैं। इनके स्वयं के अभिलेखो से समय निश्चित हो जाता है। यह चालुक्य राजा जयसिंह तृतीय से भी १०११ से १०१९ ई. के बीच लड़े थे। उसके उत्तराधिकारी सोमेश्वर (१०४२—१०६६ ई.) से भी इनका युद्ध हुआ था।[5] इनके समय के विषय में प्रो० एस० के० डे महोदय का मत अधिक पुष्ट प्रतीत होता है जो १०१० से १०५५ ई. के बीच का है।[6] डा० वे० राघवन् भोज के

१. रा० त० ७।२५९।
२. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—भूमिका पृ० ६ (नि० सा० प्रेस)।
३. एपिग्रेफिका इण्डिका भाग २ (पृ. १८३–१८५)।
४. साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद् यन्न केनचित्।
   किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥
५. विक्रमाङ्कदेवचरितम् १८।९६॥
६. 'All this, however, will justify us in fixing Bhoja's date with great probability between 1010 and 1055 A. D. i-e. roughly covering a part of the first and whole of the second quarter of the 11th century, and he may have lived into the third quarter of the same century, The exact dates of his succession and death are unknown, but it seems that he died after long illness, in the midst of wars with Bhima,

राज्याभिषेक का समय लगभग १०१० ई. तथा मृत्यु का १०६२ के बाद मानते हैं।[१] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ऐतिहासिक व्यक्तित्व होने के कारण भोज के समय के विषय में हमें टटोलना तो नहीं पड़ रहा है, अज्ञानगर्त में गोता नहीं लगाना पड़ रहा है, तथापि विशिष्ट प्रमाण न मिलने के कारण इनके जन्म, राज्यारोहण, मरण आदि की निश्चित तिथियाँ नहीं दी जा सकतीं। संभव है उत्खनन आदि से कुछ विशिष्ट सामग्री उपलब्ध होने पर भविष्य में ये अज्ञातपक्ष प्रकाशित हो सकें।

भोज ने अनेक विद्वानो से भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन किया था। द्वैतशैवदर्शन के इनके गुरु थे श्री उत्तुङ्गशिव जो लाट देश (अथवा दक्षिणी गुजरात) की कल्याणनगरी में निवास करते थे। इन्होंने एक 'पद्धति' ग्रन्थ की रचना की थी।[२]

ग्रन्थ—भोज बहुमुखी प्रतिभा के महापुरुष थे। उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया। यही नहीं, इनके ग्रन्थों से परवर्ती ग्रन्थकारो ने सम्बद्ध विषयों में इनको उद्धृत भी किया है। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'भावप्रकाश' तथा माधव के 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान) में, ज्योतिष में केशवार्क (Keśvārka) द्वारा, वैयाकरण तथा कोशकार के रूप में क्षीर-स्वामी, सायण तथा महीप द्वारा, चित्तप, देवेश्वर, विनायक शङ्कर, सरस्वती-कुटुम्बदुहितृ आदि कवियों द्वारा इनको उद्धृत किया गया है तथा इनकी यशोगाथायें गाई गयी हैं।[३] शैवदर्शन में भी 'सर्वदर्शनसंग्रह' में माधव द्वारा और ईशानदेव मिश्र द्वारा 'ईशानगुरुदेवपद्धति' में बहुशः भोज के वाक्य उद्धृत हैं। इनकी बहुमुखी साहित्य सेवा के विषय में श्रीचन्द्रप्रभसूरि के ग्रन्थ 'प्रभावकचरितम्' (नि. सा. प्रे. प्रथम संस्करण पृ. ३००, श्लोक ४७५–७८) के श्लोक दर्शनीय हैं।—

> भोजव्याकरणं ह्येतत् शब्दशास्त्रं प्रवर्तते ॥
> असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।
> शब्दालङ्कार-दैवज्ञ-तर्कशास्त्राणि निर्ममे ॥
> चिकित्सा राजसिद्धान्त-तरुवास्तूदयानि च।
> अङ्कशाकुनकाध्यात्म-स्वप्नसामुद्रिकाण्यपि ॥

King of Gujarāta & with Kalrcuri Karṇa, King of Tripuri." Sanskrit Poetics, page 136.

१. "Bhoja might have assumed reigns of Government about 1010 A. D. or somewhat later...He died sometime after 1062 A. D." Sṛṅgāra Prakāśa, page 5, footnote No. 1.

२. परं तु श्रीमदघोरशिवाचार्यकृतपद्धत्याम् उत्सवविधौ गोत्रविधिनिर्णयपटले—
ततोऽभूल्लाट उत्तुङ्गशिवो विन्ध्ये व्रतीश्वरः। कल्याणनगरीवासी गुरुः पद्धतिकृत् सुधीः ॥
सर्वविद्याधिपो यस्य कनीयानार्यदेशजः। सर्वागमार्थनिर्णेतुः श्रीभोजनृपतेर्गुरुः ॥
भास्करी भाग ३ पृ० २२६ से उद्धृत।

३. Aufrecht : Cat. Catalogo. Vol. I pp. 418–9.

ग्रन्थान्निमित्तव्याख्यानप्रश्नचूडामणीनिह ।
विवृत्ति चाथ सद्भावेऽर्थशास्त्रं मेघमालया (?) ॥[१]

भोजरचित ग्रन्थों की संख्या अस्सी से अधिक कही जाती है। सरस्वतीकण्ठाभरण के एक टीकाकार आजड (Ajada) के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या चौरासी है। इनका कहना है कि भोज ने अपने विरुदों के नाम पर ग्रन्थों के नाम रखे। उदाहरणार्थ वह स्वयं शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि उपाधि धारण करते थे, और उन्हीं के अनुसार ग्रन्थों का नामकरण किया।[२] यद्यपि सभी ग्रन्थों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता तथापि अधिकांश के साथ यह बात संभव हो सकती है। आफ्रेक्ट महोदय ने अपने 'कैटेलागस कैटेलागोरम' में भोज के नाम से भिन्न २ विषयों के निम्न-लिखित ग्रन्थों की सूची दी हैं—

(१) आदित्यप्रतापसिद्धान्त (ज्योतिष) (२) आयुर्वेदसर्वस्व (चिकित्सा) (३) चम्पूरामायण (काव्य) (४) चाणक्यनीति ? (५) चारुचर्या (धर्म) (६) तत्त्वप्रकाश (शैवदर्शन) (७) नाममालिका (कोष) (८) युक्तिकल्पतरु (९) राजमार्तण्ड (योग-सूत्रवृत्ति) (१०) राजमार्तण्ड (वेदान्त ?) (११) राजमार्तण्ड (ज्योतिष) (१२) राजमृगाङ्क (ज्योतिष) (१३) राजमृगाङ्क (आयुर्वेद) (१४) विद्याविनोद (काव्य) (१५) विद्वज्जनवल्लभ-प्रश्नज्ञान (ज्यो०) (१६) विश्रान्तविद्याविनोद (आयुर्वेद) (१७) व्यवहारसमुच्चय (धर्मशास्त्र) (१८) शब्दानुशासन (व्याकरण) (१९) शालिहोत्र (अश्वचिकित्सा) (२०) शिवतत्त्वरत्नकलिका (२१) समराङ्गणसूत्रधार (वास्तुविद्या) (२२) सरस्वतीकण्ठाभरण (काव्यशास्त्र) (२३) सरस्वतीकण्ठाभरण (व्याकरण) (२४) सिद्धान्तसंग्रह (शैवदर्शन) (२५) सुभाषित-प्रबन्ध ।

इनमें से संख्या ४, ५, १० संदिग्ध हैं। 'शिवतत्त्वरत्नकलिका' किसी 'कृष्णानन्द सरस्वती' की रचना समझी जाती है। इस पर उनकी 'आमोदरञ्जन' नाम की स्वोपज्ञ टीका भी है।[3] 'सिद्धान्तसंग्रह' पर सोमेश्वर की टीका होने का उल्लेख मिलता है।[४]

(२६) 'हनुमन्नाटक' के भी उद्धार का श्रेय भोजदेव को ही दिया जाता है। धारा-नगरी में भोज की स्थापित सरस्वतीकण्ठाभरण नामक पाठशाला के पाषाण-पट्टों पर खोज के बाद पता चला कि (२७) कूर्मशतकम् तथा (२८) 'अवनिशतकम्' ये दो प्राकृतभाषा की रचनायें भोज की थीं। इसी प्रकार (२९) पारिजातमञ्जरी और (३०) 'भर्तृहरिकारिका' के भी भोजरचित होने की सम्भावना की जाती हैं।[५]

---

१. डा० राघवन् द्वारा Bhoja's Sṛṅgāra Prakāśa पृ० ५ पर उद्धृत

२. 'इह हि शिष्टशिरोमणि–निखिलनिरवद्यनिर्माणापूर्वप्रजापति–प्रचण्ड–भुजदण्ड–पराक्रमार्जितचतुरशीतिविरुदप्रकाशितस्वकृतग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे" आदि। वहीं डा० राघवन् द्वारा उद्धृत।

३. New Cat. Catalogorum Vol II p. 147, Madras.

४. Aufrecht. Cat. Cat.

५. सरस्वतीकण्ठाभरणम्—प्रस्तावना, पृ० १३ (निर्णयसागर प्रेस)।

सी० एम० डफ महोदय ने (३१) 'राजमृगाङ्ककरण' तथा (३२) 'शृङ्गारमञ्जरी-कथा' को भी भोजकृत कहा है। इनमें दूसरे के कथाग्रन्थ होने में सन्देह नहीं है, किन्तु प्रथम का विषय स्पष्ट नहीं होता।

भोज और ग्रन्थकर्तृत्व—इस विषय पर विद्वानों मे मतभेद है कि एक ही भोज नामक राजा ने इतने ग्रन्थों की रचना की। आफ्रेक्ट महोदय को, पता नहीं, कौन सी अपौरुषेय शक्ति, विलक्षण प्रतिभा, सत्यासत्यविवेचिनी प्रज्ञा आदि उत्पन्न हो गई थी जिससे उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि उनकी सूची में गिनाये गये ग्रन्थों में से 'कोई भी' भोज की रचना नहीं है, उसे या तो उनके आश्रितों ने रचा अथवा परवर्तियों ने।[1] प्रो० चन्द्रप्रसाद सैकिया ने श्री बरुआ के अनुसार 'भोज' शब्द को वंशवाचक मानकर यह मत व्यक्त किया है कि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' की रचना अन्यग्रन्थों की भांति, एक ही भोज नामक राजा ने नहीं की अपितु अनेकों में किसी ने भी किया होगा।[2] श्री यदुगिरि स्वामी द्वारा प्रकाशित 'शृङ्गारप्रकाश' की (२२-२५ प्रकाशों के सम्पादन) भूमिका में श्री ए० रङ्गास्वामी सरस्वती बड़े आग्रह के साथ एक राजा के निर्देशन में सभापण्डितों द्वारा इन ग्रन्थों का सम्पादन स्वीकार करते हैं।[3]

वस्तुतः विद्वानो को—विशेषतः विदेशीय विद्वानों को—एक ही व्यक्ति के द्वारा, जो शासनतन्त्र के विविध कार्यों में अत्यन्त व्यस्त हो, भिन्नभिन्न विषयों पर बृहदाकार एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों का रचा जाना अस्वाभाविक लगता है। इसके अतिरिक्त आश्रितों का स्वरचित ग्रन्थों को आश्रयदाता के नाम से प्रकाशित करने तथा परवर्ती छोटे-छोटे ग्रन्थ-प्रणेताओं का अपने नाम को छिपाकर किसी बड़े साहित्यकार के नाम से सम्बद्ध करने की प्रवृत्ति ने भी बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न कर दी है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में इस प्रकार की अनियमित, असङ्गत एवं आश्चर्यजनक दुर्घटनाओं का अभाव नहीं हैं, किन्तु इसका अभिप्राय कदापि यह नहीं लिया जा सकता कि किसी महान् बहुमुखी प्रतिभाशाली भारतीय मस्तिष्क ने स्वयं किसी ग्रन्थ की रचना की ही नहीं। जहाँ तक श्री सैकिया तथा बरुआ का मत है वह भी निराधार सिद्ध होता है, क्योंकि भोजनामधारी अनेक राजाओं का उल्लेख इतिहास में संभव है, किन्तु सबके एकवंशीय होने का कोई

---

१. "It is almost superfluous to add that not one of the following works were actually written by himself, but belong to authors who either lived during his reign, or sometime after." Cat. Catal. Vol. I pages. 418-19.

२. "The popular belief that the book was written by king Bhoja Deva is not based on unassailable evidence, it seems more reasonable to assume that the book might be the work of any of the several rulers belonging to the Bhoja dynasty." Saraswati Kaṇṭhābharaṇa, Introduction p. viii.

३. Foreward p. vii.

प्रमाण नहीं। यदि कुछ एकवंशीय भी रहे हों, तो परम्परा ने केवल एक ही से इन ग्रन्थों का सम्बन्ध क्यों जोड़ा और अन्यों की साहित्यिक अभिरुचि का उल्लेख क्यों नहीं किया। इसके अतिरिक्त 'भोज' शब्द अन्यों की उपाधि रहा, 'विक्रमादित्य' की भांति, इसके भी प्रमाण इतिहास में यदि होंगे भी तो नगण्य। ऐसी दशा में भोज के कर्तृत्व में—जो इतिहासकारों, साहित्यकारों और प्रशस्तियों से विख्यात किया गया—सन्देह नहीं करना चाहिये। इस सन्दर्भ में डा० राघवन् का मत पूर्णसंगत लगता है जिसमें उन्होंने एक राजा भोज के द्वारा बहुविधग्रन्थों की रचना को सम्भव एवं स्वाभाविक सिद्ध किया है।[1] भोजराज के कर्तृत्व में सन्देह नहीं करना चाहिये, यद्यपि उनकी सभा के प्रधान पण्डित गोविन्द भट्ट आदि ने आवश्यक सामग्री के सङ्कलन में सहायता की होगी।

तत्त्वप्रकाश—

शैवदर्शन का यह ग्रन्थ निर्विवाद रूप से भोजकृत है, क्योंकि 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'श्रृङ्गारप्रकाश' सदृश विशालकाय ग्रन्थों की रचना के विषय में तो कर्तृत्व पर विवाद है, किन्तु इस पर नहीं। ध्यान देने की बात है कि भोज ने इस दर्शन के ज्ञान के लिये उत्तुङ्गशिव को गुरु चुना था। इस ग्रन्थ का नाम अवश्य 'तत्त्वप्रकाश' 'तत्त्वप्रकाशिका', 'शिवतत्त्वप्रकाशिका' आदि उपलब्ध होता है। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'तत्त्वप्रकाशिका' स्वीकार किया था,[2] किन्तु भोज ने स्वयं तथा इनके टीकाकारों ने भी इस ग्रन्थ का नाम 'तत्त्वप्रकाश' ही लिखा है।[3] सम्भवतः डा० पाण्डेयजी ने ग्रन्थ की लघुरूपता के कारण 'प्रकाश' के स्थान पर 'प्रकाशिका' शब्द को महत्त्व दिया। वस्तुतः किसी टीकाकार ने भी अपनी कलम से नाम 'तत्त्वप्रकाश' ही लिखा है, अन्यथा नहीं। 'अष्टप्रकरण' में प्रकाशित अघोरशिव की वृत्ति की अन्तिम पंक्ति (पुष्पिका) में 'प्रकाशिका' शब्द सम्पादक ने अपनी ओर से जोड़ा है।

आफ्रेक्ट महोदय ने एक और 'शैवतत्त्व-प्रकाश' का उल्लेख किया है जो १२ कल्पों में विभाजित है। उसके रचयिता कोई प्रज्ञानानन्द बतलाये गये हैं। इस पर अघोरशिवा-

---

१. "...it must be accepted, very learned men among kings there were; and that when we see modern writers, some of them engaged in multifarious public activities, producing voluminous books on diverse subjects, sometimes in unconnected branches of knowledge, we can certainly believe that the ancient Hindu system of education and the old Hindu devotion to learnig did produce giants who wrote a very large number of works, in different fields of learning." Bhoja's Śṛṅgāra Prakāśa, page 6.

२. A Catalogue Mss, in the Akhila Bhāratiya Skt. Parishad, Lucknow, Vol II page 415, 1970.

३. श्रीभोजदेवनृपतिर्व्यधत्त तत्त्वप्रकाशं सः ॥ ७५ ॥, तथा "तत्त्वप्रकाश एषो"॥ ४ ॥

चार्य की टीका है।[1] यदि इस ग्रन्थ के १२ कल्पों (अध्यायों) में विभक्त होने का विवरण न होता, तो नाम तथा टीकाकार के आधार पर इस ग्रन्थ का भी कर्तृत्व विवाद का विषय बन सकता था, किन्तु कर्त्ता तथा ग्रन्थस्वरूप में भिन्नता होने से दोनों की पृथकता ही सिद्ध होती है। प्रज्ञानानन्द के 'शैवतत्त्वप्रकाश' की पाण्डुलिपि देखकर ही निर्णय किया जा सकता है, किन्तु वह प्राप्त न हो सकी।

विवेच्य 'तत्त्वप्रकाश' शैवदर्शन का एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें काश्मीरीय शैवदर्शन की भाँति ३६ तत्त्वों का स्पष्ट परिगणन है। इन तत्त्वों के आधार पर इस ग्रन्थ की व्याख्या विद्वानों ने अद्वैतपरक कर दी थी, किन्तु वस्तुतः यह दक्षिणी भारत में व्याप्त द्वैतवादी 'शैवसिद्धान्त' नाम से ख्यात सम्प्रदाय का ग्रन्थ है। उस सम्प्रदाय के संस्कृत भाषा में निबद्ध अष्टप्रकरणों मे से यह एक है, ऐसी परम्परा है। डा० एस० एन० दासगुप्त एवं डा० जे० एन० सिन्हा सदृश विद्वानों ने 'शैवसिद्धान्त' के निरूपण के प्रसङ्ग में इस ग्रन्थ को अधिक महत्त्व दिया है। माधवाचार्य ने अपनी 'सूतसंहिता' की व्याख्या तथा 'सर्वदर्शन-संग्रह' में और ईशानशिवगुरुदेवपद्धति में भोज तथा श्रीकुमार की उक्तियाँ प्रचुरता से उद्धृत की गई हैं।

प्रक्षेप—

इस ग्रन्थ में ७४ कारिकायें निर्विवाद रूप से मान्य हैं। शेष दो कारिकायें विवादग्रस्त हैं। इनमें एक है बत्तीसवीं कारिका। इसको अनेक असङ्गतियों के कारण टीकाकार अघोरशिवाचार्य प्रक्षिप्त मानते हैं। 'इति काचिदार्या केषुचित् पुस्तकेषु दृश्यते···सेयमशास्त्रज्ञैः प्रक्षिप्ता इति।'[2] श्रीकुमारदेव जो इस ग्रन्थ के दूसरे व्याख्याकार हैं यहाँ कुछ नहीं कहते हैं। वस्तुतः अघोरशिव का विचार मान्य है और यह कारिका सिद्धान्त से बाहर हो जाने के कारण प्रक्षेप ही लगती है। दूसरी विवाद की कारिका है छिहत्तरवीं। यह ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक है। इसमें वसन्ततिलका छन्द है जब कि पूर्वों में आर्या है। टी० गणपति शास्त्री ने श्रीकुमार की टीका के साथ इस श्लोक को इस ढंग से प्रकाशित किया है कि यह उनकी व्याख्या का अंश प्रतीत होता है, जब कि यह श्लोक अघोरशिवाचार्य की वृत्ति के साथ ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक के रूप में उल्लिखित है। ऐसी स्थिति में प्रथम दृष्टि में ही स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रण की त्रुटि से ऐसा हो गया होगा। इस श्लोक में मात्र भोज का कर्तृत्व, ७५ वीं कारिका की भाँति, वर्णित है, अतः कोई और टीका समक्ष न होने पर, जिससे इसका अंशत्व निश्चित हो सके, भ्रम भी सम्भव था। दोनों टीकाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह श्लोक मूलग्रन्थ 'तत्त्वप्रकाश' का अंश है। छन्द की भिन्नता ग्रन्थ के अन्त में अस्वाभाविक नहीं है, वह तो एक परम्परा ही है।

'तत्त्वप्रकाश' के व्याख्याकार

यह ग्रन्थ विशेष कठिन नहीं है, वस्तुतः व्याख्या की आवश्यकता थी नहीं, किन्तु

---

१. Cat. Catalo. Vols. II/III page 47.

२. द्रष्टव्य कारिका ३२ की अघोरशिवाचार्य की वृत्ति।

जैसा कहा जा चुका है, ग्रन्थ के अद्वैतपरक होने का भ्रम सम्भावित होने से तथा किसी एकदेशीय प्रकरणग्रन्थ को अन्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तों से समन्वित करने की दृष्टि से विद्वानो ने व्याख्यायें की हैं। यहाँ इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरा कारण भी है। एक टीकाकार ने इसकी अन्यथा व्याख्या की थी और दूसरे ने उसका परिमार्जन किया है। 'तत्त्वप्रकाश' के दो प्रमुख टीकाकारों की व्याख्यायें उपलब्ध हैं।

श्रीकुमार की 'तात्पर्यदीपिका' व्याख्या—

श्रीकुमार 'तत्त्वप्रकाश' के पुराने टीकाकार हैं। इनके विषय में कुछ अधिक नहीं मिलता। अपनी टीका में भी इन्होंने अपने विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं समझी। इनकी व्याख्या की अन्तिम गद्य-पंक्तियों से मात्र इतना ज्ञात होता है कि इनका कुलगोत्र भारद्वाज था, इनके पिता का नाम शङ्कर था, इन्होंने नियमानुसार सोमरस का आस्वादन किया था अर्थात् सोमयाजी थे, और भगवान् शिव के परमभक्त थे।[1] त्रिवेन्द्रम से 'शिल्परत्नम्' नामक एक शिल्पशास्त्र का ग्रन्थ श्रीकुमार के नाम से प्रकाशित हुआ था। दोनों के श्रीकुमार निश्चित ही भिन्न हैं। म० म० टी० जी० शास्त्री महोदय ने 'तत्त्वप्रकाश' के टीकाकार श्रीकुमार के विषय में अपनी पूरी अनभिज्ञता प्रकट की है।[2] जब कि शिल्परत्नकार के विषय में उन्होंने कुछ स्पष्ट करने का प्रयास किया है।[3] इसके अतिरिक्त शिल्परत्नकार श्रीराम के पुत्र, भार्गव गोत्रीय, केरलवासी और १६ वीं शती के देवनारायण महाराज के आश्रित के।[4]

श्रीकुमार ने अपनी टीका को छः परिच्छेदों में विभक्त किया है। इन्होंने अपनी उक्तियों के समर्थन में सांख्य, योग, ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, शैवागम आदि अनेक ग्रन्थों से उद्धरण दिये हैं। इससे उनकी बहुमुखी अध्ययन की वृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इन्होंने किसी अभिनिवेश अथवा अज्ञान के कारण 'तत्त्वप्रकाश' को अद्वैतपरक बनाने का प्रयास नहीं किया, तथापि वैदिक विधि से सोमयोग के सम्पादन और उपनिषदों के प्रगाढ़ अध्ययन ने ही संभवतः इनको उधर उन्मुख कर दिया होगा। अघोरशिवाचार्य ने लाञ्छन लगाया है कि कुछ व्याख्याकारों ने 'सिद्धान्तदर्शन' न जानने के कारण 'तत्त्वप्रकाश' की अद्वैतवादी व्याख्या की है।[5]

---

१. तात्पर्यदीपिका की अन्तिम पङ्क्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

२. The author of the commentary Tatparyadipikā is Śrikumāra. It is not known when & where this commentator lived, but it is certain that he is later than Paramesvarāchārya, the author of the Laghu Brihmini, a commentary on the Laghu-stuti...तत्त्वप्रकाशः, Preface.

३. शिल्परत्नम्, Preface, page 2.

४. श्रीरामपुत्रेण भार्गवगोत्रसंभूतभूदेवेन श्रीकुमारनामधेयेन श्रीदेवनारायणराजचूडामणिपादसेवकेन लिखितमिदम्।" शिल्परत्नम्, त्रिवेन्द्रम, १९२२ ई०, पूर्वभाग पृ० २५८,

५. द्रष्टव्य प्रारम्भिक श्लोक।

अघोरशिवाचार्य और उनकी 'वृत्ति'—

अघोरशिवाचार्य शैवसिद्धान्त-दर्शन के अत्यन्त विख्यात ग्रन्थकार थे। इनकी बड़ी कृपा रही है कि इन्होंने अपने विषय में यत्रतत्र कुछ न कुछ संकेत दे दिये हैं, जिनसे हर विषय निश्चयात्मक रूप से तो प्रकाश में नहीं आ सका, किन्तु पूर्णतः अन्धकार भी नहीं रहा। यह अपने को चोल देश और कुण्डिनकुल का मानते हैं।[1] इनका समय १२ वीं शताब्दी ईसवी है।[2] 'खेटकनन्दन' का नाम बड़े सम्मान के साथ लेते हैं। यह खेटकनन्दन' सम्भवतः 'सद्योज्योति' शिवाचार्य का एक नाम है। इन्होंने अपनी 'वृत्ति' के अन्त में खेटकनन्दन को गुरु तथा 'भोग-कारिका' का कर्त्ता माना है। यह स्पष्ट है कि सद्योज्योति ही 'भोगकारिका' के रचयिता हैं।[3] अतः दोनों—खेटकनन्दन और सद्योज्योति—एक ही पुरुष सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'तत्त्वसंग्रह' की टीका—लघ्वीवृत्ति—में भी बड़े सम्मान के साथ खेटकनन्दन का स्मरण किया है। सद्योज्योति ने ही 'तत्त्वसंग्रह' की भी रचना की है, उनकी ही रौरवागम पर 'सुवृत्ति' अथवा 'सद्वृत्ति' नाम की व्याख्या है। 'सद्वृत्ति' से अपना अज्ञान दूर करने की बातें अघोरशिव ने कही हैं। 'तत्त्वसंग्रह' की अन्तिम कारिका 'इत्यवदत्तत्वानि तु सद्योज्योतिः सुवृत्तिकृत् ॥ ५७ ॥ पर व्याख्या में अघोरशिव ने लिखा है—"सुवृत्तिः सद्वृत्तिरिति रौरववृत्तेर्नाम तत्कर्त्रेदं निर्मितमित्यर्थः।

श्रीमत्खेटकनन्दनाकिंकिरणैः सद्वृत्तिवाक्यात्मकैः
ध्वस्ताज्ञानतमश्चयेन गुरुणाऽघोरादिना शंभुना ॥'

उक्त शब्दों से ऐसा प्रतीत होता है मानो सद्योज्योति इनके गुरु रहे हों, किन्तु यह वास्तविकता नहीं हैं। अघोरशिव ने 'गुरु' शब्द का प्रयोग अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के लिये निःसंकोच किया है। (द्रष्टव्य भोगकारिका ॥ १ ॥ की व्याख्या)। वस्तुतः इनके गुरु थे श्री सर्वात्मशिव जिनके चरणकमल पराग का अपने को आराधक बतलाया हैं—

श्रीसर्वात्मशिवाङ्घ्रिपद्मरजसामाराधकेनामलात्
श्रीतत्त्वत्रयनिर्णयस्य विवृतिर्लेशादियं निर्मिता ॥

शिक्षक तथा आचार्य के रूप में अघोरशिव को अत्यन्त सफलता मिली। इसका उनको स्वयं गर्व था। वह अपने को 'गुरूत्तम'[4] तथा 'दोशिककुञ्जर' कहते हैं।[5] इनके

---

१. लोकेऽपि प्रथितेन कुण्डिनकुलं चोलेष्वलङ्कुर्वता। तत्त्वत्रयवृत्ति का अन्तिम श्लोक।

२. अपनी पद्धति में इन्होने उसकी रचना का समय १०८० शकाब्द अथवा ११५८ ई० दिया है—"कलौ शालिवाहनशकस्याब्दे अशीत्युत्तरसहस्रे स्वेन कृतेयं पद्धतिरिति च स्पष्टं प्रकटीकृतम्" Dr. K. C. Pandeya : Bhaskari Vol III p. XXIV.

३. श्रीमत्खेटकनन्दनेन गुरुणा सिद्धान्तसिद्धस्फुटं।
संक्षेपादिति कारिकाभिरुदितो भोगः समं साधनैः ॥ भोगका० वृत्तिः

४. तत्त्वप्रकाशवृत्ति का अन्तिम श्लोक।

५. भोगकारिका, अन्त्यपद।

लिये 'लक्षद्व्याध्यापक' शब्द का प्रयोग सम्मान के साथ किया जाता है।[1] ग्रन्थों की वृत्तियाँ इन्होने जिज्ञासुओं की प्रार्थना पर ही लिखी थीं, यह तथ्य वृत्तियों के अन्तिम श्लोकों से व्यक्त होता है।

अन्य ग्रन्थों की भी रचना इन्होंने शिष्यों के उपदेश के लिये अथवा शास्त्र के प्रचार के लिये की थी। सामान्यशास्त्र, पदशास्त्र—व्याकरणशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पण्डित होने के कारण इनकी व्याख्यायें विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण हैं।[2]

अघोरशिव के कई ग्रन्थों की सूची आफ्रेक्ट महोदय ने दी है—(१) क्रियाक्रम-(द्योतः) द्योतनिका (२) तत्त्वत्रय (निर्णय) वृत्तिः (विवृतिः) (३) तत्त्वप्रकाश-वृत्तिः (४) प्रज्ञानानन्दकृतशिवतत्त्वप्रकाशिकावृत्तिः ? (५) तत्त्वसंग्रहलघुटीका (६) नादकारिकावृत्तिः (७) अघोरशिवपद्धतिः (८) सर्वज्ञानोत्तरवृत्तिः। किन्तु इसके अतिरिक्त (९) रत्नत्रयोल्लेखिनीव्याख्या 'रत्नत्रय' पर (१०) रौरवागम पर सद्योज्योति की 'सुवृत्ति' पर टीका (११) मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका (१२) भोगकारिकावृत्तिः टीकायें भी अघोरशिव रचित हैं। ये ग्रन्थ शैवसिद्धान्तदर्शन से सम्बद्ध हैं, किन्तु इनके कुछ और भी ग्रन्थ हैं जो साहित्य, धर्म तथा नीति से सम्बद्ध हैं। इनकी ही उक्ति से ज्ञात होता है कि यह एकरससिद्ध कवीश्वर थे और इन्होंने (१३) आश्चर्यसार (१४) पाषण्डापजय (१५) भक्तप्रकाश नाम के काव्य तथा (१६ , 'अभ्युदय' नाटक आदि लिखा। यह तथ्य इनकी ही उक्ति से प्रकट होता है।[3]

उक्त ग्रन्थसूची पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि दार्शनिक क्षेत्र में अघोर-शिव ने प्रमुखग्रन्थों पर मुख्यतः वृत्तियाँ ही लिखी थीं। अपने को व्याख्याकार, सद्वृत्ति-कार 'व्याख्यातृभावं गतः' ही कहा भी है।

भोजकृत तत्त्वप्रकाश की वृत्ति लिखने का इनका उद्देश्य मात्र यह स्पष्ट करना था कि यह सिद्धान्त-शैवदर्शन का द्वैतप्रतिपादक ग्रन्थ है न कि अद्वैत का। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने, जो सम्भवतः श्रीकुमार थे, जो टीका लिखी थी, वह इनकी दृष्टि में अद्वैत की ओर अधिक अभिमुख थी, अतः सिद्धान्तदर्शन की मान्यताओं का समुचित प्रतिपादन नहीं हो सका था।[4] इनके भीतर शास्त्र को समझने का प्रबल अहंभाव दृष्टिगोचर होता है।

---

१. तत्त्वप्रकाशवृत्ति की पुष्पिका (अन्तिमगद्यपङ्क्ति।)।

२. यः शास्त्रेषु शिवोदितेषु परमं व्याख्यातृभावं गतः।
सामान्येषु पदादिकेषु च सुधी स्वाध्यायशिक्षोल्बणः॥ तत्त्वप्रकाशवृत्ति अन्तिमश्लोक,

३. येनाकारि कवीश्वरेण रसवानाश्चर्यसाराह्वयः
पाषण्डापजयश्च काव्यतिलको भक्तप्रकाशस्तथा।
नाट्येष्वभ्युदयश्च सुन्दरगिरा शैवेषु सद्वृत्तयः
तेनाघोरशिवेन साधुरचिता रत्नत्रयोल्लेखिनी॥ रत्नत्रय पर उल्लेखिनी टीका का अन्तिम श्लोक।

४. द्रष्टव्य तत्त्वप्रकाश पर इनकी टीका के प्रारम्भिक श्लोक।

॥ ॐ शिवाभ्यां नमः ॥

तत्त्वप्रकाशः

(श्रीकुमाराघोरशिवाचार्ययोःतात्पर्यदीपिकावृत्तिभ्यां सहितः)



चिद्घन एको व्यापी नित्यः सततोदितः प्रभुश्शान्तः[1] ।
जयति जगदेकबीजं सर्वानुग्राहकश्शंभुः[2] ॥ १ ॥

चिद्—ज्ञान तथा क्रिया—रूप वाले, अद्वितीय, सर्वगत, आद्यन्तरहित, नित्यमुक्त, स्वयंसमर्थ, रागद्वेष आदि विहीन-मलरहित, विश्व के एकमात्र कारण, सब पर अनुग्रह (भोगमोक्षप्रदान) करने वाले, परमेश्वर सर्वोत्कृष्ट हैं ॥ १ ॥

तात्पर्यदीपिका

नमः शर्वाय देवाय कारणत्रयहेतवे ।
निर्मलाय सदानन्दचित्स्वरूपाय शम्भवे ॥
शक्तिं सदाशिवं चेशं नत्वा देवीं सरस्वतीम् ।
तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिका क्रियते मया ॥

प्रारिप्सितस्यास्य शास्त्रस्याविघ्नेन परिसमाप्तिप्रचयगमनाद्यर्थम् इष्टदेवतास्तुतिं करोति ।

इति । नन्विष्टदेवतास्तुतिनमस्कारादेः शास्त्रपरिसमाप्तिप्रचयगमनादिहेतुता कुतोऽवगम्यते ? शिष्टाचारानुमितादागमादिति ब्रूमः । शास्त्राद्यारम्भे शिष्टैरिष्टदेवतास्तुतिनमस्कारादेः क्रियमाणस्य तदिष्टपरिसमाप्त्यादिहेतुतां विना न सम्भवः । तेनास्य तद्धेतुत्वम् । तच्चागमादेवावगम्यते । अन्यस्य प्रमाणस्यात्रासम्भवात् । तथा—"मङ्गलाचारयुक्तानां विनिपातो न विद्यते ।" इति स्मृतेश्च तदवगमः । तथा परिसमाप्तेः कादाचित्कतया कारणापेक्षा । तच्चान्यस्यासम्भवान्नमस्कारादिजनितो धर्मविशेष इति कल्प्यते । कथं तस्य तद्धेतुत्वमिति चेद्,

---

१. प्रभुः । २. ग्राहकः ।

उच्यते । नमस्कारादिः कायिको वाचिको मानसो वा धर्मविशेषं सम्पादयन् विघ्नहेतुभूतमधर्मं पर्यस्य परिसमाप्त्यादिहेतुतामधिगच्छति, तस्येष्टत्वादिष्टहेतुत्वाच्च धर्मस्येति । कथं तर्हि क्वचित् कृते नमस्कारे परिसमाप्त्यभाव इति चेत्, तद्वैगुण्यादिति ब्रूमः । यथा कारीर्यादौ वृष्ट्यादिसाधनेऽनुष्ठिते वृष्ट्याद्यभावात् तद्वैगुण्यकल्पना, प्रतिबन्धकाधर्मप्राचुर्यकल्पना वा । एवमत्रापि इति न विरोधः । कथं तर्हि नमस्काराद्यभावे क्वचित् परिसमाप्तिः, कारणाभावे कार्योत्पत्त्यसम्भवादिति चेद् , नैवम् । तत्र वाचिकनमस्काराभावेऽपि कायिकमानसादेरनुमेयत्वाद्, अन्यथा परिसमाप्तेरसम्भव इति । ननु तर्हि स एवास्त्वत्रापि, किं वाचिकेन ग्रन्थप्राचुर्यसम्पादकेनेति चेद्, नैवम् । वाचिके प्रयोजनान्तरसम्भवेन तदुपादानात् । तथा हि—यस्तु विस्मृत्येष्टदेवतास्तुतिनमस्कारादिं श्रवणे प्रवर्तते, तेनाप्याद्यश्लोकत्रयपाठमात्रादेव नमस्कारः कृतो भवतीति प्रयोजनान्तरसम्भवात् तदुपादानमिति न कश्चिद् विरोधः।

अथ पदार्थः—चिद्घन इति चैतन्यघनः, चैतन्यसारः, चिन्मात्र इति यावत् । अथैष एव परमानन्दोऽनन्तरोऽपारो विज्ञानघन" इत्यादिश्रुतेः, "आद्यन्तरहितं शुद्धं चिदानन्दमयं शिवम्" इत्यादिस्मृतेश्च भगवतः शम्भोश्चिद्रूपत्वं सिद्धम् । तथा शिवेन सूत्रकर्त्रा 'चैतन्यमात्मे'त्यनेन प्रथमसूत्रेणात्मनश्चैतन्यरूपत्वमुपवर्णितमित्युपपन्नं चिद्घन इति ।

एक इति अद्वितीय इत्यर्थः । 'एकमेवाद्वितीयम्', 'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च । नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त' इत्यादिश्रुतेः । तथा 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थ' इति श्वेताश्वतरे । 'एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थ' इति त्रैयम्बकाध्याये । नीलरुद्रे च—'सर्वो रुद्रस्तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वि'त्यादिनाऽद्वितीयत्वप्रतिपादनादुपपन्नं शिवाद्वितीयत्वमिति । न च प्रत्यक्षादिप्रमाणैरनेकार्थावभासादनुपपन्नं शिवाद्वितीयत्वमिति वाच्यम् । एकस्याप्यवस्थानभेदेनानेकधा भासनोपपत्तेः । यथैकस्यैव मृत्पिण्डस्य घटशरावकुम्भकुड्यमृदङ्गाद्यात्मनाऽवस्थानभेदवशेनानेकधा भासनं, सुवर्णपिण्डस्यैकस्यैवाङ्गुलीयकरुचककटकमुकुटाद्यवस्थानभेदवशेन, एवमेकस्यैव सतो रुद्रस्य घटः सन् पटः सन् कुसूलः सन् अस्तीत्यादि प्रत्यक्षतोऽखिलरूपतयाऽवभासस्य 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति', 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ती'त्यादिश्रुतितश्चावस्थानभेदवशेनानेकधा भासनमुप-

पद्यत इति न प्रत्यक्षादि विरोध सम्भवः । अपौरुषेयतयाऽसम्भव-द्दोषेण स्वतःप्रमाणभूतेन प्रबलेन वेदराशिना शिवाद्वितीयत्वस्य सिद्धत्वात् तद्विपरीतदुर्बलप्रत्यक्षादिसिद्धानेकत्वस्य बाध्यत्वाच्च । तथाहि वेदवाक्यानामपौरुषेयत्वं प्रतिपाद्यते । तेनाप्रामाण्यकारणानाम-ज्ञानरागद्वेषादीनां वेदवाक्येऽसम्भवादप्रामाण्यासम्भवः । न हि शब्दे स्वतो दोषः सम्भवति । आप्तानाप्तवाक्ययोः प्रामाण्याप्रामाण्यनियम-सम्भावनात् । न हि वक्तृगतदोषतदभावानुसारं विना स्वतो दोष-गुणाभ्यां प्रामाण्याप्रामाण्ययोरभ्युपगमे तन्नियमः सम्भवति, आप्त्यना-प्त्योस्तदकारणत्वात् । नित्यस्य वेदराशेरनाप्तकृतत्वाभावेनाप्रामाण्या-सम्भवात्, स्वतःप्रमाणत्वे सति तत्सिद्धशिवाद्वितीयत्वस्य प्रबल-प्रमाणसिद्धत्वान्न प्रत्यक्षादिविरोधसम्भवः । न च कर्त्रभावेन गुण-स्याप्यभावात् प्रामाण्यस्याप्यभाव इति वाच्यम् । व्युत्पन्नपदपदार्थस्य तद्वाक्यश्रवणसमनन्तरमेव तदर्थविषयप्रमोत्पत्तेरुपलम्भात् । गुण-सद्भावश्च न प्रामाण्यकारणम्, अप्रामाण्यकारणभूतदोषपरिहारार्थ-त्वादिति । तथा तत्परवेदसिद्धत्वाच्च शिवाद्वितीयताप्रतिपादकस्य वाक्यस्य तत्र तात्पर्यं षड्विधलिङ्गसद्भावादवगम्यते । तदुक्तं न्याय-विद्भिः—"आदिमध्यान्तसङ्ज्ञानमभ्यासोऽपूर्वता फलम् । अर्थवादो-पपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥" इति । एतानि लिङ्गानि रुद्राद्विती-यताप्रतिपादकश्रुतौ सन्त्येव । तथा हि—'सर्वो वै रुद्रः', 'पुरुषो वै रुद्रः', 'सर्वो ह्येष रुद्र' इत्यादिमध्यान्तसङ्ज्ञानाख्यं तात्पर्यलिङ्गमुप-लभ्यते । तथा 'सर्वो वै रुद्रः' 'सर्वो ह्येष रुद्रः' इत्यसकृदुपदेशादभ्यास-लक्षणं च तात्पर्यलिङ्गं सिद्धम् । तथा 'विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् ।' 'सर्वो ह्येष रुद्र' इत्यादिश्रुतेरज्ञातार्थ-स्वरूपं च तात्पर्यलिङ्गं सिध्यति । तथा 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति', 'विद्यया विन्दतेऽमृतम्', 'आत्मा ज्ञातव्यः' 'तरति शोकमात्मवित्', 'न च पुनरावर्तते', 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः', 'य एवैक उद्भवे सम्भवे च', 'य एतं विदुरमृतास्ते भवन्ति' इत्यादिभिः शिवात्मैकत्व-ज्ञानस्य फलश्रवणात् तत्प्रतिपादकश्रुतीनां तत्र तात्पर्यसिद्धिः । 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत' इति स्तुत्यर्थवादसद्भावादेकत्वे तच्छ्रुतेस्तात्पर्यं सिध्यति । तथा 'य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' अविदुषस्त्वथ तस्य भयं भवतीत्यादिनिन्दार्थवाद-सद्भावाच्च तत्सिद्धिः । तथा 'सर्वो वै रुद्र' इत्यादिवाक्यसिद्धं रुद्रस्य

सर्वात्मकत्वं वाक्यान्तरेण 'पुरुष एवेदं सर्वं, यद्भूतं यच्च भव्य' मित्यनेन विरुध्येत। तत्र 'पुरुषो वै रुद्र' इत्यविरोधोपपादनादुपपत्त्याख्यं च तात्पर्यलिङ्गं सिध्यति। तथा 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'त्यादिवाक्यान्तरसिद्धसदद्वितीयत्वविरोधं च परिहरद् 'रुद्रः सन्नि'ति वाक्यमुपपादकम्। तथा 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' इत्यादिना 'नान्यः पन्था अयनाय विद्यत'इत्यन्तेन श्रुतिवाक्येन सिद्धमहापुरुषाद्वयत्वविरोधं च 'रुद्रः सन् मह (?)'इति वाक्यं परिहरदुपपादकम्। तेन सुतरां रुद्राद्वितीयत्वेऽस्याः श्रुतेस्तात्पर्यसिद्धिः। तदेतदनुवादसिद्धं शिवाद्वितीयत्वमाश्रयणीयम्। अन्यथा तदानर्थक्यादिति। तदुक्तमार्याकारेण—'अज्ञातोऽर्थः फलवानसकृत् सम्भावितश्च दृष्टान्तैः। पौर्वापर्यानुगतः श्रुतः कथं कथ्यते तथा नेति।" इति। तस्मान्न प्रत्यक्षादिना दुर्बलेन बाधावकाश इति। प्रधान इति वा, 'न वा ओजीयो रुद्र! त्वदस्ति,' 'भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चमः।' इत्यादितैत्तिरीयात् श्वेताश्वतराच्च सर्वप्राधान्यं भगवतो महेश्वरस्य रुद्रस्यावगम्यते। तथाहि—'य एवैको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वान् लोकानीशत ईशनीभिरि'त्यादि। "सर्वस्मादधिकत्वं ये न वदन्ति पिनाकिनः। साधारणं स्मरन्त्येनं सदारस्त्वं समाविश॥"इत्युक्तं लैङ्गे पुराणे। तस्मात् तत्प्राधान्यं श्रद्धातव्यमिति।

व्यापोऽस्यास्तीति व्यापी, सर्वगत इत्यर्थः। अगत्वा सर्वमूर्तसंयोगित्वं सर्वगतत्वम्। अगमनं च सर्वत्र सद्भावाद् गगनवदिति, 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य' इत्यादिश्रुतेः। 'स हि सर्वेषु भूतेषु स्थावरेषु चरेषु च। वसत्येको महावीर्यो नानाभावसमन्वितः।" इत्यादिस्मृतेश्च। न चाकाशवदेवास्य जडत्वमिति वाच्यम्। चिद्रूपताप्रतिपादकश्रुतिविरोधात्। अथवा व्यापित्वं सर्वस्वरूपत्वमेकत्वे हेतुतयोक्तम्। तच्च—'स इज्ज्योतिः स यजमान आसीत् सो मातरिश्वा स उदेति सूर्यः। स चन्द्रमाः स पृथ्वी जलाधःस आकाशो विश्वा भुवना विवेश।" इति मूर्त्यष्टकप्रतिपादकलिङ्गसूक्तिश्रुतिसिद्धम्।

नित्य इति। अविनाशीत्यर्थः। 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः' इति श्वेताश्वतरश्रुतेः। कालत्रयव्यापित्वं वा नित्यत्वं तद्राहित्यं वा। 'सर्वेषु कालेष्वनुसन्ततात्मे'त्यादिश्रुतेः। 'परस्त्रिकालादकलो हि दृष्ट' इत्यादिश्वेताश्वतरश्रुतेश्च तदवगमः।

सततोदित इति । सततं सर्वदा उदयः प्रकाशो यस्यासौ तथोक्तः । अनुदितास्तमितप्रकाशः, स्वयंप्रकाश इत्यर्थः । 'अत्रायं पुरुषः स्वयं-ज्योतिः' (इति श्रुतेः), 'सर्वगः पुरुषः पर' इतीश्वरगीतास्मृतेश्च तदवगमः । प्रभुरिति । कर्तृकर्मकरणादिसकलकारकार्थवाहित्वरूपा-प्रतिहतैश्वर्यं प्रभुत्वम् । तच्च 'यथोर्णनाभिः सृजत्येवमेवासौ सृजती'ति श्रुतेः, "संसारहेतुः संसारी मोक्षहेतुश्च निर्वृतः" "प्रजायसे जनयसि जन्यसे मुहुः" इत्यादिस्मृतितश्च सिद्धम् । करणादि विना सकलकार्य-जनकत्वं वा । तच्च 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा, इति । स इमाँल्लोकानसृजत'इत्यादि-श्रुत्यवगतम् । निष्क्रियकर्तृत्वं वा । "यथामणिरयस्कान्तसान्निध्या-दुपकारकः । अयसश्चलतस्तद्वच्छिवोऽप्यस्येति सूरयः ।। यथा सन्निधि-मात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते । मनसो नोपकर्तृत्वात् तथासौ परमेश्वरः ।।" इत्यादिपुराणागमादवगतं तस्य तत्प्रभुत्वं, श्रमाद्य-सम्भवात् । सव्यापारकर्तृत्वस्याप्रभुत्वरूपता च श्रमादियोगात् ।

तत्र हेतुमाह—शान्त इति । सर्वव्यापाररहितः शिवो यतः, अतोऽसौ प्रभुरिति । अथवा जगत्सृष्टिस्थितिध्वंसादिकर्मसम्बन्धवशात् कर्मवश्यशरीरादिप्रसङ्गेन या संसारित्वप्रसक्तिर्भगवतः, सा च निषि-ध्यते शान्त इति । सर्वक्रियारहिततयोदासीनस्वभावस्य परमेश्वरस्य सर्वज्ञस्य न परगतक्रियया संसारसंभव इति । 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर्गुणं तं निरञ्जनम् ।'' इत्यादिश्रुतेस्तदवगमात् । तथा-'पश्यन्ति ऋषयो मुक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः । विकारहीनं निर्दुःखानन्दमात्मान-मव्ययम्' इतीश्वरगीतास्मृतेश्च । मुक्त इति वा 'तदेकमजमव्यक्तं नित्यलुप्तमप्लुप्तदृक्" इत्यादिश्रुतेः, "अहं ब्रह्माव्ययः शान्तो निर्मूलो निष्क्रियोऽव्ययः । एकाकी भगवान् मुक्तः केवलः परमेश्वरः ।" इत्यादि-स्मृतेश्च तदवगमः ।

जयतीति । सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः । 'यस्मात् परं नापर-मस्ति किञ्चित्", 'अणोरणीयान् महतो महीयानि'त्यादिश्रुतेस्तदवगमात् । 'सर्वेन्द्रियेभ्यः परमं मन आहुर्मनीषिणः । मनसश्चाप्यहंकारः अहङ्का-रान्महान् परः ।। महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः । पुरुषाद् भग-वान् प्राणस्तस्य सर्वमिदं जगत् ।। प्राणात् परतरं व्योमातीतोऽग्निरी-श्वरः । ईश्वरान्न परं किञ्चित् ।।' इत्यादिस्मृतेश्च । स्वोपाख्यानां श्रवणाद्युपजातपरमार्थदर्शने ज्ञानादेरभिभवादभिभवो वा जयतेरर्थः ।

तथा सर्वमात्मनो वशे कृत्वा वर्तत इति वशीकारो वा। तथा लयोदये निखिलकार्यजालं स्वात्मन्येव स्वीकृत्यास्त इति स्वीकारो वा।

जगदेकबीजमिति। जगतः कालादेः कार्यजातस्य एकं प्रधानं बीजं कारणं, मूलकारणमिति यावत्। अथवा जगतामेकः कर्ता च बीजमुपादानं चेति जगदेकबीजं, निमित्तोपादानभूत इति यावत्। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते,' 'यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'एको रुद्रो मृत्युरव्यक्तमेकं बीजं विश्वमेकः स एव" इत्यादिश्रुतेः, "अस्माद्धि जायते सर्वमत्रैव प्रविलीयते"। इतीश्वरगीतास्मृतेश्च परमेश्वरस्य जगदुपादानभावो गम्यते। तथा 'द्यावाभूमी जनयन् देव एकः', 'भुवनस्य पितरं गीर्भिराभिः स विश्वकृदविश्वविदात्मयोनिः' इत्यादिश्रुतेः, 'सर्गकाले च करोति सर्गम्'इत्यादिस्मृतेश्च तस्य निमित्तभावोऽवगम्य इति मायाशरीरस्य परमेश्वरस्य जगन्निमित्तत्वोपादानत्वे सम्भवत इति न विकारित्वादिप्रसङ्गः।

सर्वानुग्राहक इति। सर्वेषां चेतनानामचेतनानां चानुग्रहं मोक्षाद्यं करोतीति तथोक्तः। वक्ष्यति च–भुक्ति मुक्तिमणूनामिति। ननु यदि स्वप्रयोजनार्थमनुग्रहकरणं, तर्हि सर्वानन्दत्वहानिः, तत्साध्यसुखस्य तदुत्पत्तेः प्रागसत्त्वात्। स्वप्रयोजनाभावे तु प्रवृत्त्यसंभवः। तदुक्तं न्यायविद्भिः—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। यदि प्रयोजनोद्देशो हीयेतानन्दरूपता।" इति। नैवम्। करुणया स्वभावतो वा प्रवृत्त्युपपत्तेः। ननु यदि करुणयाऽनुग्रहकरणं, तर्हि मोक्षमेवासौ सृजेत्, न संसारात्मकं जगत्सर्जनं, तस्यान्याय्यत्वात्। तथा हि—दुःखदर्शनपूर्वकं करुणया प्रवर्तमानानां तद्दुःखसंप्रहाणायैव प्रवृत्तिरुचिता, न तद्दुःखसम्पादनाय। अतो न युक्तं दुःखात्मकं जगत्सर्जनम्। नैव (म्) अज्ञाननिवृत्त्यात्मकस्यापवर्गस्य ज्ञानतत्कारणाद्यपेक्षत्वेन जगत्सर्जनोपपत्तेः। तथा हि—ज्ञानं तावदपरोक्षभूतमपवर्गकारणम्। आपरोक्ष्यं च निदिध्यासनेनाविद्यासंस्कारतिरस्कारे सत्युद्भवति। निदिध्यासनं च श्रवणमननाभ्यां शिवात्मज्ञाने सञ्जाते सम्भवति। ते चान्तःकरणशुद्धितः सञ्जायेते। सा काम्यप्रतिषिद्धकर्मपरिहारेण नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानाद् भवति। तदनुष्ठानं पशुसस्यराजरक्षादिपूर्वकम्। अतो यदिदं तत् सर्वं मोक्षशेषमिति न व्यर्थं जगत्सर्जनम्। कामनाश्रुतयश्चैहिकफलाः 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यादय

ऐहिकफलनिविष्टचित्तान् विप्रान् वैदिकमार्गे प्रवर्तयितुं प्रवृत्ताः, स्वर्गफलाश्च तदुत्सुकानिति। ये च शत्रुनाशोत्सुकास्तान् वैदिकमार्गे प्रवर्तयितुं श्येना(जि)राद्यभिचारकर्मविधयश्चेति। ततश्च विहितस्नानपापक्षयकर्मानुष्ठानान्वाधानाग्निहोत्रादिना क्रमात् मनश्शुद्धिसम्भवे सति कामनानिवृत्तौ नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानाद् आत्मविविदिषारूपान्तःकरणशुद्ध्युद्भवे श्रवणमननाभ्यां शिवात्मज्ञाने संजाते निदिध्यासनाभ्यासाद् अविद्यातत्संस्कारापनयनानन्तरं शिवात्मापरोक्ष्ये सति मोक्ष इति। तदुक्तं मोक्षधर्मादौ—'सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्गः सत्यफलोदयः। बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥"इति। अत्र ये महेश्वरनियुक्ते श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि प्रवर्तन्ते, ते मुच्यन्ते। ये तु न प्रवर्तन्ते, ते संसरन्ति। तदुक्तमैतरेयोपनिषदादौ—'एष पन्था एतत्कर्म तस्मान्न प्रमाद्येत नातीयात् न ह्यत्यायत् पूर्वे येऽत्यायंस्ते परावभूवुः" इत्यादि। अनुग्रहस्वभावत्वाद्वा प्रवृत्तिः। तदा च तस्य कारणापेक्षितया न सकलजगन्मोक्षप्रसङ्गः। तदुक्तं श्रीवायवीये—'अनुग्रहस्वभावत्वे न सर्वान् मोचयेच्छिवः। स्वभावोऽपि हि भावानां भाविनोऽर्थस्य कारणम्॥ न हि स्वभावतोऽसन्तमर्थं कर्तैव साधयेत्। यथा विकासयत्येव रविः पद्मानि भानुभिः॥ समं न विकसन्त्येव स्वस्वभावानुरोधतः। एवं पक्वमलानेव मोचयेन्न शिवः परान्॥" इत्यादि।

शम्भुरिति। शं सुखं तस्मिन् भवतीति शम्भुः, स्वयमानन्दरूप इत्यर्थः। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'तिश्रुतेः, 'आनन्दमजमव्यक्तं निष्कलं तदुदाहृतमि'त्यादीश्वरगीतास्मृतेश्च तदवगमः। ननु शिवस्यानन्दमयत्वे प्रीत्यात्मकसत्त्वगुणरूपत्वेन सगुणत्वात् परिणामादिदोषप्रसङ्गः। तथा हि सांख्याचार्यैरुक्तम्—'प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः। अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥" इति। नैवम्। प्रीत्यानन्दशब्दयोर्भिन्नार्थत्वात्। तथाहि—विषयेन्द्रियसम्प्रयोगजन्यानित्यसातिशयसुखं प्रीतिशब्देनोच्यते, सततैकरूपनित्ये निरतिशयात्मस्वभावसुखमानन्दशब्दवाच्यमिति नोक्तदोषावकाश इत्येके। अन्ये तु सत्त्वगुणे निर्मले पुण्यहेतुना विषयेन्द्रियसंप्रयोगेण परिणते नित्यसुखमेव प्रतिबिम्बितं प्रीतिशब्देनोपदिष्टम्, "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति" श्रुतेः सत्त्वगुणस्य न सुखात्मता, सुखप्रतिबिम्बाश्रयतया सुखरूपत्वाभिधानमिति मन्यन्ते॥ १॥

वृत्तिः

शिवं प्रणम्य षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतं सशक्तिकम् ।
व्याख्यां तत्त्वप्रकाशस्य स्फुटां लघ्वीं करोम्यहम् ।।
अद्वैतवासनाविष्टैः सिद्धान्तज्ञानवर्जितैः ।
व्याख्यातोऽत्रान्यथाऽन्यैर्यत्स ततोऽस्माकमुद्यमः ।।

तत्र तावदाचार्यः प्रारिप्सितस्य प्रकरणस्याविघ्नपरिसमाप्त्यर्थं सिद्धान्तशास्त्रप्रवृत्तिनिमित्तं सकलतत्त्वातीतं निष्कलं परमशिवमाद्ययाऽऽर्यया स्तौति ।

चिच्छब्देनात्र ज्ञानक्रिये वक्ष्येते । तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—'चैतन्यं दृक्क्रियारूप'मिति । चिदेव घनं देहः यस्य सः चिद्घनः । न तु कर्मकालादीश्वरवादिनामिव जडः । अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानं विना प्रवृत्त्ययोगात् । न चास्य बैन्दवशरीराद्युपगमो युक्तः । अनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । तस्य च कर्त्रन्तरापेक्षायां स्वकर्तृकत्वेऽन्यकर्तृकत्वे वाऽनवस्थाप्रसङ्गाच्च । एकः अद्वितीयः । न त्वनेकेश्वरपक्षोऽपि युक्तः । रथादीनामप्यनेककर्तृकाणामेकेच्छानुवर्तनं विनाऽनुत्पत्तेः । यदुक्तम्—"बहवो यत्र नेतारस्सर्वे पण्डितमानिनः । तथा महत्त्वमिच्छन्ति तद्व्यक्तमवसीदति ।" अनेन प्रवाहेश्वरपक्षोऽपि निरस्तः । ऐश्वर्यस्य स्वरूपव्यक्तिलाभात्मकत्वेन विनाशानुपपत्तेः । व्यापी सर्वगतः । न तु क्षपणकादीनामिव शरीरपरिमितः, सङ्कोचविकासधर्मी वा । तादृशस्य चेतनत्वानित्यत्वादिदोषप्रसङ्गात् । नित्यः आद्यन्तरहितः । न तु बौद्धादीनामिव क्षणिकः । उत्पत्तिकाल एव नश्यतस्तस्य जगत्कर्तृकत्वासंभवात् । ननु मुक्तात्मानोऽप्येवंभूता एवात आह—सततोदितः नित्यमुक्तः । न तु मुक्तात्मान इवेश्वरान्तरप्रसादमुक्तः । अनवस्थाप्रसङ्गात् । प्रभुः प्रभवनशीलः । न त्वीश्वरान्तरप्रेर्य इत्यर्थः । प्रागुक्तादेव हेतोः । नाप्यकर्ता । जगत्कर्तृत्वेनैवास्य सिद्धेः । शान्तः रागद्वेषादिरहितः । 'मोहो मदश्च रागश्च विषादश्शोष एव च । वैचित्र्यं चैव हर्षश्च सप्तैते सहजा मलाः ।। तत्कारणस्य मलादेरसंभवात् । किं पुनरेवंभूतस्येश्वरस्य सद्भावे प्रमाणमिति चेदत आह—जगदेकबीजमिति । जगतः निमित्तकर्ता । अयमभिप्रायः—सन्निवेशादिमत्त्वेन जगतः कार्यत्वं बुद्ध्वा तस्य निमित्तं कारणमीश्वराख्यं कार्यत्वेन हेतुनाऽनुमीयते । यद्यत्सावयवं तत्तत्कार्यं, यद्यत् कार्यं तत्तत्स-

कर्तृकमिति न्यायात् । यच्छ्रूयते—विवादाध्यासितं विश्वं विश्ववित्कर्तृपूर्वकम् । कार्यत्वादावयोस्सिद्धं कार्यं कुम्भादिकं यथे'ति ।। श्रीमन्मतङ्गेऽपि—'निमित्तकारणं त्वीश' इति ।। अयं चेश्वरवादोऽस्माभिर्मृगेन्द्रवृत्तिदीपिकायामुक्तः तत एवावधार्यः ।

सर्वानुग्राहकः । अनुग्रहश्चात्रोपलक्षणं सृष्ट्यादेरपि । अतश्च सृष्टिस्थितिसंहारतिरोभावानुग्रहाख्यैः पञ्चभिः कृत्यैस्सर्वेषामात्मनां भोगमोक्षप्रद इत्यर्थः । सर्वकर्तृत्वादेव चास्य सर्वज्ञत्वं सिद्धम् । अज्ञातस्य करणासंभवात् । उक्तं च—'सर्वज्ञस्सर्वकर्तृत्वात् साधनाङ्गफलैस्सह । यो यज्जानाति कुरुते स तदेवेति सुस्थितम्' इति ।। एवंभूतश्शम्भुः परमेश्वरो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते प्रोक्तैरेव हेतुभिरिति ।। १ ।।

नोदयति यन्न नश्यति निर्वाति न निर्वृतिं प्रयच्छति च ।
ज्ञानक्रियास्वभावं तत्तेजः शाम्भवं जयति ।। २ ।।

जो उत्पन्न नहीं होता, नष्ट नहीं होता, स्वयं निर्वाण नहीं प्राप्त करता अपितु निर्वाण प्रदान करता है, परमशिव का वह ज्ञानक्रिया स्वरूप तेज सर्वश्रेष्ठ है ।। २ ।।

तात्पर्यदीपिका

अस्य प्रथमश्लोकस्य सकलशास्त्रार्थसंग्रहरूपत्वाद् एतत्सूचितामिष्टदेवतास्तुतिमुत्तरश्लोकेन विवृणोति । अथवा इष्टदेवतास्तुतिच्छलेन निष्कलं प्राप्यं शिवतत्त्वमभिधाय तत्प्राप्त्युपायभूतं सकलनिष्कलात्मकं ज्योतिर्लिङ्गादिरूपेणावस्थितं स्तौति ।

इति । अयमर्थः—यत् तेजो नोदयति नाविर्भवत्यादित्यादिवत् । न च नश्यति नास्तं गच्छति । निर्वाति न, न मुच्यते । अज्ञानतन्मूलरागद्वेषतत्प्रयुक्तप्रवृत्तिधर्माधर्मतद्वश्यशरीरेन्द्रियाद्यभावेन संसाराभावात् । अज्ञानाभावश्च सर्वज्ञत्वात् । अपक्षयलक्षणविनाशप्रतिषेधो वा निर्वाणं, नितरां वानम् अपक्षयः न्यूनत्वं, तन्नास्ति, सततैकरूपत्वात् । तच्च नित्यत्वात् । निर्वृतिं प्रयच्छति चेति । निर्वृतिर्मुक्तिः तां प्रयच्छति प्रददाति स्वोपासकानामिति । ज्ञानक्रियास्वभावं ज्ञप्तृकर्तृस्वभावं तच्छाम्भवं शम्भोरिदं शाम्भवं तेजः इतरतेजोनिकरेभ्यः उक्तैः कारणैरुत्कृष्टमिति । अथवा, शाम्भवं तेजोरूपं मन्त्रात्मकं विग्रहं, तत्प्राप्त्युपायभूतं सकलमिति यावत् । जयतीति । सर्वस्मादुपरि वर्तत

इत्यर्थः । कुतः, अस्य विग्रहस्योत्तरविग्रहवदुत्पत्तिनाशाद्यभावात् । तच्च वेदमयत्वाद् वेदस्य च नित्यत्वादिति ॥ २ ॥

वृत्तिः

एवं धर्मिस्वरूपं शिवं प्रस्तुत्य धर्मस्वरूपस्य तत्सामर्थ्यस्य लयावस्थां स्तुतिव्याजेन दर्शयति—

उत्पत्तिविनाशशून्यमित्यनेन तद्योगिनो बौद्धज्ञानाच्चैतन्यात्मनश्शिवतेजसो विशेषं दर्शयति । यद्येवं 'चैतन्यं दृक्क्रियारूपं तदस्यात्मनि सर्वदा' इति श्रुतेः आत्मसामर्थ्याच्छिवसामर्थ्यस्य को विशेष इत्यत आह—निर्वाति न निर्वृतिं प्रयच्छतीति । अयमस्य पशुसामर्थ्याद्विशेषो दर्शितः । यदिदं केनापि न मुच्यते तत्त्वनेन पाशविमोचनेन प्रकटीक्रियत इति । किं तत इत्यत आह—'ज्ञानक्रियास्वभावं तत्तेजश्शांभवं जयति' इति चिद्धर्मत्वादेवेदमपि चिदात्मकमित्यर्थः । यच्छ्रूयते 'शक्तिर्नचितना चित' इति ॥ २ ॥

शक्तो यया स शम्भुर्भुक्तौ मुक्तौ च पशुगणस्यास्य ।
तामेकां चिद्रूपामाद्यां सर्वात्मनाऽस्मि नतः ॥ ३ ॥

जिसके कारण शिव इस पशुसमूह-जीवसमूह-को भोग और मोक्ष देने में समर्थ होते हैं, उसी अद्वितीया, चित्स्वरूपिणी, प्रधानभूता, (शक्ति को) मैं सर्वभावेन प्रणत हूँ ॥ ३ ॥

तात्पर्यदीपिका

एवं महेश्वरं स्तुत्वा महेश्वरीं महादेववल्लभामखिलभुवनजननीं नित्यसहिताम् "एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व" इत्यादिश्रुतिसिद्धपूजास्तुत्यादिसाहित्यप्रदर्शनाय फलाप्तये च स्तौति ।

इति । अयमर्थः—यया शक्त्या भगवान् महेश्वरः पशुगणस्यास्य भुक्तिप्रदाने मुक्तिप्रदाने च शक्तः समर्थो भवति, तां नतोऽस्मीति महेश्वरीस्तुतिकर्तव्यता प्रतिपादिता । तया विना भगवतोऽनुग्राहकत्वासंभवात् । तथाहि शिवस्य सर्वगतस्य केवलस्य निष्क्रियस्योदासीनतनोः पशुसमुदायं प्रति भुक्तिमुक्तिप्रदानासंभवाच्छक्तिमत एव तत्प्रदानोपपत्तिः । अतः शक्तिसहितस्यैवानुग्राहकत्वमिति । एकामिति । अद्वितीयामित्यर्थः । ननु शिव एव सर्वमिति पूर्वं शिवाद्वितीयत्वं प्रतिपादितम् । अतः कथमिहाद्वितीयत्ता वाचो युक्तिरिति चेत् । सर्वस्यापि वस्तुनो देवी-

देवात्मकत्वसद्भावेनोभयाद्वितीयतावचनोपपत्तेरिति ब्रूमः। तथाहि—केवलात्मावस्थानलक्षणस्यापवर्गस्य तावच्चिदानन्दरूपतया देवीदेवात्मता विद्यते। मोक्षस्यानन्दरूपत्वाभावे पुरुषार्थता हीयेत, सुखस्यैव मुख्यपुरुषार्थत्वात्। न च दुःखाभावस्यापि पुरुषार्थतयापवर्गस्यानन्दरूपत्वाभावेऽपि दुःखसंस्पर्शविरहेण पुरुषार्थत्वसंभव इति वाच्यम्।दुःखाभावस्य सुखानुगुणतया पुरुषैरर्थ्यमानत्वेन मुख्यपुरुषार्थत्वाभावात् । तस्मात्
सुखानुगुणतया पुरुषैरर्थ्यमानत्वेन मुख्यपुरुषार्थत्वाभावात् । तस्मात्
सुखस्यैव मुख्यपुरुषार्थत्वेनानन्दरूपतापवर्गस्याश्रयणीया। सा चाननुभूयमाना न पुरुषार्थतां भजत इति तदनुभवोऽप्याश्रयणीय इति सुखचिदात्मको मोक्ष इति तस्य देवीदेवात्मकत्वसिद्धिः। तत्र परमानन्दसंविद् देवी संविदानन्दो देव इति, 'एषा विद्या ह्यहं वेद्य' इति पुराणागमात् तदवगमः। तथा देवीमन्त्रकल्पे चोक्तम् 'आदिनाथ ऋषिश्छन्दो देवी गायत्रि उच्यते। देवतापरमानन्दसंविदत्रोपदिश्यते।" इति। भुवनेश्वरीकल्पे च—'बोधस्वरूपवाची संविद् प्रोक्ता च देवता गुरुभिः" इति। तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्मे'त्यादिश्रुतेश्च तदवगमः। "यानुभूतिरजामेयानन्तात्मानन्द विग्रहा। महदादिजगन्मायाचित्रभित्ति नमामि ताम्।" इत्यभियुक्तवचनाच्च तदवगमः। न च संवित्सुखे परस्परमात्मनश्च भिन्ने आत्मगुणरूपे इति वाच्यम्। 'चिदानन्दात्मकः शिवः' इत्यादिश्रुतिविरोधाद्, भेदाभ्युपगमे तद्गुणत्वासंभवप्रसंगाच्च। ननु चिदानन्दयोरभेदेऽन्यतस्तदनुभवासंभवात् स्वयंप्रकाशतया मोक्षसंसारयोरविशेषप्रसङ्गः। नैवम्। संसारावस्थायां जपासन्निहितस्वयम्प्रभस्फटिकवदात्मनोऽसत्कल्पतयाऽऽनन्दानुभवासंभवेनाविरोधादिति। तदिदमानन्दं ब्रह्मणो रूपम्। तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यत इति श्रुतिसिद्धम्। नन्वस्तु शुद्धतत्त्वस्य देवीदेवात्मता। कारणतत्त्वस्य मायाशबलितस्य कथं देवीदेवात्मतेति चेत्। निमित्तोपादानभावेनावस्थानादिति ब्रूमः। तदुक्तं लैङ्गे—'अस्याष्टमूर्तेः शर्वस्य शिवस्य गृहमेधिनः। गृहिणी प्रकृतिर्दिव्या प्रजाश्च महदादयः।" इति। कार्यतत्त्वस्य चात एव चिदचिदात्मतया देवीदेवरूपत्वम्। तथा च भूतानां चतुर्दशविधानां देहदेह्यात्मना द्वैरूप्याद् देवीदेवात्मता। ननु भूतानां कथं देवीदेवात्मकत्वम्। तद्विभूतित्वादिति ब्रूमः। तथा च बृहदारण्यकश्रुतिः—'एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। स हैतावानास। पुंस्त्वं स्त्रीत्वं च पातयत्। पतनात् पतिः पत्नी च। सा गौरभवत्। ऋषभ इतरः। ताभ्यां गावः। सा

बडवाऽभवदश्व इतरः । ताभ्यामश्वाः" इत्यादिवाक्यैरखिलजन्त्वात्मना देवदेव्योर्जगत्कारणयोरवस्थानावभासादखिलस्य तद्विभूतित्वसिद्धिः । मानवे च—"द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां च विराजमसृजत् प्रभुः ॥" 'पुँल्लिङ्गमखिलं देवः स्त्रीलिङ्गं परमेश्वरी ।' इति लैङ्गवचनाच्च तत्सिद्धिरिति । महेश्वरीमहेश्वरयोर्भेदाभावेनोभयाद्वितीयत्ववचनम् । तथा हि—एकमेव शिवतत्त्वं पुंल्लिङ्गस्त्रीलिङ्गनपुंसकलिङ्गशब्दैर्व्यवह्रियते । भावानां तत्त्रैविध्यदर्शनेनास्यापि भावतयाऽन्यतमरूपप्रसक्तौ तन्नियामकासंभवात् । तथा हि—शिवतत्त्वस्य स्त्रीत्वनपुंसकत्वयोरभावेन घटस्य घटशब्देनेव महेश्वरशब्देन पुँल्लिङ्गेन व्यवहारः । न च पुंस्त्वसद्भावाद् घटस्य घटशब्देन व्यवहार इति वाच्यम् । पुंस्त्वस्यात्यन्तमत्रानुपलम्भात् । तथापि तस्य सत्त्वाभ्युपगमे शशविषाणादेरपि सत्त्वप्रसङ्गः । तथा पुंस्त्वनपुंसकत्वयोरप्यभावाच्छिवेति स्त्रीलिङ्गशब्देन व्यवहारः । न च तस्य स्त्रीत्वसद्भावादिति वाच्यं, शालामालादिशब्दानां तदभावेन स्वार्थे वृत्त्यभावप्रसङ्गात् । न च घटादौ स्त्रीलिङ्गशब्दस्यापि प्रवृत्तिप्रसङ्ग इति वाच्यं, पङ्कजशब्दस्येव क्वचिदेव प्रवृत्तेरिष्टत्वात् । एवं पुंस्त्वस्त्रीत्वयोरप्यभावाच्छिवतत्त्वस्य नपुंसकलिङ्गेन ब्रह्मेत्यनेन शब्देन व्यवहारः, न च नपुंसकत्वसद्भावात्, कुण्डमित्रादिशब्दानां तदभावेन स्वार्थे वृत्त्यभावप्रसङ्गात् । तथा पुरुषादिशब्दानामितररूपासत्त्वाद् निमित्तात् प्रवृत्तिर्ज्ञेया, लाघवस्य सद्भावादात्मनि च पुंस्त्वरहिते वृत्तिसद्भावाच्चेति । तस्मान्महेश्वरीमहेश्वरयोर्भेदाभावादुपपन्नमुभयाद्वितीयत्ववचनमिति । तदुक्तं बृंहण्याम्—'शिवो देवः शिवा देवी शिवं ज्योतिरिति त्रिधा । अलिङ्गमपि यत्तत्त्वं लिङ्गभेदेन कथ्यते ॥" इति । भगवता श्रीबादरायणेन सनत्सुजाते चोक्तं—'सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्ते ब्रह्म तद् यशः । भूतानि जज्ञिरे तस्मात् प्रलयं यान्ति तत्र च ॥" इति । पुंस्त्वाद्यभावश्च । "नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः ।" इत्यादि श्वेताश्वतरश्रुतेः, 'न च स्त्री न पुमानेष न चैवेदं नपुंसकम् ।" इत्यादिश्रीवायवीयागमाच्च सिद्धः । कथं तर्हि भेदेन नमस्कार इति चेत् । शिवोपलक्षितशक्तेः शक्त्युपलक्षितशिवाद् भेदोपपत्तेरिति ब्रूमः । शक्तिशक्तिमतोरभेदादद्वितीयतोपपत्तिः । न च धर्मधर्मिभावेन शक्तितद्वतोरभेदासंभव इति वाच्यम् । केवलभेदाभ्युपगमेऽस्यायं धर्म इति व्यपदेशाभावप्रसङ्गात् । न च सम्बन्धसद्भावात् तदुपपत्तिरिति वाच्यम् । सम्बन्धस्यापि

संबन्धान्तराभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात् । अनाश्रयणे च सम्बन्धस्य सर्वसाधारण्येनास्यायमिति व्यपदेशाभावः । तस्माद् धर्मधर्मिणोरभेदोऽभ्युपन्तव्य इति । कथञ्चिद् भेदस्यापि सद्भावेन भेदव्यवहारो मुखोदरादिभेदव्यवहारवदिति । शिवशक्त्योरभेदे हेतुमाह—चिद्रूपामिति । शिवश्चिद्घनः, इयं च चिद्रूपा चित्स्वरूपा चिन्मात्रेति न तयोर्भेदः इति । अयमर्थः शैवरहस्ये चोक्तः—"अग्न्यौष्ण्यवदद्वैधं द्वैधं च मिथः कथञ्चन दधाते । शक्तिशिवौ वस्त्वैक्यं मणिप्रभावद् यतो युक्तम् ।" इति । आद्यामिति । अखिलकारणतया प्रथमोद्भूतामित्यर्थः । वक्ष्यति च—चिदचिदनुग्रहहेतोरि'ति । सिद्धान्तहृदये चोक्तम्—'सिसृक्षोराद्य उन्मेषः शक्तिसाम्यात्मकोऽस्य यः । तदुपाधिः शिवः शक्तितत्त्वमित्यभिधीयते ।" इति । सर्वात्मनास्मि नत इति । मनसा वाचा कर्मणा प्रपन्नोऽस्मीत्यर्थः ।। ३ ।।

वृत्तिः

इदानीम् अधिकारावस्थायामपि शिवस्य शक्तिरेव करणमित्याह—

शक्त्यात्मनैव करणेनात्मनां भोगमोक्षसिद्धये शिवः पञ्चविधकृत्यकरणे शक्तस्समर्थो भवति । न तद्व्यतिरिक्तेन करणान्तरेण । ननु देहेन्द्रियरहितस्य कर्तृत्वं न दृश्यते इति चेन्न । तद्रहितस्यात्मनश्शक्तिमात्रादेव स्वदेहस्पन्दादौ सामर्थ्यदर्शनात् । उक्तञ्च—'करणन्तु न शक्त्यन्यत्' इति । एकामित्यनेनास्या इच्छादिभेदो वामादिभेदश्च ज्ञेयकार्याद्युपाधिभेदेनोपचारान्न तु परमार्थत इति दर्शयति 'एकैवानेकतां याति शिवशक्तिरुपाधित' इति श्रुतेः । चिद्रूपामित्यनेन कार्यभेदोऽपि मायादिवन्नास्याः परिणाम इति दर्शयति तस्य जडधर्मत्वात् । आद्यां प्रधानभूताम् । समवेताम् । अनेन परिग्रहशक्तिस्वरूपं बिन्दुमायात्मकमप्यस्य बाह्यं शक्तिद्वयमस्तीति सूचयति । उपादानं विना जगदुत्पत्त्ययोगात् । वक्ष्यति चात्र-कर्त्रा विना न कार्यं न तथोपादानकरणाभ्याम् इति ।। ३ ।।

लोकानुग्रहहेतोः करुणारसनिर्भरेण चित्तेन ।
तत्त्वप्रकाश एषोऽस्माभिः क्रियते[1] समासेन ॥ ४ ॥

---

१. एष क्रियतेऽस्माभिः ।

विश्वकल्याण के लिये, करुणा से अत्यन्त द्रवित चित्त होकर संक्षेप में हम यह तत्त्वप्रकाश नामक ग्रन्थ रच रहे हैं अथवा शैवदर्शन के प्रतिपाद्य तत्त्वों का निरूपण कर रहे हैं ॥ ४ ॥

तात्पर्यदीपिका

एवमिष्टदेवतास्तुत्यादिना निरस्तसमस्तान्तरायः शास्त्रकर्ता विषयसम्बन्धप्रयोजनवच्छास्त्रं कर्तुं प्रतिजानीते ।

इति । लोकानुग्रहहेतोरिति । लोकानां पशूनामनुग्रहोऽपवर्गः तदर्थमिति प्रयोजननिर्देशः । तदनभिधाने शास्त्रस्याग्रहणं स्यादिति । तदुक्तं भगवता भट्टपादेन—'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वाऽपि कस्यचित् । यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते ॥'' इति । वक्ष्यति च—'चिदनुग्रहस्त्वयं किल' इति । लोकानुग्रहहेतोः एष तत्त्वप्रकाश इत्युक्तेः शास्त्रप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावसम्बन्धसिद्धिः, अन्यथा तादर्थ्यासम्भवात् । तत्त्वानि प्रकाश्यन्ते प्रदर्श्यन्ते येन शास्त्रेण स तत्त्वप्रकाश इत्यनेनास्य शास्त्रस्य विषयः प्रतिपादितः । तत्त्वानामत्र प्रतिपाद्यमानतया विषयत्वात् । ननु च शास्त्रात् प्रतिपद्यमानतत्त्वविषयज्ञानमुत्पद्यते । अतः कथमस्यापवर्गसाधनत्वमिति चेदुच्यते । तत्त्वज्ञानस्यावान्तरव्यापारत्वेन शास्त्रस्य तत्साधनत्वोपपत्तेः । तथाहि—शास्त्रश्रवणात् तत्त्वज्ञानं ज्ञास्त्रविषयमुत्पद्यते । तस्मिन् सत्यज्ञानान्यथाज्ञानयोर्निवृत्तिः । ततस्तन्मूलरागाद्यभावः । ततस्तत्कार्या प्रवृत्तिर्निवर्तते । ततो धर्माधर्मयोरनुत्पत्तिः । पूर्वोत्पन्नयोः सञ्चितयोः दीक्षाकर्मणा विनाशः । आरब्धकार्ययोस्तयोरस्तशरवद् विनियुक्तत्वादुपभोगादेव प्रक्षयः । ततः शरीराद्युपाधिविरहाज्जीवात्मनः शिवस्वभावस्व घटाकाशस्य तदुपाधिघटविनाशे परमाकाश इव परमेश्वरे शिवे लयोऽपवर्गाख्यो भवतीति । एतदुक्तं श्रीकौर्मे–'घटाकाशमिवाकाशे सरित्तोयमिवार्णवे । जीवो मे विलयं यातु शिवाख्ये परमात्मनि ॥'' इति । शिवधर्मोत्तरे च—'जगतस्तत्त्वसंबोधादज्ञानं विनिवर्तते । अज्ञानविनिवृत्तौ च रागादीनामसम्भवः ॥ रागाद्युपशमात् पुंसां पुण्यपापपरिक्षयः । तत्क्षयाच्च शरीरेण न पुनः सम्प्रयुज्यते ॥ अशरीरं च संक्लेशैः सर्वैरेव न बाध्यते । क्लेशमुक्तः प्रसन्नात्मा मुक्त इत्यभिधीयते ॥'' इत्यादि । तस्मात् शास्त्रात् तत्त्वज्ञानद्वारेणापवर्गो भवतीति सिद्धम् । ननु च यद्यस्मादेव शास्त्रात् तत्त्वज्ञानोत्पत्तिः, तर्हि शास्त्रकर्तुस्तत्त्व-

ज्ञानाभावप्रसङ्गः, प्राक्शास्त्राभावात् । न च शास्त्रकरणानन्तरं तच्छ्रवणात् तस्य तत्त्वज्ञानमिति वाच्यम्, तज्ज्ञानाभावे तत्त्वप्रतिपादकशास्त्रकर्तृत्वस्यैवासम्भवात् । न ह्यज्ञातेऽर्थे शब्दप्रयोगो घटत इति । नैतदेवम् । किरणपारमेश्वरादिषु तत्त्वानां प्रतिपादितत्वेन तच्छ्रवणात् तस्य तत्त्वज्ञानोपपत्तेः । न चास्मदादीनामपि तथा तत्त्वज्ञानोपपत्तेरनारम्भणीयमिदं शास्त्रमिति वाच्यम् । अस्मदादीनां तथाविधप्रज्ञासामर्थ्याभावेन विप्रकीर्णतया विस्तरेण च प्रतिपाद्यमानतत्त्वविषयज्ञानस्याशक्यसम्पादनत्वात् । अथ तत्त्वज्ञानस्यापवर्गसाधनत्वे समुत्पन्नतत्त्वज्ञानास्त्वनन्तरमेव मुच्यन्त इति शास्त्रकरणतद्व्याख्यानाद्यसम्भवाद् अस्मदादीनां तत्त्वज्ञानासम्भवः । अथ शास्त्रकर्ता तदर्थमवतिष्ठत एवेति चेत् न, तर्हि तत्त्वज्ञानमपवर्गे साधनम् । तज्ज्ञानसद्भावेऽप्यपवर्गाभावादिति । नैष दोषः । शिवात्मज्ञानस्यापरोक्षभूतस्यापवर्गजनकत्वाभ्युपगमात् । तथा हि—श्रौते तत्त्वज्ञाने संजातेऽपि न भवत्यपवर्गः । निदिध्यासनसम्भवस्य ज्ञानापरोक्ष्यस्य तदानीमभावात् । श्रौते हि तत्त्वज्ञाने संजाते मननसापेक्षपुनर्निदिध्यासनसंभवं शिवात्मैकत्वविषयम् अपरोक्षज्ञानं देहादिविषयापरोक्षभूताज्ञाननिरसनात्मकमपवर्गमुपजनयति । तच्चापरोक्षभ्रमस्य परोक्षज्ञानेन निवृत्त्यसंभवात् । स चोदीच्यामुदित आदित्य इत्यपरोक्षदिग्भ्रमस्य तदुदयपूर्वकपूर्वदिक्त्वानुमानेन निवृत्त्यदर्शनादनुगम्यते । पुनश्चाभ्यासवशादपरोक्षज्ञानोद्भवे निवृत्तिदर्शनाच्चेति । तथा हि श्रुतयः श्रुतिशिरसि वर्तमाना एकमेवार्थमुपपादयन्ति । तथा च 'अरे आत्मा द्रष्टव्य' इति निर्द्वारेणापवर्गसाधनं शिवात्मदर्शनमेव विहितम् । तदुपायत्वेन श्रवणमनननिदिध्यासनानि विधीयन्ते 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इति । तेन न श्रवणमात्रजनितं विज्ञानमपवर्गसाधनम् । किन्तु निदिध्यासनसम्भवं शिवात्मदर्शनमिति गम्यते । एषां श्रवणादीनां सद्वारेण निर्द्वारेण चात्मदर्शनं प्रत्यङ्गत्वं ,'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः । ज्ञात्वा च सततं ध्येयः" इति 'एते दर्शनहेतव" इति सिद्धं च । अतो न शास्त्रकरणतद्व्यानाद्यसंभवः, तत्त्वज्ञानिनां यावदापरोक्ष्यमवस्थानाभ्युपगमादिति । न च शरीरादिव्यतिरिक्तात्मासत्त्वेनाधिकार्यभावात् स्वर्गापवर्गफलदमिदं शास्त्रमनारम्भणीयमिति वाच्यम् । शरीरादिव्यतिरिक्तस्य नित्यस्य जीवात्मनः सद्भावस्य वक्ष्यमाणत्वात् । न च मोक्षतत्साधनप्रतिपादकशास्त्रान्तरसम्भावनादनारम्भणीयमिदं शास्त्र-

मिति वाच्यम् । शास्त्रान्तराणां शिवतत्त्वाप्रतिपादकानां "यदाचर्म-वदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ।" इत्यारणवाक्येन श्वेताश्वतरेणापवर्गहेतुताप्रतिक्षेपा-च्छिवप्रतिपादकानां चेतरतत्त्वव्यावृत्त्यात्मकशिवज्ञानविधायकवाक्यै-रपवर्गहेतुता प्रतिक्षिप्ता । तथा हि—द्विविधमिह शिवज्ञानमपवर्ग-कारणम् इतरव्यावृत्त्या स्वरूपतश्चेति । श्रुतिस्मृत्योस्तथा विधानात् : 'आत्मा ज्ञातव्यः', 'प्रकृतितो विवेक्तव्यः', 'अन्यदेव तद्विदिताद् अथो अविदिताद्' इत्याद्याः श्रुतयः इतरव्यावृत्त्या, 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्', 'आनन्दं', 'प्रज्ञानं ब्रह्मे' त्यादयः स्वरूपतोऽपि विज्ञानं प्रतिपादयन्ति । "नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो नभः । न प्राणो न मनोऽव्यक्तं न शब्दः स्पर्श एव वा ।। न रूपरसगन्धाश्च नाहंकर्ता न वागपि । न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थं द्विजोत्तमाः ।। न कर्ता न च भोक्ता वा न च प्रकृतिपुरुषौ । न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः ।।" इत्याद्याः स्मृतय इतरव्यावृत्त्या, "आत्मायं केवलः स्वच्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः । अस्ति सर्वान्तरः साक्षी चिन्मात्रस्तमसः परः ।" इत्याद्याः स्वरूपतः शिवात्मज्ञानं प्रतिपादयन्तीत्युभयथा विज्ञानस्या-श्रयणीयत्वात् । तथाविधविज्ञानसाधनमिदं शास्त्रमारम्भणीयमिति सिद्धम् । करुणारसनिर्भरेण चित्तेनेति । करुणायाः संजातो रसः करुणारसः अनुजिघृक्षा । अथवा करुणा चासौ रसश्चेति । तेन निर्भरं विश्रृङ्खलं यत् तत् करुणारसनिर्भरं, तेन । चित्तेन मनसा । न ख्याति-लाभपूजार्थं शास्त्रकरणं, किन्तु केवलं करुणानुन्नमानसैरस्माभिः क्रियत इत्यर्थः । आत्मनि गुरुषु बहुवचनविधानादस्माभिरिति बहुवचननिर्देशः । समासेनेति शैवागमेषु विप्रकीर्णतया विस्तरेण चोक्तानां तत्वानां मन्दबुद्ध्यनुग्रहार्थं समासेन संश्लेषणेन, संक्षेपेण वेत्यर्थः" ।। ४ ।।

शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात् त्रितयम् ।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशः[1] ।। ५ ।।

शैवागम (ग्रन्थों) में प्रधानतः पति, पशु और पाश ये तीन (तत्त्व) क्रमशः (निरूपित हैं ।) वहाँ (आगमों में). अथवा उन तीनों में से 'पति'

१. पाशाः ।

शिव को कहा गया है, पशु अणु अर्थात् जीव हैं और (मल-रोधशक्ति आदि) पाँच अर्थसमूह पाश हैं ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

तत्त्वप्रकाशः कियत इत्युक्तं, तत्रेदमाशङ्कते—कानि तानि तत्त्वानि, कियन्ति चेति। एकादिषट्त्रिंशान्तं बहुभिराचार्यैर्बहुधा तत्त्वानां प्रतिपादितत्वादाशङ्कासमुद्भवः। तामाशङ्कामपनेतुमाह।

शैवेति। अयमभिप्रायः—एकादिषट्त्रिंशान्तेषु तत्त्वपक्षविशेषेषु सर्वेष्वपि मुख्यत्वादनभ्युपगमे दोषप्रसङ्गाच्च पतिपशुपाशात्मकत्रैविध्यमाश्रयणीयम्। तथा हि—पशोः संसारिणोऽनभ्युपगमे धर्माधर्मजन्ममरणसुखदुःखानुभवलक्षणस्य संसारस्य तन्निवृत्तिलक्षणस्य चाश्रयाभावादसत्वं, तत्प्रतिपादकश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादेश्च निर्विषयतयाऽप्रामाण्यप्रसङ्गश्च स्यात्। तथा पाशानां संसारहेतुभूतानां मलकर्ममायाख्यानामभावे शरीरादेरभावे स्वर्गनरकगमनजन्ममरणादेरभावप्रसङ्गः। आत्मनो निष्क्रियस्य तदखिलासंभवात्। तथा पत्युः परमेश्वरस्याभावे जगत्सृष्टिस्थितिध्वंसधर्माधर्मबन्धमोक्षविचारादेरसंभवः, जीवानामसर्वज्ञानां शरीररहितानां तदसंभवात् तस्मात् तत्वत्रैविध्यं सर्वेष्वपि पक्षविशेषेष्वभ्युपेयमिति। ननु तत्त्वैकत्वद्वित्वपक्षयोः तस्मात् तत्वत्रैविध्यं सर्वेष्वपि पक्षविशेषेष्वभ्युपेयमिति। ननु तत्त्वैकत्वद्वित्वपक्षयोः 'तदाश्रयणम्। उपाधिभेदकृतभेदसद्भावादिति ब्रूमः।' तथाहि—एकमेव जलतत्त्वमुपाधिवशात् तरङ्गफेनबुद्बुदात्मनाऽप्रच्युतस्वभावं यथा त्रैविध्यभागवगम्यते, तथाऽयं शिवोऽप्यप्रच्युतस्वस्वभावस्त्रैविध्यं पतिपशुपाशात्मकमनुभवति। तदुक्तं शैवरहस्ये—"अनुभवति हि पशुभावं शिव एवाणवतिरोहितात्मगुणः। सोऽपि मलो यः कश्चन शक्तिलवः सर्वथा शार्वः॥" इति। प्रकृतिपुरुषात्मना द्वैविध्ये प्रकृतितदुपहितानुपहितात्मना त्रैविध्यसम्भव इति षट्त्रिंशान्तेषु चतुष्ट्यादिषु चेतरतत्त्वानामत्रैवान्तर्भावात् तत्त्रैविध्योपपत्तिः। तथाहि—पत्यौ शुद्धानां तत्त्वानामन्तर्भावः। मायाकार्याणां शुद्धाशुद्धानां पाशावन्तर्भावः। अव्यक्तादिपृथिव्यन्तानां केवलाशुद्धानां पाशे इति। तदुक्तं शैवरहस्ये—"पत्यौ शिवस्वभावाः सर्वे सर्वात्मना प्रकाशन्ते। केचन पाशेषु पशुषु चान्तर्दधते निरवशेषम्।" इति। अत एवास्य त्रितयस्य मुख्यत्वम्।" अन्येषामत्रैवान्तर्भावात्। अथवा क्रमान्मुख्यत्वम् इति।

ननु कथमेतदवगम्यत इत्यत आह—शैवागमेष्विति । ते च—"कामिकं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं परम् । दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं च अंशुमान् सुप्रभेदकम् ।। विजयं चैव निःश्वासं स्वायंभुवमतः परम् ।। वीरं च रौरवं चैव मकुटं विमलं (विद्रुमं) तथा ।। चन्द्रज्ञानं च बिम्बं च प्रोद्‌गीतं ललितं तथा । सिद्धं सन्तानसर्वोक्तं पारमेश्वरमेव च ।। किरणं वातुलं चैव त्वष्टाविंशतिसंहिताः । मूलभेदमिति ख्यातमसंख्यमुपभेदकम् ।" एषूक्तत्वादिति । तथा हि पारमेश्वरे तावत्—"पाश्यः पाशयिता पाशास्त्रयमेतद् व्यवस्थितम् ।" इति । किरणे च—"पशुपाशपतिज्ञानविचारप्रतिपादकम् । किरणाख्यं महत् तन्त्रम् ।" इत्यादि । श्रीवायवीये च—'अजडं च जडं चैव नियन्तृ च तयोरपि । पशुः पाशः पतिश्चेति कथ्यते त्रितयं क्रमात् ।' शैवेति शिवप्रणीतत्वविशेषणेनागमानां प्रामाण्यं सूचितम् । तथाहि—शिवाय सर्वज्ञतया ज्ञानान्यथाऽज्ञानं रागद्वेषादेरप्रामाण्यवाक्यरचनाहेतोरभावात् तद्रचितानामागमानां सिध्यत्येव प्रामाण्यम् । न हि सर्वज्ञस्याज्ञानं संभवतीत्यज्ञानादप्रमाणवाक्यरचनेति वक्तुं न शक्यते । अज्ञानाभावादेव तन्मूलरागद्वेषादेरभावात् तन्मूलाप्रमाणवाक्यरचनासम्भवः । तस्मात् क्षीणदोषतयाप्तेन महेश्वरेण रचितानां प्रामाण्यसद्भावात् तदुक्तप्रमेयतथात्वमभ्युपेयमिति । तदुक्तं शिवधर्मोत्तरादौ—'विधिवाक्यमिदं शैवं नार्थवादः शिवात्मकम् । लोकानुग्रहकर्त्ता यः स मृषार्थं कथं वदेत् ।। सर्वज्ञपरिपूर्णत्वादन्यथा केन हेतुना । ब्रूयाद् वाक्यं शिवः शान्तः सर्वदोषविवर्जितः ।। यद् यथावस्थितं वस्तु गुणदोषैः स्वभावतः । यावत्फलं च यत् पुण्यं सर्वज्ञस्तत् तथा वदेत् ।। रागाज्ञानादिभिर्दोषैर्ग्रस्तत्वादनृतं वदेत् । ते चेश्वरे न विद्यन्ते ब्रूयात् स कथमन्यथा ।। अपास्ताशेषदोषेण सर्वज्ञेन शिवेन यत् । प्रणीतममलं वाक्यं तत् प्रमाणं न संशयः ।। तस्मादीश्वरवाक्यानि श्रद्धेयानि विपश्चिता । यथार्थं पुण्यपापेषु तदश्रद्धो व्रजत्यधः ।।" इति । नन्वीश्वरप्रणीततागमानां कुतोऽवगम्यते । तदागमैरेवेति चेत् । तदेतरेतराश्रयता । अथागमस्य प्रमाणभूतस्याप्तकर्त्रपेक्षायां तदन्यस्यातीन्द्रियार्थदर्शिनः कर्तृत्वासंभवाच्च सर्वेश्वरस्य सर्वकर्तुः सर्वज्ञस्यागमकर्तृत्वं निश्चीयते इति चेत्, नैवम् । आगमप्रामाण्यानिश्चयादेवं कल्पनानुपपत्तेः । तथा आप्तान्तराप्रणीतत्वे प्रमाणाभावादतीन्द्रियार्थदर्शिनः कर्तृत्वाविरोधाच्च न शिवप्रणीतत्वविशेषणस्यार्थवत्त्वमिति । नैतदेवम् । आगमस्य प्रतिपत्ति-

सामर्थ्यात्मिकात् प्रमाणान्तरात् प्रामाण्यसिद्धेः। तथा हि—द्विविधो ह्यागमः, दृष्टार्थोऽदृष्टार्थश्चेति। तत्र दृष्टार्थानां चित्रायागविधायकवाक्यसदृशानां तदुक्तकर्मानुष्ठानेन तदुक्तफलसंभवदर्शनात् प्रामाण्यमनुमाय तत्कर्तुरतीन्द्रियार्थदर्शित्वेन परमाप्तत्वनिश्चयेऽन्येषामदृष्टार्थानाम् अपि तत्कर्तृकतया दृष्टार्थवाक्यवत् प्रामाण्यमनुमीयत इति। न च पूजाजपादिविशिष्टकर्मणां विशिष्टतत्तत्फलसाधनतामध्यक्षतोऽवगच्छन्नागमकर्ता भवेदसर्वज्ञः, एतद्दर्शिनो ह्यदृश्यवस्त्वन्तराभावात्। न चानुमानादिममर्थमुपलभ्य तत्र वाक्यरचनेति वाच्यम्। व्याप्तिग्रहणलिङ्गादेरसम्भवात्। अनुमानं हि लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षतो व्याप्तिग्रहणे सति लिङ्गमात्रदर्शनादुपजायमानं लिङ्गिविज्ञानमाह। तथाहि—प्रत्यक्षतो महानसादौ धूमाग्न्योर्लिङ्गलिङ्गिनोरविनाभावे गृहीते देशान्तरे पर्वतादौ धूमदर्शनादग्न्यनुमानं प्रवर्तमानं दृष्टम्। तदत्र फलकर्मणोः साध्यसाधनभावस्य लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षतया लिङ्गानुपलम्भाच्च व्याप्तिग्रहणासंभवान्नानुमानसंभव इत्यनुमानमूलता नागमानाम्। नाप्यागमान्तरमूलता। तस्यापि पौरुषेयत्वेनागमान्तरमूलताभ्युपगमेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। न च वेदव्यतिरिक्तमपौरुषेयं वाक्यं पश्यामः। येन तन्मूलता कल्प्येत। तस्मान्नागमान्तरमूलता आगमानाम्। न च योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शिनामागमकर्तृत्वमिति वाच्यम्। तेषां महेश्वरप्रसादापेक्षसर्वज्ञतया तदुपायदीक्षापूर्वकपूजाद्यावेदकागमानां सद्भावस्य प्रागेवाश्रयणीयत्वाद् जगत्कर्तुः शिवादन्यस्यागमकर्तृत्वकल्पनायां गौरवापाताच्च स एवागमानामपि कर्तेति कल्प्यते। न च परस्परविरुद्धधर्मप्रतिपादकागमानां एकाप्तकर्त्रभ्युपगमासंभवादनेकाप्तकर्त्रभ्युपगमप्रसङ्ग इति वाच्यम्। वर्णाश्रमाद्यधिकारिभेदवशेन वेद्यस्य चैकस्यैव शिवस्य करुणानिधेर्विरुद्धधर्मोपदेशोपपत्तेरिति नेतरेतराश्रयत्वादिदोषः। न च लोकपरिग्रहे स्यादन्योन्याश्रयत्वमिति वाच्यम्। तस्य प्रामाण्यपरिज्ञानमूलत्वाभावात्। तथाहि—"प्रथमं तावद् आगमान् विरचय्य ब्रह्माणं स्वसुतं महेश्वरो ग्राहयामास। ततः स्वसुतान् ब्रह्मा, ततस्तेऽपि स्वसुतानिति, वेदपरिग्रहवदागमपरिग्रहोपपत्तेर्नोक्तदोषावकाशः। ननु शिवप्रणीततयागमप्रामाण्यं पूर्वमुपवर्णितम्। सम्प्रति प्रतिपत्तिसामर्थ्यादिति पूर्वापरविरोध इति चेद्, न। उत्पत्तिज्ञप्त्यपेक्षया उभयोरप्युपपत्तेः। तथाहि—शिवप्रणीततयागमानां प्रामाण्यमुपजातं तत्प्रतिपत्तिसामर्थ्येनावगम्यत इति न कश्चिद्विरोधः।

वेदमूलत्वाद् वागमप्रामाण्यम्। तदानीमपि शिवप्रणीतत्वादागमप्रामाण्यं द्रढयति, शिवदृष्टस्य वेदार्थस्याबाध्यत्वादिति। स चागमो द्वेधा, प्रत्यक्षश्रुतिमूलोऽनुमेयश्रुतिमूलश्चेति। तत्र प्रत्यक्षश्रुतिमूलानाम् आगमानाम् प्रत्यक्षश्रुतिमूलवत् प्रामाण्यम्। अनुमेयश्रुतिमूलानाम् अष्टकादिश्रुतिमूलवदिति आगमेषु प्रतिपाद्यमानानामर्थानां श्रुतिषूपालम्भात् तन्मूलतागमानामवगम्यते। तथाहि—'रुद्रोऽवश्यं यष्टव्य' इति श्रुतिवाक्याद् रुद्रयागकर्तव्यताऽवभासते। तत्र करणादिकं मन्त्रार्थवादावगतमागमैः प्रतिपाद्यत इति तन्मूलतागमानाम्। तथाहि—'तमुष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा य' इत्यत्र पूजास्तुतिनमस्कारादे रुद्रगोचरस्य महत्सौख्यनामकापवर्गं प्रति हेतुतावगम्यते। 'अन्तरिच्छन्ती' त्यत्र ध्यानजपौ रुद्रविषयौ कर्त्तव्यौ इत्यवगम्यते। 'यज्ञं रुद्राय मीढुषे' इत्यत्र पान्तं पानीयं सोमाख्यमन्धोहवी रुद्राय हरध्वमित्यवगम्यते। एवं शतरुद्रीयनीलरुद्रसूक्तश्वेताश्वतरेशावास्याथर्वशिरस्तच्छिखारौद्रसूक्तारणादिष्वागमप्रतिपाद्यमानानामर्थानां सद्भावो द्रष्टव्य इति। अत्र प्रयोगाः—विवादपदं तन्त्रशास्त्रं प्रमाणं, यथार्थत्वात् सम्प्रतिपन्नवाक्यवद्। तथा तन्त्रशास्त्रं प्रमाणम्, आप्तोक्तत्वात्, यद्यदाप्तोक्तं तत्तत्प्रमाणं, यथा पुराणादि, तथेदमाप्तोक्तम्, तस्मात् प्रमाणम्। तथागमाः शिवप्रणीताः, तदन्याजन्यकार्यत्वाद्, यद्यत् तदन्याजन्यकार्यं तत्तच्छिवप्रणीतं, यथा प्रपञ्चः। तथा चैते। तस्माच्छिवप्रणीताः। तन्त्रशास्त्रं कार्यं, वेदान्यवाक्यत्वात्, यद्यद् वेदव्यतिरिक्तं वाक्यं तत्तज्जन्यं दृष्टम्। यथा भारतादि। न च प्रपञ्चस्य शिवप्रणीतत्वासिद्धेः साध्यविकलो दृष्टान्त इति वाच्यम्। तस्योपरिष्टादुपपाद्यमानत्वात्। तथा तन्त्रशास्त्रं प्रमाणं, वेदमूलत्वाद्, मन्वादिस्मृतिवत्। तद् वेदमूलं च, तदुक्तार्थप्रतिपादकत्वाद्, मन्वादिस्मृतिवदिति। अथ, शास्त्रमप्रमाणम्, अनाप्तकृतत्वात्, सम्प्रतिपन्नवदिति प्रत्यनुमानबाधादोषप्रसङ्ग इति चेत्, नैवम्। विकल्पानुपपत्तेः। तथाहि—अनाप्तकृतत्वादित्यस्य कोऽर्थः। यद्याप्तेनाकृतत्वम्, आहोस्विदनाप्तेन कृतत्वम्। यद्याद्यः पक्षः, तर्हि वेदवाक्यैर्व्यभिचारः, तेषां प्रमाणभूतानामेवाप्तेनाकृतत्वहेतोः सद्भावात्। असिद्धश्चायं हेतुः, आप्तकृतत्वस्य साधितत्वात्। यद्युत्तरः पक्षः, तदा चाप्तकृतत्वादेवासिद्धता। न चानाप्तरचिता आगमाः, वेदविरुद्धत्वाद् बौद्धाद्यागमवदिति साधयितुम् शक्यत्वान्नासिद्धतेति वाच्यम्। वेदार्थ-

प्रतिपादकतया वेदमूलानामागमानां वेदविरुद्धत्वस्याप्यसिद्धत्वात्। तस्माच्छैवागमेषूक्तत्रैविध्यादिकं मार्कण्डेयागस्त्यरामदधीचादिसकलशिष्टजनैः परिगृहीतत्वाच्चादरणीयमिति।

पतिपशुपाशा इति। पतिश्च पशवश्च पाशाश्चेति तथोक्ताः। के ते इत्याकांक्षायामाह—तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशः इति। तत्र तेषां मध्ये पशूनां पालनात् पतिशब्देन शिव उक्तोऽभिहितः। पशवो ह्यणवः अणुत्वसम्पादकमलादिसम्बन्धिनः। शिवस्वभावा जीवाः पशवः न चतुष्पाद एव, द्विपदां च पशुत्वश्रवणात्। तथाहि—'एतावन्तो वै पशवो द्विपादश्चतुष्पादश्च। यो वामिन्द्रावरुणा द्विपात्सु पशुषु यो वा चतुष्पात्सु पशुष्वि'त्यादिश्रुतेः। तेषामीश्वरत्वाद् भगवतः शिवस्य पशुपतित्वं, "येषामीशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत च द्विपदामिति" श्रुतेः। लैङ्गोपरिभागे च—"ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य धीमतः पशवः परिकीर्त्यन्ते संसारवशवर्तिनः॥ तेषां पतित्वाद् भगवान् रुद्रः पशुपतिः स्मृतः।" इति। ननु केन कारणेन जीवात्मनां शिवस्वभावानां मलादिपाशसम्बन्ध इति चेदुच्यते। मलपाशसम्बन्धात् कर्मपाशसम्बन्धः। तत्सम्बन्धान्मायापाशसम्बन्धः। मलपाशसम्बन्धस्य त्वनादित्वेन न कारणापेक्षा। यस्य वस्तुनः आदिमत्त्वं तस्यैव हि कारणापेक्षित्वम्। अस्य त्वनादित्वान्न कारणापेक्षेति। तदुक्तं किरणे—"अनादिमलसम्बन्धान् मलिनत्वमणौ स्थितम्। अनादिमलमुक्तत्वान्निर्मलत्वं स्थितं शिवे॥ आदिमत्वं यदा सिद्धं निमित्तं कथ्यते तदा। ईदृग्रूपं स्मृतं ताभ्यां शुद्धाशुद्धं यथार्थतः। विशुद्धः स्फटिकस्तस्मात् ताम्रं (तावत्) सकालिकम्॥ यथास्मिन्न निमित्तं स्यात् तथा न स्याच्छिवात्मनोः।" इति। ननु तर्हि पशूनां शिवत्वाभावप्रसङ्ग इति चेत्। नैवम्। तेषां शिवस्वभावत्वे श्रुत्यादिप्रमाणसद्भावस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अत एव पाशबद्धत्वात् पशुत्वम्। तेन किञ्चित्कर्तृत्वादिनाणुत्वं, न परमाणुवदवस्थानात्। तेषामव्यापकत्वेन तदसंभवादिति।

अर्थपञ्चकं पाश इति। अर्थानां मलकर्मसूक्ष्मस्थूलमायापाशानुग्राहकशिवशक्तीनां पञ्चकमर्थपञ्चकं, तत्पाशाख्यं तत्त्वमिति। तदुक्तम्—"मलं कर्म च माया च मायोत्थमखिलं जगत्। तिरोधानकरी शक्तिरर्थपञ्चकमुच्यते।" इति। ननु अर्थपञ्चकं पाश इतीह प्रतिपादितम्।

शास्त्रान्तरे तु पाशानां त्रैविध्यमुक्तमिति विरोधः। तथा हि शैवरहस्ये तावत्—"सहजमनादि मलं स्यात् पाशेषु त्रिष्वपि प्रधानतमम्। कर्म च माया च मले सति पाशतया प्रवर्तेते॥" इति प्रयोगमञ्जर्यां च—'पाशास्त्रयो निगलयन्ति' इति। नैवम्। ईश्वरशक्तेः पाशानुग्राहितयैव पाशत्वाभिधानान्मायापाशस्य स्थूलसूक्ष्मात्मना द्वैविध्येन च पञ्चधा भेदाभिधानात् इति।

अध्वपञ्चकं पाश इति केचित् पठन्ति। तदाध्वनां षण्णां तत्त्ववर्णमन्त्रभुवनपदकलानां पञ्चकमध्वपञ्चकं पाश इति। तदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

"शिवः पशुपतिः प्रोक्तः पशवो ह्यणवो मताः।
ते पाशबन्धात् (द्धाः) पशवः पाशः स्यादध्वपञ्चकम्॥
अध्वानस्तत्त्वभुवनकलार्णपदमन्त्रकाः।
यैरमी पुरुषा बद्धाः संसरन्ति भवाद् भवम्॥
मलादिजाः षडध्वानः तत्त्वाद्यास्ते च पञ्चधा।
निवृत्त्यादिविभागेन तदुक्तं ह्यध्वपञ्चकम्॥" इति।

गुरुदेवपद्धतौ च—"अथाध्वनां क्रमादेषां व्याप्तिः सम्यङ् निगद्यते।
पृथ्वीतत्त्वं क्षवर्णश्च मन्त्रौ हृदयसद्यकौ॥
कालाग्निरपि कूश्माण्डहाटकौ ब्रह्मवैष्णवे।
रौद्रं च भुवनान्यन्तर्ब्रह्माण्डस्य भवन्ति षट्॥
अण्डाद् बहिः शतं रुद्रा दशदिक्षु व्यवस्थिताः।
कपालीशो ह्यजो बुद्धो वज्रदेहः प्रम[1]र्दनः॥
विभूतिरव्ययः शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिपः।

प्राच्यां दिशि—'अग्नी रुद्रो हुताशश्च पिङ्गलः खादको हरः।
ज्वलनो वहनो बभ्रुः भस्मान्तश्च क्षयात्मकः।'

आग्नेय्यां दिशि—यमो मृत्युर्हरो धाता विधाता च तथापरः॥
कर्ता चैव च संयोक्ता नियोक्ता धर्म एव च।
तद्वद् धर्मपतिस्तत्र दशमो दक्षिणे स्थिताः॥
निर्ऋतिर्मारणो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः।
ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूम्रलोहितदंष्ट्रिणः॥'

---

१. (त),

नैर्ऋत्यां—“बलो ह्यतिबलश्चैव पाशहस्तो महाबलः ।
श्वेतोऽथ जयभद्रश्च दीर्घहस्तो बलान्तिकः ॥
वारुण्यां मेघनादश्च सुनादश्च प्रकीर्तितः ।
शीघ्रो वायुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णः क्षयान्तकः ।
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः ।’

वायव्यां—‘निधीशो रूपवान् धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ॥
लक्ष्मीधरो रत्नधरः श्रीधरश्च प्रसाधनः ।
प्रकामो दशमश्चेति कौवेर्यां दिशि संस्थिताः ॥
विद्याधिपेशसर्वज्ञा ' ज्ञानभुग् वेदपारगः ।
सुरेशशर्वज्येष्ठाश्च भूतपालो बलिप्रियः ॥

ऐशान्याम्—विषो विषधरोऽनन्तः क्रोधनो मारुताशनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरीशश्च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रिणौ ॥’

अधोभागे—शम्भुर्विभुर्गणाध्यक्षस्त्रियक्षस्त्रिदशेश्वरः ।
संवाहश्च विवाहश्च नभोलिप्सुः त्रिलोचनः ॥
तेषामुपरि रुद्राणां वीरभद्रो व्यवस्थितः ।
भद्रकाल्याश्च भुवनमेवमष्टाधिकं शतम् ॥
भुवनानि क्रमोक्तानि रुद्राणां स्वाख्यया पृथक् ।
मन्त्रावसानिकपदान्महादेवपदावधि ॥
विलोमतः पदानि स्युरष्टाविंशतिसंख्यया ।
इत्यध्वपञ्चकं षष्ठ्या निवृत्तिकलया समम् ॥
व्याप्तं सञ्चिन्तनीयं स्यादध्वषट्कं विभागतः ।
आपोऽग्निर्वायुराकाशो गन्धश्च रसरूपके ॥
स्पर्शः शब्दश्च वाक्पाणी पादपायुभगानि च ।
श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा घ्राणश्चेन्द्रियाणि च ॥
मनोऽहङ्कारबुद्ध्यन्तमन्तःकरणत्रयम् ।
सर्वेषां त्रिगुणाऽथ स्यात् प्रकृतिः कारणं परा ॥
त्रयोविंशतितत्त्वानि विलोमादिति संख्यया ।
हादिटान्तास्ततो वर्णास्त्रयोविंशति संख्यकाः ॥
शिरश्च वामदेवाख्यो मन्त्रौ तद्वत् पुराणि तु ।
षट्पञ्चाशत् क्रमेण स्युरमरेशादिनामभिः ॥

अमरेशं प्रभासं च नैमिशं पुष्कराषढी ।
डिण्डिमुण्डिर्भारभूतिरित्यष्टावम्बुतत्त्वके ।।
हरिश्चन्द्रश्च श्रीशैलो जल्पीशाम्रातकेश्वरौ ।
मध्यमेशो महाकालः केदारो भैरवस्तथा ।।
भुवनाष्टकमित्येतत् तेजस्तत्त्वे व्यवस्थितम् ।
गया चैव कुरुक्षेत्रं नोखलं कनखलं तथा ।।
विमलेशोऽट्टहासश्च महेन्द्रं भीमकेश्वरम् ।
इत्यष्टौ भुवनानि स्युर्वायुतत्त्वगतानि तु ।।
वस्त्रापदो रुद्रकोटिरविमुक्तो महालयः ।
गोकर्णो भद्रकर्णश्च स्वर्णाक्षः स्थाणुरित्यपि ।।
भुवनाष्टकमाकाशसंज्ञतत्वे व्यवस्थितम् ।
छगलण्डो द्विरण्डश्च मार्को गोमण्डलेश्वरः ।।
कालञ्जरं दारुवनं शङ्कुकर्णं स्थलेश्वरम् ।
प्रारभ्य गन्धतन्मात्रमहङ्कारान्तमध्वनि ।।
स्थितानि भुवनान्यष्टावेतानि तु यथाक्रमम् ।
पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं चैन्द्रसौम्यके ।।
प्राजेशं ब्राह्ममित्येतद् देवयोन्यष्टकं धियि ।
अकृतं च कृतं चैव भैरवं ब्राह्मवैष्णवे ।
कौमारमौ*मं श्रीकण्ठमिति योन्यष्टकं स्मृतम् ।
गुणप्रकृतितत्त्वे तु स्थिरमेतत् तु भौवनम् ।।
अष्टकैः सप्तभिस्त्वेवं षट्पञ्चाशद् यथाक्रमम् ।
भुवनानि स्थितान्येवं पदान्यप्येकविंशतिः ।।
महेश्वराख्यात् प्रारभ्य स्यादरूपिन्पदावधि ।
एवं पञ्चविधाध्वा स्यात् प्रतिष्ठाकलया समम् ।।
षष्ठ्या व्याप्तं विचिन्त्यं स्यात् षोढाध्वव्याप्तिरीदृशी ।
अथ विद्याकलायां तु पुरुषो राग एव च ।
अशुद्धविद्या च कला नियतिः काल एव च ।
माया च सप्त तत्त्वानि वर्णसप्तकसंयुतम् ।।
अकारादि घकारान्तं शिखा (वा) घोरौ च मन्त्रकौ ।
वामादिभुवनानि स्युः सप्तविंशतिसंख्यया ।।

---

१. 'नकं श्रीकमि' ।

वामो भीमस्तथैवोग्रो भवश्चेशान एव च ।
एकवीरश्च पुरुषः षडेते भुवनेश्वराः ॥
प्रचण्डोमापतिश्चाजौ ह्यनन्तश्चैकरुद्रकः ।
रागतत्त्वेस्थितं त्वेतद् भुवनानां तु पञ्चकम् ॥
क्रोधचण्डावशुद्धायां विद्यायां तु व्यवस्थितौ ।
नियत्यां ज्योतिसंवर्तौ ततः सूकरसंज्ञितः ॥
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिवदश्च कलागताः ।
महादेवो वामदेव उद्भवश्चैकपिङ्गलः ॥
एकनेत्रस्तथेशानो भुवनेशस्ततः परः ।
अङ्गुष्ठमात्र इति चाप्यष्टावेते स्थलेश्वराः ॥
कालतत्त्वे च मायायां भौवनी सप्तविंशतिः ।
व्यापिन्निति समारभ्य व्यानाहारपदावधि ॥
पदानां विंशतिश्चात्र स्याद् विद्याकलयाऽखिलम् ।
व्याप्तं सञ्चिन्तयेदेवं षड्विधाध्वव्यवस्थितिः ॥
अथ शान्तिकलायां स्याच्छुद्धविद्येश्वरावधि ।
सदाशिवश्च तत्त्वानि त्रीणि तस्यां स्थितानि हि ॥
वर्णास्त्रयः स्युर्गखका मन्त्रौ कवचपुरुषौ ।
अष्टादशैव भुवनान्यत्र वामादिसंज्ञया ॥
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च काली कलविकारिणी ।
बलाविकरणी चैव बलप्रमथिनी तथा ॥
सर्वभूतदमन्येका नवमी तु मनोन्मनी ।
शुद्धविद्याह्वये तत्त्वे स्थितान्येवमनुक्रमात् ॥
अनन्तेशश्च सूक्ष्मश्च ततश्चापि शिवोत्तमः ।
एकनेत्रश्चैकरुद्रस्त्रिमूर्तिस्तु तथाऽपरः ॥
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च भुवनानीश्वराह्वयम् ।
सदाशिवाख्यं भुवनं स्थितं तत्त्वे सदाशिवे ॥
पदान्येकादशात्रैव नित्ययोगिन आदितः ।
व्योमव्यापिपदान्तानि स्थितान्येवं तु पञ्चधा ॥
षष्ठ्या तु शान्तिकलया व्याप्तान्येवं विचक्षणैः ।
षड्विधाध्वमयी व्याप्तिर्बोद्धव्या क्रमशो भवेत् ॥
तथैव शान्त्यतीतायां शिवतत्त्वं व्यवस्थितम् ।
वर्णाः षोडश सर्गाद्याः स्वराः स्युस्ते विलोमतः ॥

अस्त्रेशानौ तथा मूलमन्त्रो मन्त्रा भवन्ति हि ।
निवृत्त्यादीनि भुवनान्यत्र पञ्चदशैव हि ॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
शान्त्यतीतेति हि कलाः स्युर्बिन्दौ भुवनानि हि ॥
इन्धिका दीपिका रोचिर्मोचिका चोर्ध्वगा तथा ।
भुवनानीति पञ्च स्युस्तानि नादकलाः खलु ॥
व्यापिनी व्योमरूपा चाप्यनन्ता चाप्यनाथया ।
अनाश्रिता चेति कलाः शाक्ताः स्युर्भुवनान्यपि ॥
मन्त्राद्यं प्रणवं यत् तद् विलोमेनान्तकं तु तत् ।
पदमेकं भवेदेवमध्वायं पञ्चधोदितः ॥
शान्त्यतीतकलाव्याप्तं विद्यादित्यध्वनां क्रमात् ।
षड्विधा व्याप्तिरुद्दिष्टा शैवागमविनिर्णयात् ॥
षडध्वज्ञानवान्मुच्येन्मोचयेच्च भवार्णवात् ।
एकत्राध्वा षड्विधैकादश स्यु-
मन्त्रास्त्वेकं चाप्यशीतिः पदानि ।
षट्त्रिंशच्चाप्यत्र तत्त्वानि वर्णाः
पञ्चाशत् स्युः पञ्चसंख्या कलेति ॥

अथ पदोद्धारः—

प्राक्पदं प्रणवं तत् स्यादेकवर्णं शिवात्मकम् ।
व्योमव्यापि चतुर्थ्यन्तं द्वितीयं पञ्चवर्णकम् ॥
तृतीयं व्योमरूपाय पञ्चार्णमपरं तथा ।
सर्वव्यापि चतुर्थ्यन्तं शिवायेत्यथ पञ्चमम् ॥
त्र्यक्षरं च विजानीयात् पञ्चाङ्गानि शिवस्य तु ।
अनन्तायेत्यनन्तस्य वाचकं चतुरक्षरम् ॥
अनाथायेति सूक्ष्मस्य पदं स्याच्चतुरक्षरम् ।
अनाश्रिताय पञ्चार्णं पदं शिवतमस्य तु ॥
ध्रुवायेति पदं त्र्यर्णमेकनेत्रस्य कीर्तितम् ।
शाश्वतायैकरुद्रस्य पदं स्याच्चतुरक्षरम् ।
योगपीठसंस्थिताय चाष्टार्णं तु त्रिमूर्तिनः ।
श्रीकण्ठस्य पदं नित्ययोगिने पञ्चवर्णकम् ॥
ध्यानाहाराय पञ्चार्णं पदमेतच्छिखण्डिनः ।
नमः शिवायेति पदं षड्वर्णं प्रणवादिकम् ॥

सर्वप्रभुश्चतुर्थ्यन्तं पञ्चार्णं पदसन्ततौ ।
शिवाय पदमन्यच्च चतुर्थ्यन्तं त्रिवर्णकम् ।।
पदमीशानमूर्धाय षड्वर्णं मुनिसत्तम् ।
तदीशानस्य बोद्धव्यं सप्तार्णं पुरुषस्य तु ।।
स्यात् तत्पूरुषवक्त्राय अघोरहृदयाय च ।
सप्तार्णं बहुरूपस्य तद्वद् वामस्य कीर्तितम् ।।
स्याद् वामदेवगुह्याय सद्यस्याप्यथ कथ्यते ।
सद्योजातमूर्तयेति सप्तवर्णमुदीरितम् ।।
प्रणवादि प्रयोक्तव्यं पञ्चार्णं च नमो नमः ।
गुह्यातिगुह्याय पदं षड्वर्णं द्व्यर्णकं परम् ।।
गोप्त्रे पदं चतुर्वर्णं मातङ्गे निधनाय तत् ।
अकारपूर्वं पञ्चार्णं चन्द्रज्ञाने प्रकीर्तितम् ।।
सर्वविद्याधिपायेति पदं स्यात् सप्तवर्णकम् ।
सर्वयोगाधिपूर्वं तु गतायेत्यष्टवर्णकम् ।।
ज्योतीरूपाय पञ्चार्णं पदमेतत् सुशोभनम् ।
परमेश्वरपूर्वं तु परायेत्यष्टवर्णकम् ।।
अचेतनाचेतनेति सप्तवर्णं पदं विदुः ।
व्योमिन्व्योमिश्चतुर्वर्णं व्यापिन्व्यापिस्तथा पदम् ।
अरूपिंश्च द्विरभ्यस्य षड्वर्णं पदमीरितम् ।
प्रथमेति द्विरभ्यस्तं षड्वर्णमपरं तथा ।।
तेजस्तेन इति प्रोक्तं चतुर्वर्णं पदं विभोः ।
ज्योतिर्ज्योतिः पदं तद्वत् विज्ञेयं चतुरक्षरम् ।।
त्र्यर्णं पदमरूपाख्यं तथानग्ने पदं शुभम् ।
त्रिवर्णं स्यादधूमाख्यमभस्माख्यं तथा पदम् ।।
अनादे त्र्यर्णमुद्दिष्टं नात्रयं धूत्रयं तथा ।
ओंभूस्तद् द्व्यक्षरं ज्ञेयमोंभुवश्च त्रियक्षरम् ।।
ॐ स्वोवर्णद्वयं चानिधनाख्यं चतुरक्षरम् ।
निधनाख्यं त्रिवर्णं स्यात् पञ्चार्णं निधनोद्भवम् ।।
द्व्यक्षरं स्याच्छिवपदं द्व्यर्णं शर्वपदं विभोः ।
परमात्मंश्चतुर्वर्णं महेश्वरपदं तथा ।।
चतुर्वर्णं समुद्दिष्टं महादेवपरं हि यत् ।
सद्भावेश्वरसंज्ञं तु पञ्चार्णं मुनिसत्तम् ! ।।

महातेज इति प्रोक्तं पदं वर्णचतुष्टयम् ।
पदं पञ्चार्णमुद्दिष्टं योगाधिपतिसंज्ञकम् ॥
मुञ्च मुञ्च चतुर्वर्णं षड्वर्णं प्रमथात्मकम् ।
शर्वशर्वपदं चात्र बोद्धव्यं चतुरक्षरम् ॥
भवयुग्मं तथा तद्वद् भवोद्भवपदं पुनः ।
पदमष्टाक्षरं चान्यत् सर्वभूतसुखप्रदम् ॥
सर्वसान्निध्यपूर्वं तु' करान्तं सप्तवर्णकम् ।
पदमष्टाक्षरं ब्रह्मविष्णुरुद्रपरम्परम् ॥
अनर्चितं द्विरभ्यस्तमष्टार्णं पदमुच्यते ।
असंस्कृतपदं तद्वत् पूर्वस्थितपदं तथा ॥
साक्षिस्तु रूपदे तद्वच्चतुर्वर्णे द्विरुक्तितः ।
षट् पतङ्गपदे वर्णाश्चित्वारः पिङ्गसंज्ञके ॥
तद्वज्ज्ञानपदं शब्दसूक्ष्माख्ये चतुरक्षरे ।
द्व्यक्षरं स्याच्छिवपदं तथा शर्वपदं विभोः ॥
त्र्यक्षरं सर्वदपदं प्रणवादि नमो नमः ।
पञ्चवर्णं शिवायेति त्रियक्षरमुदीरितम् ॥
नतियुग्मं पञ्चवर्णं सतारं पदमुत्तमम् ॥ इति ॥ ५ ॥

वृत्तिः

अधुना प्रकरणे प्रतिपाद्यमर्थं प्रतिजानीते । तत्त्वानां पृथिव्यादिशिवान्ततत्त्वानां तत्कर्तुश्शिवस्य तदुपकार्याणां चात्मनां प्रकाशः क्रियत इत्यर्थः तान्येव प्रकाशान्युद्दिशति—

शैवागमेषु इति । पदार्थानामिति शेषः । तदुक्तं तन्त्रलक्षणे—'त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रम्' इति । अतश्च तेष्वेवान्येषां वस्तूनामन्तर्भाव इति स दर्शयति—तत्र पतिरिति । तत्र तेषु त्रिपदार्थेषु मध्ये पतिपदार्थः शिव इत्युक्तः । शिवशब्देनात्र जात्येकवचनेन शिवत्वयोगिनां मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वरमुक्तात्मशक्तिशिवानां सवाचकानां शिवत्वप्राप्तिसाधनेन दीक्षादिनोपायकलापेन सहपतिपदार्थे सङ्ग्रहः कथ्यते । अणवश्चात्मानः प्रेर्याः । अनेन च पशुत्वयोगिनां विज्ञानकलादिभेदभिन्नानां बद्धात्मनां पशुपदार्थत्वमुच्यते । अर्थपञ्चकमित्यनेन मलरोधशक्तिकर्ममायाबिन्दवः प्रोच्यन्ते । ततस्तेषां पञ्चानां बिन्दुमायोद्भूतैश्शुद्धाशुद्धरूपैस्तत्त्वभुवनभूतभावैः सह पाशपदार्थे सङ्ग्रहः ।

ननु कथमेकस्या एव शिवशक्तेः पतिपदार्थे पाशपदार्थे च सङ्ग्रह उच्यते। सत्यम्। परमार्थतः पतिपदार्थ एव शक्तेरन्तर्भावः। पाशत्वं तु तस्याः पाशधर्मानुवर्तनेनोपचारात्। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—'तासां माहेश्वरीशक्तिः सर्वानुग्राहिका शिवा। धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यत' इति ॥ ५ ॥

मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः।
सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः ॥ ६ ॥

मुक्त आत्मा भी शिव हैं, किन्तु ये उसकी कृपा से मुक्त होते हैं। वह (शिव) अनादिकाल से मुक्त, अद्वितीय समझा जाना चाहिये। पाँच मन्त्र उसके शरीर हैं ॥ ६ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु पशूनां शिवस्वभावतया पतिव्यतिरेकासम्भवात् तत्तद्द्वैविध्यप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—

मुक्तेति। अयमभिप्रायः-मुक्तात्मनामेव शिवस्वभावत्वम्। किन्तु तेषामपि मुक्तेः प्राङ् न शिवात्मता, ताम्रादेः स्वर्णस्वभावाच्छादककालिमाकल्पमलादिपाशप्रच्छादितशिवस्वभावतया पशुत्वात्। अत एव ते तत्प्रसादतो मुक्ताः। स शिवस्त्वनादिमुक्तः। एक इति। एक एव नित्यमुक्त इत्यर्थः। कालत्रयेऽपि मलादिसम्बन्धरहितत्वात्। तदुक्तं श्रीवायवीये—

अनादिमलसंश्लेषप्रागभावात् स्वभावतः।
अत्यन्तपरिशुद्धात्मेत्यतोऽयं शिव उच्यते ॥"

इति। पञ्चमन्त्रतनुरिति नादबिन्दुपदवर्णवाक्यात्मना पञ्चात्मकसकलमन्त्रशरीर इत्यर्थः। मन्त्रस्वरूप इति वा। 'तस्योष्णिग्लोमानि त्वग् गायत्री त्रिष्टुम्मांसमनुष्टुब् स्नावानस्थि जगती पङ्क्तिर्मज्जा प्राणो बृहती' त्यादिश्रुतेः वैदिकादिमन्त्राणां धातुमयत्वप्रतिपादनाच्छिवस्य मन्त्रशरीरत्वावगमः। अथवा प्रणववेदचतुष्कात्मना पञ्चात्मकमन्त्रतनुरिति। तदुक्तं लैङ्गादौ—

"ओंकाररूपमृग्वक्त्रं सामजिह्वासमन्वितम्।
यजुर्वेदमहाग्रीवमथर्वोष्ठमजं विभुम् ॥"

इति। बीजविन्दुनादशक्तिशान्तात्मना पञ्चात्मकप्रणवतनुरिति वा। "ओमिति ब्रह्म, ओमित्यथो योऽसौ तपती" त्यादिश्रुतेः। पञ्चाक्षरतनुरिति वा, निवृत्यादिपञ्चतत्वतनुरिति वा, पञ्चब्रह्म-तनुरिति वा। तदुक्तं लिङ्गोद्भवे—

अथ दृष्ट्वा कलावर्णमृग्यजुस्सामरूपिणम्।
ईशानमीशमकुटं पुरुषाख्यं पुरातनम्॥
अघोरहृदयं हृद्यं वामगुह्यं सदाशिवम्।
सद्यपादं महादेवं महायोगीन्द्रभूषणम्॥
निष्कलं सूक्ष्ममव्यक्तं सकलं च महेश्वरम्।
सर्गप्रतिष्ठा संहारलीलार्थं लिङ्गरूपिणम्॥
प्रधानं लिङ्गमाख्यातं लिङ्गी च परमेश्वरः।" इत्यादि।

पारमेश्वरे च—

"पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् सकलं परिपठ्यते।
योगयोगीश्वरः स्वामी स्वतन्त्रः पशुपाशहा॥
ईशानमूर्धा पुंवक्त्रो ह्यघोरहृदयः प्रभुः।
उच्यते वामगुह्योऽयं सद्यमूर्तिर्महेश्वरः॥
एवं मन्त्रास्तु पञ्चैते यैर्निबद्धा तनुः शिवा।" इत्यादि।

तस्मादेवं विज्ञेयः विशेषेण भेदेन पशुभ्यो ज्ञेयः शिव इति। न च परमेश्वरवाचकस्य वेदमन्त्रादेर्वाच्यात् भेदसद्भावेन तस्य वेदमयत्वाभाव इति वाच्यम्। तयोर्भेदे वाच्यवाचकनियमाभावप्रसङ्गात्। न च सम्बन्धात् तन्नियमः। सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तराश्रयणादनवस्थादिदोष-स्योक्तत्वात्। न च वाचकत्व-शक्तिर्नियामिकेति वाच्यम्। तस्याश्च वाच्याद् भेदसद्भावेऽन्यशक्तिवदनियामकत्वात्। शक्तेर्वाच्यासाधारण्य-मप्यभेदव्यतिरिक्तं न संभवतीति। वाच्यवाचकयोरेवाभेदोऽभ्युपग-न्तव्यः। किमनया शक्तिकल्पनया। न च वाच्यवाचकभावस्य भिन्न-निष्ठतया तयोरभेदेऽसंभव इति वाच्यम्। गुणगुणिभेदवद् भेदस्याप्यत्र सद्भावात्। न च भेदाभेदयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वेन विरोधादेकत्रा सम्भवः। वाच्यवाचकभावान्यथानुपपत्तिप्रमाणासिद्धत्वात्। तथा घटोऽयं पटोऽयं शब्दोऽयमिति वाचकसंपृक्तार्थप्रतिभासाद् घटशब्दोऽय-मित्यसंपृक्तशब्दप्रतिभासाच्च शब्दार्थयोरैक्यमाश्रयणीयम्। अत एव तत्त्वादिवाचकमन्त्रविन्यासात् तत्त्वादिसान्निध्यमिति सर्वमवदातम्॥६॥

वृत्तिः

अस्तु तर्हि मुक्तानां पाशसंसर्गरहितत्वाच्छिवत्वम् । विद्येश्वरादीनां तु बैन्दवशरीरयोगेऽपि कथं पशुत्वाभावोऽत आह—मुक्तात्मेति ।

मुक्तात्मानः संप्राप्तशिवसाम्याः । अपि शब्दाद् विश्वेश्वरादयश्च शिवा एव । पशुत्वाख्येन मलेन विरहात् । तद्योगिनां हि पशुत्वम् । 'पशुः पशुत्वसंयोगात्' इति श्रुतेः । अत एषां शिवत्वेन सर्वज्ञत्वादिना योगात् शिवत्वमेव । बैन्दवशरीरयोगस्तु अधिकारमलांशावशेषतोऽधिकारनिबन्धन एव । अत एव । मायोत्तीर्णत्वात् मलरहितत्वाच्च । विद्या विश्वेश्वरप्राप्तेरपरमुक्तित्वम् । कथं पुनर्मन्त्रेश्वराणां कलादियोगेऽपि शिवत्वम् । साक्षात् शिवानुगृहीतत्वेन सर्वज्ञत्वादिना योगान्मलरहितत्वाच्च । कलादीनां योगस्तु मायागर्भाधिकारमलांशावशेषतोऽधिकारनिबन्धनत्वेन । तेषामावश्यकत्वाच्च । यदुक्तम्—कलायोगेऽपि नो वश्याः खलानां पशुसङ्घवत् इति । यद्येवं शिवत्वे समानेऽपि मुक्तात्मादिभ्योऽस्य परमेश्वरस्य को विशेषोऽत आह—'किन्त्वेते तत्प्रसादतो मुक्ताः' इति । एते पूर्वोक्ताः विश्वेश्वरादयः तस्य परमेश्वरस्य प्रसादतः । सोऽनादिमुक्त इति । अनादिमुक्तः स्वभावसिद्धनित्यनिर्मलनिरतिशयार्थज्ञानक्रियाशक्तियुक्त इत्यर्थः । ननु ईश्वरस्यापि 'पञ्चवक्त्रः त्रिपञ्चदृक्' इत्यादिना आगमेषु शरीरेन्द्रिययोगः श्रूयत इत्यत आह—पञ्चमन्त्रतनुः । अयमभिप्रायः—ध्यानार्थमेवेश्वरस्य पञ्चवक्त्राद्याकारः श्रूयते निराकारे ध्यानपूजाद्ययोगात् । यदाहुः—'आकारवंस्त्वं नियमादुपास्यो न वस्त्वनाकारमुपैति बुद्धि' रिति । श्रीमत्पौष्करेऽपि—'साधकस्य तु लक्ष्यार्थं तस्य रूपमुदाहृतम्' इति । श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि 'वपुषो विद्यमानत्वाद् यद् यत्कृत्यं करोति सः । तत्र तत्रास्यं तत्कर्तृवपुषाऽनुकृतं वपुः' इति । अतः पञ्चमन्त्रात्मिकाः पञ्चकृत्योपयोगिन्यः ईशानाद्याः शक्तय एव शरीरकार्यं कुर्वाणाः तनुरित्युपचारादुच्यन्ते । तदुक्तम्—'तद्वपुः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्योपयोगिभिः । ईशतत्पुरुषाघोरवामाजैर्मस्तकादिकम्' इति ॥ ६ ॥

पञ्चविधं तत्कृत्यं सृष्टिस्थितिसंहृतितिरोभावाः[1] ।
तद्वदनुग्रहकरणं प्रोक्तं सततोदितस्यास्य ॥ ७ ॥

१, सृष्टिः स्थितिसंहृती तिरोभावः ।

इस नित्यमुक्त शिव के पाँच प्रकार के कार्य—सृष्टि, पालन, संहार, तिरोधान एवं अनुग्रह कहे गये हैं ॥ ७ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु पतिसद्भावे प्रमाणाभावात् तत्त्वत्रैविध्यासंभवं इत्याशङ्क्याह ।

पञ्चेति । अयमर्थः—सर्गस्थितिसंहारतिरोभावानुग्रहात्मना पञ्चविधं पञ्चप्रकारं तत्कृत्यं महेश्वरकार्यं तस्मिन् प्रमाणं, तस्यैव कर्तुं शक्यत्वादिति न चान्यो जीवो माया वा जगत्सृष्ट्यादिकं कर्तुं शक्नोति । पशोरुपादानोपकरणविनियोगक्रमज्ञानाभावाद् , मायायाश्चाचेतनतया तदसम्भवादिति । स सर्गः पञ्चविधः । भावतत्त्वभुवनभूतप्रत्ययात्मसृज्यस्य पञ्चविधत्वम् । तदुक्तं शैवरहस्ये—

भोगेन परिणमयितुं कर्माणि घृणानिधिः पतिः सृजति ।
भावं तत्त्वं भुवनं (भूतं) प्रात्ययिकमपि सर्गम् ॥" इति ।

विस्तरत उपरिष्टादुपपाद्यते । स्थितिः पालनम् । संहृतिर्विनाशः । स्वेषु स्वेष्वसाधारणकारणेषु कार्यस्य लयः, सूक्ष्मरूपेणावस्थानमिति यावत् । आत्मनां पाशैः प्रच्छादनं तिरोभावः । अनुग्रहकरणं मोक्षादि । ननु विरुद्धमिदमुक्तं पाशैरात्मप्रच्छादनद्वारेण संसारहेतुत्वम् आत्मप्रच्छादनमलादिपाशनिरसेनापवर्गप्रदानं चेति चेत्, नैवम् । विषयभेदेनानयोरविरोधात् । येषां साधनचतुष्टयसंपत्तिः, तान् प्रत्यनुग्रहकरणम् । येषां तन्नास्ति, तान् प्रति संसारहेतुत्वम् इति । प्रोक्तं सततोदितस्यास्येति । कर्त्रा विना कार्योत्पत्त्यसंभवात् अन्यस्य कर्तृत्वासम्भवाच्चास्य महेश्वरस्य सततोदितस्य स्वयंप्रकाशचैतन्यमात्रस्य परिपूर्णस्य निर्व्यापारस्योदासीनस्यापि साक्षिणः परमेश्वरस्य सृष्ट्यादिषु कर्तृत्वं प्रोक्तम् अभिहितमित्यर्थः । तदुक्तम्—

"यथा ह्यविक्रियो वह्निर्जलतण्डुलविक्रियाम् ।
तथा करोत्युदासीनः शम्भुर्मायादिविक्रियाम् ॥ इति ॥ ७ ॥

वृत्तिः

अतएवाह—पञ्चविधमिति ।

एतत्कृत्यपञ्चकं शुद्धाध्वविषये साक्षाच्छिवकर्तृकम् । अशुद्धाध्वविषयेत्वनन्तादिद्वारेणेत्युक्तम् । तथा श्रीमत्किरणे—'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः' इति । तत्र शिवस्य साक्षात् सृष्टिर्बिन्दा-

त्मकादुपादानाच्छुद्धतत्त्वभुवनाद्युत्पादनपूर्वकं तद्भुवनवासिनां विद्याविद्येश्वराणां च बैन्दवशरीरयोजनम्। नादादिक्रमेण विद्योत्पादनं च। अनन्तादिद्वारा तु मायाद्युपादानादशुद्धतत्त्वभुवनाद्युत्पादनपूर्वकं पशुसङ्घानां सूक्ष्मेण तात्त्विकशरीरेण स्वकर्मानुगुणभौवनशरीरेण च योजनम्। मन्त्रेश्वराणामधिकारनिबन्धनशरीरोत्पादनं च। स्थितिः स्वशक्त्या निरुद्धस्य सर्वस्य जगतः स्वविषयेऽवस्थापनम्। संहृतिस्तु शुद्धाशुद्धयोः कार्यवर्गयोर्बिन्दुमाययोरुपसंहारः। तिरोभावश्च पाशानुग्रहणेनात्मनां यथानुगुणभोगभोजनम्। अनुग्रहोऽपि पाशतिरोधानेनात्मनां परापरमोक्षदानमिति। ननु 'सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिण' इति श्रीमद्रौरवादिश्रुतेः विद्याविद्येशानामपि पञ्चकृत्याधिकारित्वात्कथं सततोदितस्यास्येति नियमः? उच्यते—तेषामपि शिवप्रेरणयैव पञ्चविधकृत्यकर्तृत्वात्तथोक्तमित्यविरोधः॥ ७॥

पशवस्त्रिविधा ज्ञेयाः विज्ञानप्रलयकेवलौ सकलः[1]।
मलयुक्तस्तत्राद्यो मलकर्मयुतो द्वितीयः स्यात्[2]॥ ८॥

पशु विज्ञानकेवल, प्रलयकेवल तथा सकल—तीन प्रकार के समझे जाने चाहिये। इनमें प्रथम (अर्थात् विज्ञानकेवल) मलयुक्त होता है, और द्वितीय—प्रलयकेवल—मल तथा कर्म (दोनों) से युक्त होता है॥ ८॥

तात्पर्यदीपिका

एवमुद्देशक्रमेण पतितत्त्वस्य लक्षणं परीक्षां च कृत्वानन्तरप्राप्तपशुतत्त्वनिर्णयार्थमाह—पशव इत्यादि। पाशाः कथ्यन्ते, तैर्ये बद्धास्ते पशव इति। अथ शरीरादिव्यतिरिक्तस्येहलोकपरलोकसंचारिणः संसार्यात्मनः पशोः सद्भावे प्रमाणाभावादाश्रयासिद्धमिदं पशुलक्षणमिति चेत्, नैवम्। शरीरव्यतिरिक्तस्य नित्यस्यात्मनो जातिस्मृत्यादिभिः प्रमाणैः सद्भावावगमात्। तथा हि पूर्वजन्मनि निहितं निध्यादिकमपरस्मिन् जन्मनि मयेदमत्र निहितं पूर्वमित्युपादीयमानमुपलभ्यते। अतो देहातिरिक्तस्यैकस्य नित्यस्य निधिविन्यासकर्तुः पशोः सद्भावः। अन्यथा तदुपादानासम्भवात्। न चान्यनिहितमन्येनोपादीयत इति वाच्यम्। अन्यानुभूतेऽन्यस्य स्मरणासम्भवेन तत्पूर्वकोपादानासम्भवात्। न चासौ भ्रान्तिमूलेति वाच्यम्। बाधकाभावात्, प्रत्यक्षतस्त-

१. विज्ञानप्र(वि)लयाकलाः सकलाः। २. मलकर्मयुतो द्वितीयश्च।

दुपलम्भेन संवादतः प्रामाण्यसिद्धेश्चेति। तथा 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते' इत्याद्यागमाच्च पूर्वशरीरपरित्यागेन शरीरान्तरप्राप्तेरुपलम्भात् शरीर-व्यतिरिक्तात्मसिद्धिः। न च प्राण आत्मा, वायुरूपत्वाद् बाह्यवायु-वत्। मम प्राणा इति प्राणात्मनोर्मम वस्त्रमितिवद् भेदोपलम्भाच्च। आर्हतैकदेशीयोक्तमिन्द्रियानुभूतार्थेषु तत्तदिन्द्रियविनाशेऽपि स्मृति-दर्शनात् प्रत्यस्तम्, अन्यानुभूतेऽन्यस्य स्मरणासंभवात्। तथा नियतविषयग्राहकाणामिन्द्रियाणामनियतविषयावगन्त्रात्मत्वासम्भवात्। तच्च योऽहं चक्षुषा रूपमन्वभवं, सोहमिदानीं श्रोत्रेण शब्दमनुभवामी-त्यनुसन्धानसिद्धमिति। नापि मन आत्मा, करणत्वात् कुठारवत् तथा परिमितत्वात् कार्यत्वाद् घटादिवत्। तथात्मनि सिद्धे युगपदिन्द्रि-यार्थेषु युगपज्ज्ञानानुत्पत्त्या मनसः पुनः सद्भावसिद्धेर्नात्मा मन इति। तथान्तःकरणवृत्तिरूपबुद्ध्यात्मत्वं बौद्धैः कल्पितं स्मरणासंभवप्रसङ्गेन निरसनीयम्। तथाहि—पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे बुद्ध्यन्तरस्यान्यत्वेनानुभ-वाभावात् स्मरणासंभवः। न चाननुभूतेऽर्थे स्मृतिः संभवति, अनु-पलम्भात्। न च सा बुद्धिरवतिष्ठत एवेति वाच्यम्। बुद्धेः प्रतिक्षण-विनाशस्य सर्ववादिसम्मतत्वात्। एकसन्तानत्वेन वासनानुगमात् तदु-पपत्तिरिति चेत्। न। वासनासन्तानयोरपि क्षणिकत्वे पूर्वोक्तदोषा-पातात्। तथा तयोर्ज्ञानादव्यतिरेकेण परिहारः। अक्षणिकत्वे व्यति-रेके च स्वसिद्धान्तविरोधः। तदुक्तं न्यायविद्भिः—

'अथापि नित्यं परमार्थसन्तं सन्ताननामानमुपैषि भावम्।
उत्तिष्ठ भिक्षो! फलितास्तवाशाः सोऽयं समाप्तः क्षणभङ्गवादः॥"इति।

विषयानन्द आत्मा अनन्यार्थत्वाद् अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वाच्चेति केचित्। तदपि विषयेन्द्रियमनोबुद्ध्यात्मसंबन्धेनोत्पद्यमानं बुद्धिकल्प-मित्युपेक्षणीयमेवेति। तस्माद् बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो व्यतिरिक्त आत्मा पाशबद्धत्वात् पशुरिति सिद्धम्। तदुक्तं श्रीवायवीये—

बुद्धीन्द्रियशरीरेभ्यो व्यतिरिक्तो विभुर्ध्रुवः।
अस्त्येव कल्पितात्मेति हेतुस्तत्र सुदुर्गमः॥
बुद्धीन्द्रियशरीराणां नात्मता सद्भिरिष्यते।
स्मृतेरनियतज्ञानादयावद्देहवेदनात्॥" इत्यादि।

तदेवं प्रतिपादितानां पशूनां विभागमाह—त्रिविधा ज्ञेया इति। त्रिप्रकारा ज्ञातव्या इत्यर्थः। कथमित्यत आह—विज्ञानप्रलयाकलाः

सकला इति । तेषां तेषां क्रमेण लक्षणमाह—मलयुक्तः मलपाशसंबद्धः । तत्र तेषां मध्ये । आद्यो विज्ञानकलः । मलकर्मयुतः मलकर्मात्मकपाशद्वयसम्वद्धः द्वितीयः ॥ ८ ॥

वृत्तिः

इत्थं पतिपदार्थभेदमुक्त्वा पशुपदार्थभेदमाह—पशव इति ।

तत्रेति । तेषां मध्ये आद्यः विज्ञानकेवलाख्यो वर्गः । 'विज्ञानयोगसन्यासैर्भोगाद्वा कर्मणः क्षयात्' इति कर्मक्षयतः । कर्मभोगार्थस्य कलादिबन्धस्याप्यभावात् केवलं मलमात्रयुक्तः स्यात् । द्वितीयस्तु प्रलयकेवलाख्यो वर्गः प्रलये कलादेरुपसंहारात् मलकर्मयुक्तो भवति ॥ ८ ॥

मलमायाकर्मयुतः सकलस्तेषु द्विधा भवेदाद्यः ।
आद्यः समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषो द्वितीयः स्यात् ॥ ९ ॥

सकल (अर्थात् तीसरा) मल, माया और कर्म (तीनों) से युक्त होता है । इन तीनों प्रकारों में प्रथम—विज्ञान केवल दो प्रकार का होता है । (इन दोनों भेदों में) पहला है समाप्तकलुष तथा दूसरा है असमाप्तकलुष ॥ ९ ॥

तात्पर्यदीपिका

सकल इति सकललक्षणपूर्वकं विज्ञानकलविभागमाह—

मलेति । मलश्च माया च कर्म च मलमायाकर्माणि, तैर्युक्तः सम्बद्धः सकल इति । तेषु त्रिषु आद्यो विज्ञानकलो द्विविधो भवति—समाप्तकलुषोऽसमाप्तकलुषश्चेति । तत्राद्यः प्रथमः, अणूनां प्रथमत्वात् । समाप्तकलुष इति । मलशक्तिः कालुष्यं तत् समाप्तं नष्टं यस्य स समाप्तकलुषः । असमाप्तकलुषो द्वितीयः । तेनासौ प्रच्छन्नज्ञानक्रियाशक्तिर्भवतीति ॥ ९ ॥

वृत्तिः

सकलस्तु बन्धत्रययुक्तः । तत्र च मायायाः साक्षात्संबन्धाभावात् मायाशब्देन तत्कार्यभूताः कलादयः कथ्यन्ते । तद्युक्तत्वादेव चास्य सकलत्वम् । अतश्च विज्ञानादिना कर्मक्षयेऽपि किञ्चित्कालं संस्कारवशेन शरीरस्थितिः संभवतीति मलमायायुक्तेऽपि सकलभेदः शास्त्रेषु श्रूयते । उक्तं च सांख्यैः—

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद्धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।

तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद्धृतशरीर इति । किंच । तेष्विवेति आद्यो विज्ञानकेवलः पुनर्द्विधा भिद्यते । कौ तौ भेदावित्यत आह ।

आद्य इति । मलस्य द्रव्यत्वे सति जडत्वाच्चक्षुपः पटलादेरिव पाकस्संभवतीति । आद्यो विज्ञानकेवलः पक्वमलापक्वमलभेदेन द्विविधो भवति इति भावः ॥ ९ ॥

आद्याननुगृह्य शिवो विद्येशत्वे नियोजयत्यष्टौ ।
मन्त्रांश्च करोत्यपरान् ते चोक्ताः कोटयः सप्त ॥ १० ॥

(इनमें) आद्य (अर्थात् पक्वमल या समाप्तकलुषों) (अनन्त सूक्ष्म आदि) आठों को शिव अनुग्रह करके विद्येश पद पर (ईश्वरतत्त्व में) अधिष्ठित करते हैं, तथा अन्यों को मन्त्ररूप (विद्यातत्त्वनिवासी के रूप) में नियुक्त करते हैं । ये (अपर) सप्तकोटि संख्यक कहे गये हैं ॥ १० ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु विज्ञानकलस्य द्विविधस्यापि मलपाशसम्बन्धसद्भावात् तन्निवृत्त्यात्मकं न शिवसायुज्यं, नापि स्वर्गनरकमध्यस्थानेषु देवादिभेदेनावस्थानं, दीक्षया कर्मविनाशे सति श्रवणादिनानात्मन्यात्मबुद्धिरपाकृताविद्याकृतमायासम्बन्धभावात् । अतः कुत्रास्यावस्थानमित्याशङ्क्याह—

आद्यानिति । आद्यान् समाप्तकलुषान् विज्ञानकलान् अनुगृह्य दीक्षापूर्वकश्रवणमननाभ्यां परोक्षज्ञानप्रदानात्मकमनुग्रहं कृत्वा । नापरोक्षज्ञानप्रदानात्मकं, तस्य निदिध्यासनमध्ये कर्मक्षयान्तरायनिपातेनोत्पातासंभवात् । विद्येशत्वे विद्येश्वरपदेशत्वे मुक्तिकल्पे नियोजयत्यष्टौ विज्ञानकलान् । इतरान् मन्त्रान् मन्त्रदेवतारूपान् करोति भगवान् शिव इति तदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

विद्येश्वरान् करोत्यष्टावीशोऽन्यान् मनुदेवताः ।" इति ।

कति मन्त्रा इत्याकांक्षायामाह—ते चोक्ताः कोटयः सप्तेति । ते च महामन्त्राः सप्तकोटिसंख्यया संख्याता इति ॥ १० ॥

वृत्तिः

तयोस्तु—आद्यानिति ।

आद्यान् पक्वमलान् पाकतारतम्यापेक्षयाऽधिकारयोग्याननुगृह्य मलापोहनेन सर्वज्ञत्वादिना युक्तान् बैन्दवशरीरयोगिनश्च कृत्वा तेषु विशिष्टमलपाकवतोऽष्टौ विद्येशत्वे योजयति । अनन्त-सूक्ष्म-शिवोत्तम-एकनेत्र-एकरुद्र-त्रिमूर्ति-श्रीकण्ठ-शिखण्डिसंज्ञान् पञ्चकृत्याधिकारिणः शुद्धाध्वाधिष्ठातॄनीश्वरतत्वनिवासिनश्च करोतीत्यर्थः । अपरांस्तु सप्त-

कोटिसंख्यातान् मन्त्राननुग्रहकारणभूतान् विद्यातत्त्वनिवासिनश्च करोतीत्यर्थः। तेषु चार्धं सकलविषये गुर्वधिकरणस्य शिवस्यानुग्रहकर्मणि करणत्वेन स्थित्वा महाप्रलये मोक्षं याति। अन्यत् त्वर्धं निरधिकरणस्य शिवस्य विज्ञानकलादिविषये मन्त्रेश्वरमायागर्भाधिकारिविषये च करणत्वं प्राप्याधिकारवैराग्यात् सृष्ट्यनन्तरमेवापावृत्तं भवति। तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—

'प्रयोक्तृदेहसापेक्षं तदर्धमखिलेऽध्वनि।
कृत्वाधिकारं स्थित्यन्ते शिवं विशति सेश्वरम्।
विनाधिकरणेनान्यत् प्रधानविकृतेरधः।
कृत्वाऽधिकारमीशेष्टमुपैति स्वाध्वसंहृतौ'॥ इति।

ये त्वत्रात्यन्तमलपाकवन्तोऽधिकारानपेक्षास्तान्परे पदे योजयति। ये त्वपक्वमलास्तेषां मलपाकान्तं विज्ञानकलत्वमेवेत्युक्तं श्रीमद्रौरवादौ॥ १०॥

प्रलयाकलेषु येषां पक्वे मलकर्मणी व्रजन्त्यन्ये।
पुर्यष्टकदेहयुता योनिषु निखिलासु कर्मवशात्॥ ११॥
स्यात् पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानि।
कांश्चिदनुगृह्य वितरति भुवनपतित्वं महेश्वरस्तेषाम्[1]॥१२॥
शेषा भवन्ति सकलाः कलादियोगादहर्मुखे काले।
शतमष्टादश तेषां कुरुते स्वयमेव मन्त्रेशान्॥ १३॥

प्रलयाकलों में जिनके मल और कर्म पक्व हो चुके हैं, (वे मोक्ष प्राप्त करते हैं) शेष कर्मवश पुर्यष्टक-देह से संयुक्त होकर समस्त योनियों में जाते हैं॥ ११॥

अन्तःकरण (बुद्धि, मन, अहंकार के वाचक भोग-क्रिया के अन्तरङ्ग साधक कला, काल, नियति, विद्या, राग, प्रकृति, गुण सात तत्त्व), धीकर्म (बुद्धि द्वारा निश्चित ग्राह्य पृथिवी आदि पञ्चभूत तथा इनके कारण शब्द आदि पञ्चतन्मात्र), करण (ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) (ही) पुर्यष्टक अर्थात् सूक्ष्मदेह हैं। इन पुर्यष्टकयुक्तों में से कुछ पर ही अनुग्रह करके मन्त्रमहेश्वर भुवनपतित्व प्रदान करते हैं॥ १२॥

(इनके) अतिरिक्त पक्वमल वाले कला आदि के योग से 'सकल' होते हैं। शिव स्वयं ही सृष्टि के प्रारम्भ में उनमें से एक सौ अठारह को मन्त्रेश के पद पर नियुक्त करते हैं॥ १३॥

---

१ श्रीकुमारव्याख्यायां श्लोकस्य पूर्वोत्तरार्धयोः विपरीतत्वम्।

तात्पर्यदीपिका

इदानीं प्रलयाकलसकलयोः स्वरूपनिर्णयार्थं श्लोकत्रयमाह—प्रलयाकलेष्विति ।

अयमभिप्रायः—प्रकर्षेण लयं गतं कालादिधरान्ततत्त्वात्मकं शरीरं येषां ते प्रलयाकलाः । प्रलयावस्थायां मलकर्ममात्रपाशसम्बद्धा आत्मान इति यावत् । तेषु येषां मलश्च कर्म च मलकर्मणी पक्वे परिपाकं गते । ज्ञानाग्निना साहचर्यात् । तेषां महेश्वरो भुवनपतित्वं वितरति । तेभ्यः प्रयच्छति, ददातीत्यर्थः । तेषां तेष्वपि कांश्चित् पक्वकर्मकाननुगृह्य गणेशान् करोति । कांश्चित् पक्वमलान् मन्त्रमन्त्रेश्वरान् करोति द्रष्टृत्वेनेति । कति मन्त्रेश्वरा इत्याकांक्षायां शतमष्टादशेति । स्वयमेवेति । ब्रह्मादिसहायान्तरमनपेक्ष्यैवेति । तदुक्तं लैङ्गे—

नाधिकान् न च हीनांस्तान् मानसानात्मनः समान् ।
सहस्रं हि सहस्राणामसृजत् कृत्तिवाससम् ।।" इत्यादि ।

एभ्योऽन्ये ये पक्वमलकर्माणः शेषाः शिष्टास्ते सकलाः भवन्ति, कलादितत्त्वयोगात् । अहर्मुखे काल इति । सृष्टिकाले सर्वमेतत् करोति भगवान् महेश्वर इति । पुर्यष्टकदेहयुतास्त एव निखिलासु योनिषु देवमनुष्यतिर्यगादिषु व्रजन्ति चरन्तीत्यर्थः । नन्वात्मनां व्यापकत्वादमूर्तत्वाच्च कथं निखिलयोनिगमनागमनसंभव इत्याशङ्क्याह—पुर्यष्टकदेहयुता इति । सूक्ष्मशरीरस्य पुर्यष्टकाख्यस्य जीवोपाधेः संभवात् तदनुसारेण पशोरपि क्षेत्रज्ञस्य गमनागमने संभवत एव । यथा घटाकाशस्य तदुपाधिभूतघटगमनागमनाभ्यां गमनागमने, तथात्राप्युपाधिधर्माणां गमनादीनामुपहिते क्षेत्रज्ञे संभव उपपद्यते एवेति । कर्मवशादिति । कर्मानुरूपेणेत्यर्थः । ननु जीवोपाधिभूतं पुर्यष्टकं किमित्याशङ्क्याह—स्यात् पुर्यष्टकमन्तःकरणं धीकर्मकरणानीति । पुरि स्थूलशरीरे वर्तमानं यदष्टकं तत् पुर्यष्टकम् । तत् किमित्यत आह—अन्तःकरणं धीकर्मकरणानीति । बुद्ध्यहंकारमनांस्यन्तःकरणं, धियः कर्म व्यापारो विषयनिश्चयो धीकर्म, तत्करणानि तन्निमित्तानि शब्दादीनि च पुर्यष्टकमिति केचित् । तदुक्तम्—

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
मनो बुद्धिरहंकारः पुर्यष्टकमुदीरितम् ।।

गुरवस्तु धीकर्म च करणानि च धीकर्मकरणानीति ब्रुवते । तत्राष्टकत्वं शब्दस्पर्शरूपरसगन्धबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणात्मना विभा-

गाद् भवति । परे कर्मेन्द्रिय-बुद्धीन्द्रियान्तःकरणचतुष्टय-प्राणादिपञ्चक-तन्मात्रपञ्चक-कामकर्माविद्यात्मनाष्टविधं पुर्यष्टकमित्याहुः । तथा चोक्तम्—

"कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथापराणि
बुद्धीन्द्रियाणि मन आदि चतुष्टयं च ।
प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च
कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ॥" इति । ११–१३ ॥

वृत्तिः

प्रलयाकलेषु मध्ये येषां मलः पक्वस्तत्पाकवशादेव कर्मापि समस्तं पक्वं ते व्रजन्तीति मोक्षमिति शेषः । मलपरिपाकस्य शक्तिपातद्वारेण मोक्षहेतुत्वात् । यदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—

'तमश्शक्त्यधिकारस्य निवृत्तेस्तत्परिच्युतौ ।
व्यनक्ति दृक्क्रियानन्त्यं जगद्वन्धुरणोश्शिवः' ॥ इति ।

श्रीमत्स्वायंभुवेऽपि—

'क्षीणे तस्मिन् धिया सा स्यात्परं निःश्रेयसं प्रति' इति ।

अन्ये त्वपक्वमलाः पुर्यष्टकदेहयुताः सन्तः कर्मवशेन तद्भोगार्थं निखिलासु योनिषु भुवनजशरीरात्मिकासु व्रजन्तीति पूर्वक्रियानुषङ्गोऽत्रापि कर्तव्यः । एते इति पाठापेक्षायां पुर्यष्टकदेहयुताः योनिषु व्रजन्तीति व्याचक्षेत । तेषां प्रोक्तः श्रुतिविरोधः पक्वमलानामपि पुनः संसारयोगादनिर्मोक्षप्रसङ्गश्च दोषः ॥ ११ ॥

अथ किं तत्पुर्यष्टकमित्यत आह—स्याद् इति ।

तत्र पुर्यष्टकं नाम प्रतिपुरुषं नियतः सर्गादारभ्य कल्पान्तं मोक्षान्तं वाऽवस्थितः पृथिव्यादिकलान्तत्रिंशत्तत्त्वात्मकोऽसाधारणरूपः सूक्ष्मदेहः । यच्छ्रूयते—

'प्रयोक्त्र्यादिमहीप्रान्तमेतदण्वर्थसाधकम् ।
प्रत्यात्मनियतम्' इति । तत्त्वसंग्रहेऽपि—
वसुधाद्यस्तत्त्वगणः प्रतिपुंनियतः कलान्तोऽयम् ।
पर्यटति, कर्मवशतो भुवनजदेहेष्वयं च सर्वेषु' इति ।

अतश्चायमर्थः । अन्तःकरणशब्देन मनोबुद्ध्यहंकारवाचिनाऽन्यान्यपि पुंसो भोगक्रियायामन्तरङ्गानि कलाकालनियतिविद्यारागप्रकृतिगुणाख्यानि सप्त तत्त्वानि उपलक्ष्यन्ते । धीकर्मशब्देन बुद्धेरध्यवसिततया ग्राह्याणि पृथिव्याद्याकाशान्तानि पञ्चभूतानि तत्कारणानि च शब्दादीनि पञ्च-

तन्मात्राणि उच्यन्ते। करणशब्देन बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि (च) दर्शयति। ननु—

'शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः।

बुद्धिर्मनस्त्वहंकारः पुर्यष्टकमुदाहृतम्' इति श्रीमत्कालोत्तरे श्रूयते। सत्यम्—अत एव तत्सूत्रं तत्रभवता रामकण्ठेन त्रिंशत्तत्त्वपरतया व्याख्यातम्। कथं पुनरस्य पुर्यष्टकत्वम्। भूततन्मात्रबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणसंज्ञैः पञ्चभिर्वर्गैस्तत्कारणेन गुणेन तदापूरकेण प्रधानेन कलादिपञ्चकञ्चुकात्मना वर्गेणारब्धत्वादित्यविरोधः। अथ तेषु पुर्यष्टकयुक्तेषु मध्ये कांश्चिदनुगृह्य महेश्वरः मन्त्रमहेश्वरः इत्यर्थः। गुह्यातिगुह्यगुह्यतरपवित्रस्थाण्वाख्यपञ्चाष्टकादीनां भुवनपतीनामनन्तनियुक्तत्वेनैव श्रुतेः। साञ्जनत्वाच्च। अनुगृह्येति। स्वाधिकारान्तं प्रकटीकृतज्ञानक्रियानणिमादियोगिनश्च कांश्चिद् विशिष्टपुण्यवतः कृत्वेत्यर्थ-॥ १२॥

अनतिपक्वमलत्वेन संसारयोगिभ्यश्च ये शेषाः पक्वमलाः सन्तोऽपि तत्पाकमान्द्यान्मायागर्भाधिकारयोग्यास्तेऽपि सर्गप्रारम्भेऽधिकारनिबन्धनेन कलादिना योगात् सकला भवन्ति। तद्योगेऽपि ते मलरहितत्वात् शेषा इत्युक्ताः। कियन्तस्ते केन नियुक्ता इत्यत आह—शतमष्टादशेति। तेषामष्टादशाधिकशतं स्वयमेव शिवो ह्यपनीतमलान्कृत्वा मन्त्रेशपदे योजयति। न तु ते अनन्तनियुक्ता इत्यर्थः। कलादियोगस्तु तेषामनन्तकर्तृक एव 'अनन्तोऽसिते प्रभुः' इत्युक्तत्वात्॥ १३॥

तत्राष्टौ मण्डलिनः क्रोधाद्यास्तत्समाश्च वीरेशः।
श्रीकण्ठः शतरुद्राः शतमित्यष्टादशाभ्यधिकम्[1]॥ १४॥

उनमें (मन्त्रेश्वरों में) आठ (गहनेश आदि) मण्डली हैं, उनके बराबर (आठ) ही क्रोधादि हैं; वीरेश, श्रीकण्ठ तथा सौ संख्या वाले रुद्र हैं। इस प्रकार उनकी संख्या अठारह अधिक सौ अर्थात् एक सौ अठारह (८+८+१+१+१०० = ११८) है॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

शतमष्टादश मन्त्रेश्वरा इत्युक्तम्। के त इत्याकाङ्क्षायामाह—तत्राष्टौ इति।

तत्र मन्त्रेश्वराणां मध्येऽष्टौ मण्डलिनः, क्रोधाद्याः तत्समाः, अष्टावित्यर्थः। शिष्टा वीरेशादय इति। एतदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

१. शतमित्यष्टौ।

"त्रिविधास्ते च विज्ञानकलाश्च प्रलयाकलाः ।
सकलाश्चेति तेष्वाद्या मलमात्रयुताः परे ॥
मलकर्मयुता मायामलकर्मसमायुताः ।
सकला इति तेष्वाद्या द्विविधाः पक्वकल्मषाः ॥
अपक्वकल्मषाश्चेति अत्राद्याननुगृह्य तु ।
विद्येश्वरान् करोत्यष्टावीशोऽन्यान् मनुदेवताः ॥
द्व्येकपक्वद्विपक्वाः स्युश्चतुर्धा प्रलयाकलाः ।
पक्वोभयान् पुराधीशान् गणेशान् पक्वकर्मगान् ॥
रुद्रान् पक्वमलानन्यानष्टादशशताधिकान् ।
सकलस्त्वष्टधा त्रिद्व्येकपक्वाश्च त्र्यपक्वकाः ॥
हिरण्यगर्भः + + + सनकाद्याश्च योगिनः ।
आचार्यांश्चैव देवांश्च क्रमात् तेष्वकरोत् प्रभुः ॥" इत्यादि ।

शैवरहस्ये च—

'विज्ञानकलसंज्ञः प्रलयाकलसंज्ञकोऽथ सकलाख्यः ।
त्रिविधोऽयं पुरुषः स्यादेकोत्तरबन्धसंबन्धात् ॥" इति ।
'विज्ञानकलसंज्ञान् समाप्तकलुषान् करोति विद्येशान् ।
अष्टावनुगृह्य शिवो मन्त्रांनपि सप्तकोटिभिदान् ॥
प्रलयाकलाश्च केचिद् भुवनेशाः पक्वकलुषकर्माणः ।
कर्मवशादवशिष्टा निखिलास्वपि योनिषु चरन्ति ॥
सकलाः कलादियोगात् सृष्टिदशायां त एव निर्दिष्टाः ।
शतमष्टादश तेष्वपि मन्त्राणामीशितारः स्युः ॥
शतरुद्राः क्रोधादिकमष्टकमङ्गुष्ठमात्रपूर्वमपि ।
वीरेशश्रीकण्ठौ मन्त्रेशत्वेन वर्तन्ते ॥" इत्यादि ॥ १४ ॥

वृत्तिः

तानेव विभजति—तत्राष्टौ इति ।

अत्र मण्डलिनोऽष्टौ कलामस्तक-वासिनो गहनेशादयः क्रोधादयश्च गुणमस्तकस्थाः अष्टावेव वीरेशो वीरभद्रः शतरुद्राधिष्ठाता । श्रीकण्ठो गुणतत्त्वनिलयोऽधस्तनभुवनादेश्च कर्त्ता । शतरुद्रास्तु ब्रह्माण्डधारका इति ॥ १४ ॥

[1]परिपाकमलानेतानुत्सादनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाऽऽचार्यमूर्तिस्थः ॥ १५ ॥

वह शिव आचार्य की मूर्ति में स्थित होकर दीक्षा द्वारा इन परिपक्व मल वालों को (संसार से) मुक्ति के कारणभूत अनुग्रह से परम (शिव) तत्त्व से संयुक्त करता है ॥ १५ ॥

तात्पर्यदीपिका

नन्वेवं संसरतां पशूनां तर्हि मोक्षमार्गेऽवतारो न स्यादित्याशङ्क्याह—परिपक्वमला इति ।

द्विविधा हि परमेश्वरस्य शक्तिः, बन्धकरा मोचिका चेति । तयोराद्यानादिकालमेव प्रवृत्ता पशून् पाशजालैर्बध्नाति । तस्यां कालवशात् कर्मसाम्येन विरोधादुपरतव्यापारायां मोचिका शक्तिः स्वपतनकालमन्वेषयन्ती महेश्वरे वर्तमाना तेषु पशुषु निपतति । ततश्च संसारोत्सादनहेतुभूतशक्त्यां निपतितायां भगवानाचार्यमूर्तिमास्थाय दीक्षां कृत्वा मलादिपाकं विधाय परमेश्वरतत्त्वे संयोजयतीति नासंपाद्यो मोक्षमार्गेऽवतार इति । तदुक्तम्—

समे कर्मणि संजाते कालान्तरवशात् पुनः ।
तीव्रशक्तिनिपातेन गुरुणा दीक्षितो यदा ॥
सर्वज्ञः स शिवो यद्वत् किञ्चिज्ज्ञत्वविवर्जितः ।
शिवत्वव्यक्तिसम्पूर्णः संसारी न पुनस्तदा ॥" इत्यादि ।

शक्तिद्वयं च भगवतावधूतपादेनोक्तम्—

बध्नाति काचिदपि शक्तिरलुप्तशक्तेः
क्षेत्रज्ञमप्रतिहता तव पाशजालैः ।
ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणानशेषा-
नन्या करोत्यभिमुखं पुरुषं विमुक्तौ ॥" इति ॥ १५ ॥

वृत्तिः

अत्र त्रिबन्धनबद्धेषु सकलेषु मध्ये सः शिवः । परितः समन्तादाधिक्येन पक्वमलान् सकलान् तिरोधानशक्त्युपसंहारेणानुग्रहशक्त्या पाशनिरोधनादिकया स्पृष्टान् गुरुमधिष्ठाय दीक्षया परे पदे शिवसाम्यरूपे

१, परिपक्वमला ये तान् ।

योजयति । मन्दमलपाकांस्तु मन्दतरादिशक्तिपातेन विद्येश्वरादिपदे योजयति । यच्छ्रूयते—

'रुद्रमन्त्रपतीशानपदभाजो भवन्ति ते ।
स्थितौ याननुगृह्णाति गुरुमास्थाय चिद्वतः' इति ।

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ्मन्त्रसिध्यादि' इति च । अत एव विज्ञानप्रलयकेवलयोः निरधिकरण एव शिवस्यानुग्रहसिद्धिः । अत एव मलस्य द्रव्यत्वाच्चक्षुषः पटलादेरिव दीक्षाख्येनैवेश्वरव्यापारेण निवृत्तिः । न तु ज्ञानमात्रादिति भावः ॥ १५ ॥

बद्धान् शेषानपरान्[1] विनियुङ्क्ते भोगभुक्तये पुंसः ।
तत्कर्मणामनुगमादित्येवं कीर्तिताः पशवः ॥ १६ ॥

(शिव) शेष (पुर्यष्टक-सूक्ष्मदेह-से) सम्बद्ध सभी (सकल प्रमाताओं) को उनके कर्मों के अनुसार विषयभोग के लिये (स्थूल देह से) संयोजित करते हैं । इस प्रकार पशुओं का निरूपण किया गया ॥ १६ ॥

तात्पर्यदीपिका

इतरविनियोगपूर्वमुपसंहरति—बद्धान् इति ।

सूक्ष्मदेहेन च पुर्यष्टकाख्येन बद्धान् शेषान् सकलान् भोगभुक्तये विषयभुक्त्यर्थं विनियुङ्क्ते देवादिस्थानेषु स्थूलदेहेन संयोजयतीत्यर्थं इति ॥ १६ ॥

वृत्तिः

अपरिपक्वमलांस्तु—बद्धान् इति ।

एष च प्रागुक्तानुवादः । अथ पशुपदार्थमुपसंहरति—इत्येवं कीर्तिताः पशवः इति ॥ १६ ॥

पाशाश्चतुर्विधाः स्युः पुंसो मलकर्मजौ[2] मतौ प्रथमौ ।
मायीयतिरोधायकशिवशक्तिसमुद्भवौ[3] चान्यौ ॥ १७ ॥

(सकल) पुरुष के पाश चार प्रकार के हैं । (इनमें) प्रथम दो हैं मल तथा कर्म से उत्पन्न होने वाले अर्थात् मलीय और कार्म । अन्य दो हैं शिवशक्ति से उद्भूत मायीय तथा तिरोधायक ॥ १७ ॥

---

१. अखिलान् । २. मलकर्मसंज्ञकौ ।
३. मायेयतिरोधायिक…

तात्पर्यदीपिका

इदानीमवसरप्राप्तानां लक्षणपरीक्षार्थमाह—पाशा इति ।

पशूनां बन्धकाः पाशाः । ते च चतुर्विधाः चतुष्प्रकाराः स्युः । पुंसः पुरुषस्य पशोः । तेषु प्रथमौ आद्यौ । मलकर्मसंज्ञकौ मलकर्माख्यौ । तत्रापि मलः प्रथमः पाशः, तत्पूर्वकत्वात् कर्मादीनाम् । स तु ज्ञानप्रागभाव इत्येके । परे तिमिरसदृशो जडात्मको भावरूपो ज्ञाननिवर्त्य इति । गुरवस्तु अविद्यासंस्कारात्मक इत्याहुः । तदुक्तं 'ज्ञानं बन्धः" इति शिवसूत्रवार्तिककृता—

"अहं ममेदमिति यज्ज्ञानं भेदप्रथात्मकम् ।
शब्दानुवेधतो जातं मायीयं मलकारणम् ॥
तद् बन्धनं समाख्यातमविद्यावृत्तिलक्षणम् ।" इति ।

किरणे च—'मलो ज्ञानं पशुत्वं च तिरस्कारकरस्तमः ।
अविद्या ह्याकृतिर्मूर्च्छापर्यायस्तस्य वाचकाः ॥" इति ।

द्वितीयः कर्माख्यः पाशः । मायीयो मायाजन्यः सूक्ष्मस्थूलात्मकशरीरादिरूपः । स तृतीयः । तिरोधायकशिवशक्तिसमुद्भवस्तत्स्वरूपश्चतुर्थ इति । बन्धस्य संसारस्य जन्ममरणादिलक्षणस्य बन्धकाभावेऽसंभवात् पाशसद्भावसिद्धिः । बन्धस्तु श्रुत्यादिप्रमाणसिद्ध इति । ननु मायाकार्यत्वाद् मलकर्मणोर्मायायां प्रवृत्तायां तयोरुद्भवः, प्रथमभूतयोस्तयोरुद्भवे मायायाः प्रवृत्तिरिति इतरेतराश्रयप्रसङ्ग इति चेन्न । बीजाङ्कुरवदनादित्वेन तत्परिहारोपपत्तेरिति ॥ १७ ॥

वृत्तिः

अथ पाशपदार्थभेदमाह—पाशा इति ।

ननु प्रागर्थपञ्चकं पाश इत्युक्तम् । अत्र तेषां चतुर्विधत्वोक्तिर्विरुद्धेति चेन्न । बिन्दोर्महामायात्मनः परमुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि तद्योगस्य विद्येश्वरादिपदप्राप्तिहेतुत्वेनापरमुक्तित्वादत्र पाशत्वेनानुपादानमित्यविरोधः । अत एवाह पुंस इति । पुंस्त्वंमलयोगिनः सकलस्येत्यर्थः । अत एव शुद्धाध्ववासिनामनन्तादीनां महामायायाः रोधशक्त्यात्मकमेव पाशद्वयं विद्यते । तच्च मायादिवन्न मोहकं अपि तु बोधकमेवेति सर्वं सुस्थितम् । ननु यन्नादाख्यं परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितमिति श्रुतेः सकलस्यापि बिन्दुकार्ययोगः । सत्यम् । सर्वज्ञत्वाद्यविनाभूतेन बैन्दवशरीरादिनाऽस्य योगो नास्तीत्येवमुक्तम् । के ते इत्याह—मलकर्मजौ

मतौ प्रथमाविति। मलकर्मरूपावेवात्र मलकर्मजाविति कार्यकारणयोरभेदेनोपचारादुच्यते। तयोरेवानन्तरसूत्रे लक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तत्तत्कार्यकारणयोरावरणभोगभोजनयोः फलरूपतया पाशत्वेन प्रसिद्धेश्च। एवं 'मायेयतिरोधायिकशिवशक्तिसमुद्भवा' वित्यत्रापि द्रष्टव्यम्। प्रथमावनादिसिद्धौ तत्र मलः पुंसोऽनादि कृत्वा ज्ञानक्रियावारकः। कर्मापि प्रवाहानादिवीजाङ्कुरादिन्यायेन कर्मजशरीरसन्तानस्याप्यनादित्वेन स्थितेः मायेयस्तु कलादिरागन्तुकः पाशः कर्मसद्भाव एव तस्य सद्भावात्। तदभावेऽपि प्रलयकेवलिनो मलकर्मयोगाच्च शिवशक्तेस्तु पाशाधिष्ठानेन आत्मनि तिरोधायिकत्वादुपचारेण पाशत्वमुक्तम्। वक्ष्यामश्च ॥ १७ ॥

एको ह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः[1]।

तुषतण्डुल[2]वज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिमावद् वा ॥ १८ ॥

मल एक है और अनेक शक्ति वाला है। यह पुरुष की ज्ञान और क्रिया का आवारक (उसी प्रकार) समझा जाना चाहिये, जिस प्रकार कि भूसी की खोल चावल की अथवा कालिमा ताम्बे की आच्छादिका समझी जाती है ॥१८॥

तात्पर्यदीपिका

प्रथमोद्दिष्टस्य मलस्य लक्षणमाह—एक इति।

एकोऽनेकशक्तिरिति मलस्य लक्षणम्। कार्ममायीययोरनेकत्वात् तन्निवृत्त्यर्थमुक्तमेक इति। तिरोधायकशक्तेरपि पाशत्वे सत्येकत्वाद् मलत्वप्रसङ्ग इति तन्निवृत्त्यर्थमनेकशक्तिरितिपदम्। नन्वविद्यासंस्काररूपतायां मलस्य अनेकत्वादयुक्तमेको मल इतीति चेन्न। जलनिधिनिमग्नानन्तनदीजलवदेषामप्यनन्तानां संसर्गादेवैकत्वोपपत्तेरित्येके। अन्ये तु जात्यपेक्षयैकत्ववचनम्। अवान्तरानेकजातिसद्भावान्मायाकर्मणोरनेकत्वम्। तदभावाद् वासनाया एकत्वमिति ब्रुवते। तथा ज्ञानाभावरूपतायां च जात्यपेक्षयैवैकत्ववचनम्। अन्यथा कस्यचिज्ज्ञानोदये सति ज्ञानप्रागभावनिवृत्तेः सकलजगन्मोक्षप्रसङ्गादिति। भावात्मकत्वे मुख्यमेवैकत्ववचनम्। एकस्य ज्ञानोदयेऽपि निवृत्त्यनिवृत्त्योः तमोवदुपपत्तेः मलस्यानेकशक्तित्वाच्चैकस्य ज्ञानोदये तं प्रत्येव प्रच्छादनशक्तेर्विनाशादितरेषामपवर्गाभावः संभवत्येव। तस्मादेकोऽनेकशक्तिर्मल इति। तदुक्तं किरणे—

---

१. दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसाम्। २. कम्बुक।

"विभोरपि मलस्यास्य तच्छक्तेः क्रियते वधः ।
उपायाच्छक्तिसंरोधः कस्मिंश्चित् क्रियते मले ।।
शिवज्ञानं तथा तस्य शक्तिसंरोधकारकम् ।
यथाग्नेर्दाहिका शक्तिर्मन्त्रेणाशु निरुध्यते ।।
तद्वत् तच्छक्तिसंरोधः ।" इत्यादि ।

दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसाम् । तुषकम्बुकवज्ज्ञेय इति । यथा तुषकम्बुकौ तण्डुलेन सहैकीभूतौ मूलाङ्कुराद्युत्पत्तेः कारणं, तथा मलोऽपि पशूनां स्वरूपभूतज्ञानक्रियाप्रच्छादकत्वेन कर्ममायादि-मूलाङ्कुराद्युत्पत्तिकारणतयात्मना सहैकीभूतस्तिष्ठतीति । तदुक्तं किरणे—'मलश्चिच्छादको नैजो (को) विशुद्धिः शिवता स्वतः ।" इति ।

ताम्राश्रितकालिमावद् वेति । यथा ताम्राश्रिता कालिमा सह-जातस्य स्वरूपभूतस्वर्णतां प्रच्छाद्य ताम्रतामभिव्यज्य चावतिष्ठते, तथा मलोऽप्यात्मनो ज्ञानक्रियात्मकं स्वरूपं प्रच्छाद्य पशुत्वं चाभि-व्यञ्जयन्नवतिष्ठत इति । ननु मलस्य सहजत्वे तत्क्षये तद्वतोऽपि विनाशप्रसङ्ग इति चेत् नैवम् ।

ताम्राश्रितकालिमाविनाशे तत्स्वरूपाविनाशवत् सहजमलविनाशेऽ-प्यात्मस्वरूपाविनाशोपपत्तेः । तदुक्तम्—

"सहजा कालिमा ताम्रे तत्क्षयान्न च तत्क्षयः ।
क्षयस्ताम्रस्य यद्वत् स्यात् पुरुषस्य मलक्षयः ।।
यथा तण्डुलकम्बुके प्रक्षीणे न च तत्क्षयः ।।" इत्यादि ।।१८।।

वृत्तिः

तत्र मललक्षणमाह—एक इति ।

एक एव मलो जडत्वे सति नित्यत्वाज्जडानामनेकानां घटादिवद-नित्यत्वं स्यात् । यद्येवं मलस्य एकत्वादनेकस्य मोक्षार्थं तस्य निरोधे सर्वमोक्षप्रसङ्गः । अत आह—अनेकशक्तिरिति । अनेकात्मावारकाने-कशक्तियुक्तः अतः एकस्याः शक्तेः परिपाकेन तिरोधानेन तदावार्यस्यैव मोक्षः । तुषकम्बुकवदिति । यथा तण्डुलताम्रयोरनाद्यावारकत्वेन सहजं तुषादि कालिमा वा पश्चात्पाकेन रसशक्त्या निवर्तते एवं मलोप्या-त्मनोऽनाद्यावारकः पाकवशाद्दीक्षया निवर्तते यदि वा । यथा शाल्या-देस्तुषाद्यङ्कुरोत्पत्तौ निमित्तम् । एवमात्मनो मलः शरीराद्युत्पत्तौ निमित्तम् । यथा वा ताम्रस्य कालिमा रसशक्त्या निवर्तते तथा

मलः शिवशक्त्या निवर्तते इत्येतावदात्मनो दृष्टान्तः। न तु सर्वसाम्येनेति ॥ १८ ॥

कर्मानादिप्रोक्तं धर्माधर्मात्मकं विचित्रं च।
माया च वस्तुरूपा मूलं विश्वस्य नित्या सा ॥ १९ ॥

कर्म (मल) अनादि कहा गया है, (वह) धर्म तथा अधर्म स्वरूप और अनेक प्रकार का है। (माया) तथा (मायीयमल) वस्तुरूप है (अभावरूप नहीं), विश्व का मूल है और नित्य है ॥ १९ ॥

तात्पर्यदीपिका

मलानन्तरं कर्ममायात्मकं पाशद्वयमुत्तरश्लोकपूर्वापरार्धाभ्यां निरूपयति कर्मानादि इति।

प्रवाहरूपेण, न चैकस्यैव कर्मणः सर्वदावस्थानेन। तथा सति भावरूपस्य कर्मणोऽनादित्वेनात्मवन्नित्यतयानिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न हि कर्माविनाशे संसारनिवृत्तिः संभवति। इत्येवं प्रोक्तं तत्त्वज्ञैः। धर्माधर्मात्मकमिति धर्माधर्मरूपेण द्विविधमिति। विचित्रं चेति विविधफलहेतुत्वात् विचित्रमित्यर्थः। तथाहि—सुखासाधारणकारणं धर्मः, दुःखासाधारणकारणमधर्म इत्येके। अन्ये तु—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, तल्लक्षणोऽनर्थोऽधर्म इति ब्रुवते। अपरे धर्मः पुरुषगुणः कर्तुः प्रियहितमोक्षहेतुः, तद्विपरीतोऽधर्म इति। अहिंसालक्षणो धर्म इति केचित्। चैत्यवन्दनादिलक्षणो धर्म इति बौद्धाः। परे परोपकारलक्षणो धर्म इति। तत्रान्त्यं त्रयमनुपपन्नं, प्रमाणाभावात्। न च बौद्धाद्यागमाः प्रमाणं, तेषां पौरुषेयतया मूलप्रमाणाभावे प्रामाण्याभावात्। न चैषां मूलप्रमाणं किञ्चिदुपलभ्यते। प्रत्यक्षादेर्धर्मं प्रति प्रामाण्यासंभवस्योक्तत्वात्। न चोपकारलक्षणस्य धर्मत्वं, ब्राह्मणादिहिंसादेरपि तच्छत्रूपकारादिना धर्मत्वप्रसङ्गात्। नापि हिंसाया अधर्मत्वं, व्रीह्यवघातदुष्टनिग्रहाग्नीषोमीयपशुहिंसादेरधर्मत्वप्रसङ्गादिति। स धर्मस्त्रिविधः, नित्यनैमित्तिककाम्यात्मना तस्य भेदात्। तत्र 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्', 'यावज्जीवं ज्योतिष्टोमेन यजेते'त्येवमादिवाक्यैर्नियमेन विहिता नित्याः। निमित्तादुपजायमाना नैमित्तिकाः। तद् यथा—'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्', 'पुत्रे जातेऽष्टका कर्तव्ये'त्येवमादिविहिता जातेष्ट्यादयः। कामनापूर्वकाः काम्याः। 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः', 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्',

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'त्येवमादिवाक्यविहिताः। ते द्विविधाः—सविद्याः केवलाश्चेति। सविद्या ईश्वरस्मरणपूर्वकाः। इतरास्तद्रहिता इति। एवं लक्षणो धर्मो द्विविधः—इष्टः पूर्तश्चेति। तत्रेष्टो वैदिकः, पूर्तस्तान्त्रिक इति। प्रतिषिद्धोऽधर्मः। तद् यथा—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः', 'सुरां न पिबेत्', 'न शङ्खेन पिबेत् तोयम्' इत्यादिवाक्यनिषिद्धा ब्राह्मण हिंसादयः। अपरे त्वधर्मश्च त्रिविध इत्याहुः। नित्याकरणम् नैमित्तिकाकरणं प्रतिषिद्धकरणं चेति। नित्यनैमित्तिकाभ्यां प्रत्यवायपरिहारः काम्यात् स्वर्गादिप्राप्तिः। अधर्मान्नरकादिगमनमिति। एतदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

"क्रियायाः सूक्ष्मरूपं हि कर्माहुर्द्विविधं च तत्।
इष्टं पूर्तं च तत्रेष्टं वैदिकं तान्त्रिकं तथा॥
पूर्तमित्युच्यते सद्भिस्तत् पुनस्त्रिविधं मतम्।
धर्मोऽधर्मस्तथा चित्रमिति धर्मो विधेः पदम्॥
स पुनस्त्रिविधः काम्यनित्यनैमित्तिकात्मना।
निषिद्धोऽधर्म इतरच्चित्रं काम्यं पुनर्द्विधा॥
सविद्यं केवलं चेति विद्या चेश्वरचिन्तनम्।
प्रत्यवायहतिर्वा स्यादुपात्तदुरितक्षयः॥
नित्यनैमित्तिकाभ्यां स्यादधर्मान्नारकी गतिः।
अर्वाचीना मनुष्यात्तु पाषाणान्ता सुदुस्तरा॥
काम्यात् स्वर्गगतिस्तस्मादूर्ध्वा ब्रह्मावसानिका।
सविद्या देवयानेन पुनरावृत्तिवर्जिता॥
केवला पितृयानेन गतिः संसरणात्मिका।
धर्माधर्माख्ययोः साम्ये मानुष्यं लभते पुमान्॥
कर्मणोः सर्वगामी स्याच्चित्राच्चित्रफलोदयः।
कर्माख्योऽयं महापाशो दुर्मोचस्तेन जन्तवः॥
इतस्ततः समाकृष्य नीयन्ते पशवो यथा॥" इत्यादि।

एवं मलकर्मवशाद् महेश्वरेच्छया माया पुण्यापुण्यफलानुभवाय त्रिस्थानेषु देवादिशरीरेन्द्रियविषयात्मना पुनः पुनः परिणमते। तदुक्तं—

'मलात् कर्तृत्वभोक्तृत्वे कर्तृत्वात् कर्म कर्मणः।
भोगस्तदाक्षेपवशान्मायाबन्धस्ततस्तनुः॥
भोगाधिकरणं भोग्या लोकाश्च करणानि च।
इन्द्रियाणीति जायन्ते भोगसिद्ध्यै ततो मलः॥

अभिलाषात्मकश्चेति बीजाङ्कुरफलादिवत् ।
अनादिः पाशजालोऽणून् बध्नाति भवचक्रके ॥" इत्यादि ।

विचित्रं चेत्यनेन कर्मसद्भावे प्रमाणमप्युक्तम् । तथाहि—ईश्वर-दरिद्रादिभेदभिन्नं विचित्रं जगद् विचित्रकारणं विना न संभवति । तच्च न दृष्टमुपलभ्यत इत्यदृष्टकारणकल्पनेति तत्सिद्धिः । तदुक्तं मातङ्गे—

"जगतः सुप्रसिद्धे द्वे धर्माधर्मौ तु कर्मणी ।
अनादिकालसंरूढे ताभ्यां पुं वासितः सदा ॥" इत्यादि ।

तस्या मायायाश्च लक्षणमाह—विश्वस्य मूलमिति । विश्वस्य व्यक्तजातस्य कालादेर्मूलभूता उपादानभूता सा मायेति । तदुक्तं—'कालादीनां तत्त्वानामविवेको माये'ति । लक्षणपदेनैव तस्यां प्रमाण-मप्युक्तम् । तथाहि—विश्वं जगद् एकोपादानजन्यम् एकाकारत्वाद् यद्यदेकाकारं तत्तदेकोपादानजन्यं, यथा घटकुम्भमृदङ्गशरावकुड्य-वल्मीकादयः एकाकारा एकमृदुपादानजन्याः । तथेदमपि जडत्वादि-नैकाकारं, तस्माद् एकोपादानजन्यमिति । यदत्र सकलकालाद्यवनि-पर्यन्ततत्त्वजाताविवेकात्मकमुपादानं, सा मायेति तत्सिद्धिः । विस्तरेणै-तदुपरिष्टादुपपादयिष्यामः । मायाशब्दवाच्यतया तस्यापरमार्थत्वशङ्का स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह—वस्तुरूपेति । सा माया वस्तुरूपा परमार्थ-भूता विश्वमूलत्वादीश्वरवदिति । नित्या च सा माया । विश्वमूलत्वा-दीश्वरवदेवेति । अनित्यत्वे तस्या मूलान्तराभ्युपगमे विश्वमूलत्वाभावात् । न च माया महेश्वरमायाव्यतिरिक्तानामेव मूलमिति विश्वमूलत्वाभाव-स्तस्या इति वाच्यं, जन्यस्यैव मूलापेक्षत्वादजन्यमूलत्वाभावे विरोधा-भावादिति । न च परमेश्वरस्य विश्वमूलत्वे प्रमाणाभावात् साधनहीन-मुदाहरणमिति वाच्यं, तस्य विश्वमूलत्वश्रवणात् । तथाहि—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते', 'स इमाँल्लोकानसृजत' 'आत्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादिभिर्वेदवाक्यैः परमेश्वरस्य जगन्मूलत्वमवगम्यते । ततो न साधनविकलमुदाहरणमिति । तथा परमर्षिणा वेदव्यासेन सूत्रकृता परमेश्वरस्य विश्वमूलत्वं 'जन्माद्यस्य यतः (ब्र० सू० १.१.२), 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १.१.३) इति सूत्रद्वयेनोपवर्णितमिति । ननु तर्हि न मायाया विश्वमूलत्वं, परमेश्वरस्यैव विश्वमूलत्वादिति चेत् नैवम् । परस्परसृष्ट्योरेव मायामहेश्वरयोर्विश्वमूलत्वेनोभयोरपि तदुपपत्तेः । तथाहि—माया तावन्न परमेश्वरानधिष्ठिता जडा जगदु-

४ त०

पादानं भवति। महेश्वरश्च चेतनोऽपि न मायां विना विश्वमूलतां भजते, निर्व्यापारोदासीनमात्रत्वादिति तयोः संसृष्टयोरेव जगन्मूलत्वम् अयःपिण्डाग्न्योरिव कार्यकारणादीति। माया चेति चशब्देन माया-कार्यस्य विश्वस्य वस्तुरूपत्वमुपवर्णितम्। न च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वाद् एतदनुपपन्नमिति वाच्यं, तत्र प्रमाणाभावात्। ननु विमतः प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात् यद् यद् दृश्यं तत्तन्मिथ्या, यथा शुक्तिरजतं, तथायमपि दृश्यः, तस्मान्मिथ्येत्यनुमानात् प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिरिति चेत्, नैवम्। शुक्तिरजतस्य तद्व्यतिरिक्तस्येदं रजतमिति भ्रान्तिगोचरस्यापरमार्थ-भूतस्य सद्भावे प्रमाणाभावात्। ननु विमतं रजतज्ञानं रजतविषयं रजतज्ञानत्वात् सम्यग्रजतज्ञानवदित्यनुमानात् तत्र शुक्तौ रजतसद्भावः सिद्धः। नासौ सत्, तदानीं भ्रान्तत्वबाध्यत्वयोरसम्भवात् सम्यग्रज-तवत्। नाप्यसत्, शशविषाण इव ख्यातिबाधयोरसंभवप्रसङ्गात्। नापि सदसद्, विरुद्धत्वादिति सिद्धं तस्य सदसद्विलक्षणत्वम्। तदेवानि-रूपितरूपत्वं मिथ्यात्वं चेति। तदुक्तम्—

"सत्त्वे न भ्रान्तिबाधौ स्तां नासत्त्वे ख्यातिबाधकौ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्याविद्या वेद्यैः सह भ्रमा॥" इति।

तदेतदसारम्। अलौकिकस्य रजतस्य परमार्थभूतस्य तत्र प्रतिभासात्। तथा हि—द्विविधं हि रजतं लौकिकमलौकिकं चेति। तत्र लौकिकं वलयकरणादिसमर्थम् अलौकिकमत्र प्रतिभासमानं तदसमर्थम्। तस्य च द्वित्वादिसाम्येन परमार्थत्वान्न मिथ्यात्वम्। न च नेदं रजतमिति ज्ञानेनास्य बाधः, अपेक्षितलौकिकरजतविवेकख्यापकत्वे-नास्याबाधकत्वात्। अथालौकिकरजतावबोधे लौकिकरजतार्थिनस्तत्र प्रवृत्त्यभावप्रसङ्ग इति चेन्न। अलौकिकस्यापि लौकिकभेदाग्रहणेन प्रवृत्त्युपपत्तेः। अथवालौकिकस्य लौकिकतां मन्यमानस्तत्र प्रवर्तत इति। तथानिर्वचनीयरजतावबोधे च प्रवृत्त्यसम्भवात् भवता च मदुक्तमार्गानुसार आश्रयणीय एव। अतो नानिर्वचनीयापरमार्थरजत-सद्भाव इति दृष्टान्ताभावान्न प्रपञ्चमिथ्यात्वसिद्धिः। ननु भेदाग्रहणस्य प्रवर्तकत्वे नालौकिकरजतकल्पना सङ्गच्छते। शुक्तिरजतयोरेव गृह्यमाणस्मर्यमाणयोर्भेदाग्रहणात् रजतार्थिनस्तत्र प्रवृत्त्युपपत्तेः कल्पना-गौरवप्रसङ्गात्। तथाहि—इदं रजतमित्यत्र इदमनुभवः पुरोवर्ति-शुक्तिविषयः। रजतमिति तु सदृशदर्शनसमुद्बुद्धसंस्कारजं देशान्तर-

गतरजतविषयं स्मरणम्। तत्रानुभूयमानस्मर्यमाणयोः शुक्तिरजतयोर्भेदाग्रहणादेव रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि शुक्तिरजते प्रवृत्त्युपपत्तेर्नालौकिकरजतकल्पनमुपपन्नमिति। तत्र च न मिथ्याभूतं किञ्चिदस्तीति प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानस्य दृष्टान्ताभावादप्रामाण्यमिति। नैवम्। तच्छब्दोल्लेखनशून्यतया रजतज्ञानस्य स्मृतिरूपत्वासंभवात्। तस्मादत्रालौकिकं रजतं भासत इति। नैतदेवम्। अलौकिक-रजतग्रहणस्य प्रवर्तकत्वानुपपत्तेः। न चालौकिकस्य लौकिकतां मन्यमानः प्रवर्तत इति वाच्यम्। अन्यथाख्यातिवादप्रसङ्गात्। न च लौकिकभेदाग्रहणात् प्रवृत्तिः। स्वर्णभेदाग्रहणं प्रवर्तकमिति स्वर्णाग्रहणेन तदर्थिनस्तत्र प्रवृत्त्यभाव इति वाच्यम्। लौकिकरजतस्याप्यगृह्यमाणतया तदर्थिनस्तत्र प्रवृत्त्यसंभवात्। न चानेन रजतज्ञानेन तस्यापि ग्रहणमिति वाच्यम्, देशान्तरस्थतयेन्द्रियगोचरत्वासंभवात्। न चेदं स्मृत्यनुभवात्मकं पुरोवर्तिदेशान्तरगतरजतद्वयविषयं विज्ञानद्वयमिति वाच्यम्, इन्द्रियसंप्रयोगजन्यत्वात् तच्छब्दोल्लेखशून्यत्वाच्च रजतज्ञानस्य स्मृतित्वासंभवात्। तस्मादत्र भासमानं रजतमसदिति शून्यवादिनो मिथ्यात्वं चासद्विषयत्वमिति प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानात् प्रपञ्चस्याप्यसत्त्वमिति। नैतदेवम्। असद्रजतावबोधे रजतार्थिनस्तत्र प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। अथासद्रजतस्य सद्रजतभेदाग्रहात् तदभेदग्रहाद्वा प्रवृत्त्युपपत्तिरिति चेत्। नैवम्। रजतशुक्त्योरेव भेदाग्रहणादभेदग्रहणाद्वा प्रवृत्त्युपपत्तौ तद्व्यतिरिक्तासद्रजतकल्पनासंभवात्। तस्मादत्र रजतज्ञानं स्वगतं रजताकारं बहिः शुक्तिमस्तके प्रकाशयतीत्यात्मख्यातिवादिनः असतः ख्यानायोगात् सतश्च देशान्तरस्थत्वाद् अरजतस्य रजतधीगोचरत्वासंभवाच्च ज्ञानगतरजताकारस्य बाह्यर्थावभासो भ्रम इति। जाग्रज्ज्ञानानि च स्वाकारव्यतिरिक्तार्थशून्यानि ज्ञानत्वात् स्वप्नज्ञानवदिति ज्ञानाद्वैतवादी, ज्ञानमात्रं सर्वं तदन्यासत्त्वस्यानेनानुमानेनावगतत्वादिति। नैवम्। अस्यानुमानस्य पक्षहेतुदृष्टान्तादिग्राहकज्ञानैः स्वव्यतिरिक्तार्थवद्भिर्व्यभिचारात्। तेषामग्राह्यत्वेऽस्यानुमानस्याश्रयासिद्धिस्वरूपासिद्धिधर्म्यसिद्धदृष्टान्तत्वादिदोषप्रसङ्गः। न च स्वप्नज्ञानानां स्वाकारग्राहकत्वं, विज्ञानानां साकारत्वे प्रमाणाभावात्। न च नीलज्ञानं पीतज्ञानमित्यादिप्रतिकर्मव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या तज्ज्ञानानां नीलपीताद्याकारवत्त्वसिद्धिः। नीलपीतादेः कर्मकारकतया प्रामाण्यात्। तस्मात् स्वाकारं

बहीरूपतया न ख्यापयन्ति भ्रान्तय इत्यात्मख्यात्यसंभवः। किं तर्हि भ्रान्तिज्ञानानां भ्रान्तत्वम्, अनादिवृद्धव्यवहारावगतस्वविषयपरित्यागेन विषयान्तरोपसर्पणमिति ब्रूमः। तत्र च प्रमाणं नेदं रजतम्, अपितु शुक्तिकेति बाधकप्रत्ययानन्तरमिदं शुक्तिशकलं रजतरूपेण मया प्रत्याकलितमित्यबाध्यमानं प्रत्यभिज्ञात्मकं प्रत्यक्षमुपलभ्यत इति। तद्विपरीतानिर्वचनीयालौकिकख्यात्यसत्ख्यात्यात्मख्यात्यादिप्रतिपादकानां प्रमाणानामग्न्यनुष्णत्वप्रतिपादककृतकत्वानुमानवदप्रामाण्यमिति। तदुक्तं न्यायविद्भिः—

"विज्ञानानां यथार्थत्वं सर्वेषां केचिदूचिरे।
तदसाध्वन्यथाख्यातिर्मानस्यामीयते धिया॥" इति।

तथा अनुमानादप्यन्यथाख्यातिरत्रावगम्यते। तथा हि—विमता रजतार्थिनां पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले प्रवृत्तिः स्वगोचरे रजतज्ञानपूर्विका, रजतादित्साधीनप्रवृत्तित्वात्, सम्यग्रजतप्रवृत्तिवदिति। शुक्तिशकलं वा रजतज्ञानविषयः, रजतादित्साधीनप्रवृत्तिविषयत्वात्, सम्यग्रजतवदिति। तथा नेदं रजतम्, अपितु शुक्तिकेति बाधकप्रत्ययश्च पक्षान्तरेषु नोपपद्यते। शुक्तौ रजतरूपताप्राप्त्यभावात्। प्रकारान्तरेण बाधकप्रत्ययप्रसङ्गश्च–नेदं सद्रजतम्, अपित्वसद्रजतम् इति, नात्र सद्रजतमस्ति, अपित्वन्यत्रेति वानिर्वचनीयख्यातिपक्षे, नात्र वलयकरणसमर्थं रजतमस्ति अपित्वन्यत्रेति, नेदं वलयकरणसमर्थं रजतमपित्वलौकिकमिति वा प्राभाकरैकदेशीयमीमांसकपक्षे, नेदं सद्रजतम् अपितु असद्रजतमिति नात्र सद्रजतमस्ति अपित्वन्यत्रेति वासत्ख्यातिपक्षे, नात्र रजतमस्त्यपित्वान्तरमित्यात्मख्यातिपक्षे, रजताद् भिन्नमिदं शुक्तिशकलमिति भेदाग्रहणपक्षे भवेदिति। तस्मादन्यथाख्यातिव्यतिरिक्तख्यातीनामसंभव इति। रजतार्थिप्रवृत्त्यसंभवाच्च ख्यात्यन्तरासंभवः। अनन्तवस्तुभेदाग्रहणसद्भावात् पुरोवर्तिनि तदर्थिनां प्रवृत्तिप्रसङ्गः। न च गृह्यमाणयोर्भेदाग्रहणात् प्रवृत्तिः। घटपटयोर्गृह्यमाणयोस्तदानीम् भेदग्रहणाभावेन घटार्थिनः पटे प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न च धर्मिप्रतियोगिग्रहणवेलायां तद्भेदग्रहणोपपत्तिः। उभयग्रहणपूर्वकत्वाद् भेदप्रवृत्तेरिति। अथ भेदस्य स्वरूपत्वात् स्वरूपग्रहणेन भेदस्यापि गृहीतत्वाद् भेदाग्रहणाभावेनाप्रवृत्तिरिति चेत्। न तर्हि रजतार्थिनः पुरोवर्तिनि शुक्तिशकले प्रवृत्तिः। स्वयम्प्रकाशमानयोर्ग्रहणस्मरणयोरिदं

रजतमिति ज्ञानयोर्गृह्यमाणास्मर्यमाणयोश्च शुक्तिरजतयोः स्वरूपाग्रहणेन भेदाग्रहणासंभवात्। किञ्च भेदाग्रहणस्य प्रवर्तकत्वे शब्दार्थसम्बन्धग्रहणासंभवप्रसङ्गः। तथाहि—गामानयेति प्रयोजकवाक्यश्रवणसमनन्तरं प्रयोज्यवृद्धप्रवृत्तिमुपलभमानो बाल एवमवगच्छति—अस्य गमनक्रियाहेतुः प्रयत्नो जात इति स्वात्मनि गमनादिक्रियायाः प्रयत्नपूर्वकत्वदर्शनात्। प्रयत्नकारणत्वेनेच्छां गमनानुमितप्रयत्नेनानुमिनोति, इच्छाकारणत्वेन चेष्टसाधनज्ञानकारणत्वेन प्रयोजकवृद्धवाक्यं ज्ञानपूर्वकालवर्ति, तत्कारणवस्त्वन्तराभावात्। तत आनीयमानमर्थमुपलभमानोऽयमर्थसमुदायोऽनेन शब्दसमुदायादवगत इति जानाति। पश्चादावापोद्वापाभ्यां विशेषतोऽध्यवस्यति—अस्यार्थविशेषस्यायं शब्दविशेषो वाचकः, अस्य पदविशेषस्यायमर्थविशेषो वाच्य इति वा। अत्राग्रहणस्य ज्ञानप्रागभावरूपतयाशब्दजन्यत्वाच्छब्दशक्तिकल्पनानवकाशः, ज्ञानद्वारेणेच्छाप्रयत्नावुत्पाद्य शब्दस्य प्रवर्तकत्वादिति चन्द्रद्वित्वशङ्खपीतिमादिभ्रमादिषु न भेदाग्रहणसंभव इति। तस्मान्न भेदाग्रहणात् प्रवृत्तिः, अपित्वन्यथाग्रहणादिति ब्रूमः। ननु शैवैः शास्त्रे अन्यथाख्यातिराश्रीयत इति कुतोऽवगतं, भूतशुद्धितन्त्रे उक्तत्वात्। तथाहि—

> "अन्यथाख्यामुपाश्रित्य सांख्यवच्छिवशासनम्।
> या अनिर्वचनीयेति तथा सिद्धान्तवादतः॥
> वेदान्तवादिनां दृष्टिमाश्रितं वैष्णवं मतम्।" इति।

° सांख्यमिति च सेश्वरसांख्यं विवक्षितम्। इतरस्याख्यातिवादित्वात्। तथाप्युक्तं सांख्याचार्यैः—"विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठमिति" सूत्रेणान्यथाख्यातिप्रतिपादनात्। तस्माच्छुक्त्यविद्यासमुद्भूतस्य शुक्त्यधिष्ठितस्य शुक्तिव्यतिरिक्तस्याधिष्ठानयाथात्म्यज्ञाननिवर्त्यस्य मिथ्याभूतस्य रजतस्याभावात् प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानं धर्म्यसिद्धदृष्टान्ततया न प्रामाण्यसम्पदमधिगच्छतीति। तथात्मनोऽपि स्वतः सिद्धस्य श्रुतिप्रमाणदृश्यत्वाद् हेतोर्व्यभिचारः। किञ्च प्रपञ्चस्य धर्मिणो दृश्यत्वेन हेतुना यथा साध्यते, तथा दृश्यत्वस्य हेतोर्मिथ्यात्वस्य साध्यधर्मस्य मिथ्यात्वं यद्यनेनैवानुमानेन साध्येत, तदा हेतोः पक्षैकदेशतया पक्षे वृत्त्यभावादनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध इत्यसिद्धत्वं प्रपञ्चमिथ्यात्वस्य धर्मिणोऽन्यत्र प्रपञ्चवदसिद्धेराश्रयैकदेशासिद्धत्वं च प्रसज्यते। तद् द्वयस्य

मिथ्यात्वासाधने तत्र वर्तमानत्वाद् दृश्यत्वस्य व्यभिचारः। प्रमाणान्तरेण तन्मिथ्यात्वसाधने तन्मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वासाधनात् तत्र द्वयोर्व्यभिचारः। तस्यापि मिथ्यात्वसाधनेऽन्तिमस्य मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वासाधनात् तत्र द्वयोर्व्यभिचारः। तस्यापि मिथ्यात्वासाधनेऽन्तिमस्य मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वासाधनात् तत्र वर्तमानतया हेतोर्व्यभिचारः। तथा मिथ्यात्वं यद्यसत्त्वं तदा सन् घटः सन् पट इत्यादिप्रत्यक्षबाधे प्रपञ्चस्य धर्मिणो मिथ्यात्वस्य धर्मस्य हेतोर्दृश्यत्वस्य शुक्तिरजतस्य दृष्टान्तस्य च शशविषाणकल्पत्वेनाश्रयासिद्ध्यादिदोषप्रसङ्गः। तेषां सद्भावे हेतोर्व्यभिचारः। इत्युभयथा शून्यवादिनां न वादेऽधिकारः।

तदुक्तम्—

"अधिकारोऽनुपायत्वान्न वादे शून्यवादिनः।" इति।

यदि ज्ञाननिवर्त्यत्वं, तदा च प्रत्यक्षादिविरोधः। प्रत्यक्षादिना मुद्गरप्रहारादिनिवर्त्यत्वोपलम्भेन कार्यकल्प्यज्ञाननिवर्तनयोग्यताया असंभवात्। न च कल्पकोटिशतसहस्रवर्तिनां पदार्थानां कारणान्तरविनष्टानामज्ञानादविनाशो घटत इति। यदि सदसद्विलक्षणत्वं मिथ्यात्वं, तदापि प्रत्यक्षादिविरोधः। प्रत्यक्षादिना पदार्थानां सत्त्वासत्त्वयोरुपलम्भात्। तथा विरुद्धत्वाच्च सदसत्त्ववदेकस्य पदार्थस्य न सदसद्वैलक्षण्योपपत्तिः। देशकालभेदेन त्वर्थानां सदसत्त्वयोरुपपत्तिः। उभयवैलक्षण्यं तु न कथञ्चिदुपपद्यत इति। अथ बाध्यत्वमिति चेदस्तु। बाध्यत्वं यदि नाशित्वं, तदांशे सिद्धसाध्यतांशे धर्मिग्राहकप्रमाणबाधा च। कालाद्यवनिपर्यन्ततत्त्वानां तत्कार्याणां च विनाशित्वस्य सिद्धत्वात् मायायाः स्वग्राहकप्रमाणेन नित्यत्वस्य सिद्धत्वाच्चेति विश्वकार्यकलापस्य कारणापेक्षायां तन्मूलतया मायासद्भावसिद्धिः। अतस्तस्या नित्यत्वं, विश्वकार्यकारणतया कार्यत्वेनानित्यत्वासम्भवात् तस्याश्च कारणान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गाच्च। नित्यत्वं कस्यचिदाश्रयणीयम्। तत् कल्पनागौरवपरिहाराय प्रथमभूताया मायाया एवाभ्युपगतमिति धर्मिग्राहकेणैव प्रमाणेन तन्नित्यत्वमपि सिद्धमिति न धर्मिग्राहकप्रमाणविरोधः। न चानेन तस्य बाधासंभवः। अस्य तन्मूलतया तदभावे मायासद्भावसिद्धेराश्रयासिद्धिदोषप्रसङ्गात्। अथ बाधात्मकबोधविषयत्वं बाध्यत्वं, तस्य शुक्तिरज्ज्वादावुपजातरजतसर्पादिज्ञानेऽप्यस्तीति न साध्यहीनमुदाहरणम्। तथा हि—अनादिसिद्धस्व-

विषयरजतादिपरित्यागेन विषयान्तरे शुक्त्यादावुपसर्पणान् मिथ्येदं ममोत्पन्नं रजतादिज्ञानमिति बाधात्मकबोधविषयता रजतादिज्ञानाना-मुपलभ्यते । तत्दृष्टान्तबलात् प्रपञ्चस्यापि बाधात्मकबोधविषयत्वं साध्यत इति न कश्चिद् दोष इति चेत् । नैवम् । सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् । तथा हि,—"सर्वो वै रुद्रः" इत्यादिश्रुतेः—

"विचारतस्तु रुद्रस्य स्थूलमेतच्चराचरम्"

इत्यादिस्मृतेश्च शरीरशरीरिरूपतया सर्वस्य रुद्रात्मकत्वावगमात् सर्वेषामपि पदार्थानां रुद्रात्मकत्वावभासस्य भ्रमरूपत्वं, तेन नायं प्रपञ्चोऽशिवात्मकः, किन्तु रुद्रात्मक एवेति बाधात्मकबोधविषयत्वस्य सिद्धत्वात् सिद्धसाध्यताप्रसङ्ग इति । अथाशिवात्मतागोचराः ये प्रत्ययाः प्रपञ्चविषयास्तेषां मिथ्यात्वमन्यथाख्यातिरूपत्वं साध्यत इति चेत् तर्हि सिद्धं नः समीहितं प्रपञ्चसत्यत्वाविरोधात् । न हि रज्जौ सर्पज्ञानोत्पादेन रज्जुसत्यत्वं विरुध्यत इति । तस्माद् युक्तमुक्तं माया च वस्तुरूपेति । अपरमार्थात् परमार्थवस्तूत्पादासम्भवाच्चेति । अपरे पुनर्माया च वस्तुरूपेत्येतद् वाक्यमन्यथा व्याचचक्षिरे । तथाहि—माया वस्तुरूपा शिवरूपा तत्कार्यं च जगच्छिवरूपम् । शिवाद् भिन्नस्य कस्यचिदसंभावात् । तथाहि—ज्ञानस्वभाव एवायमात्मा शिवो माया-तत्कार्यात्मनावभासते । ततः स एव तदुभयमिति । न च तथा सति शिवस्य परिणामित्वमिति वाच्यं विवर्तवादाश्रयणात् । अप्रच्युतोत्तर-स्वस्वभावस्य वस्तुनोऽन्यथाभावो विवर्तः । यथा रज्जोः सर्पत्वम् । न हि रज्जौ सर्पभावकाले परिणामादि दृष्टमिति महेश्वरस्यापि जगद्रूपत्वे तद्वदेव परिणामादिकासंभव इति शिव एव मायातत्कार्यात्मना भासत इति । तदुक्तमीश्वरगीतायाम्—

"स एव मूलप्रकृतिः प्रधानः पुरुषोऽपि च ।
विकारा महदादीनि देवदेवः सनातनः ।" इति ।

न हि रजतादेरन्यत्र विद्यमानस्य शुक्तिकादौ भ्रमदर्शनादस्य प्रपञ्चस्यान्यत्रासंभवाद् भ्रमरूपत्वासंभव इति वाच्यम् । पूर्वदर्शनमात्र-स्य भ्रमहेतुसंस्कारहेतुतया प्रयोजकत्वेनान्यत्र विद्यमानतया अप्रयो-जकत्वात् । तस्मात् पूर्वपूर्वदिवसजन्मकल्पादिष्वनुभूतस्योत्तरोत्तर-दिवसजन्मकल्पादिषु भ्रमसंभव इति न कश्चिद् दोषः । तदुक्तं शतककारेण—

"सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं व्ययोदयविहीनम् ।
यत् परतत्त्वं तस्मिन् विभाति षट्त्रिंशदात्म जगत् ।।
दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ।।
विमलतरपरमशाम्भवबोधात् तद्वद्विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति शिवरूपम् ।।" इति ।।१९।।

वृत्तिः

कर्मणोऽनादित्वं प्रवाहानादितयेत्युक्तम् । वैचित्र्यं च साधनभेदात् साधनं च कर्त्रादिविशेषः विचित्रभोगभेदात्मकफलदर्शनाच्च । माया च तावद् वस्तुरूपा । न तु वेदान्तवादिनामिवासत्यरूपा । विश्वस्य कलादेस्साधारणस्य । भुवनाद्यात्मनोऽसाधारणस्य सूक्ष्मदेहात्मनः उभयरूपस्य भुवनजशरीरात्मनश्चाशुद्धस्य सर्वस्य जगतो मूलमुपादानम् । उपादानं विना कार्यानुत्पत्तेः । सा च नित्या परमकारणत्वात् । अनित्यत्वे त्वनवस्थाप्रसङ्गाच्च । अत एवैका सा ज्ञेया । एष च न्यायश्शुद्धाध्वोपादानभूतस्य बिन्दोरपि समानः । ननु तत्र उद्देशसूत्रे मायेयः पाशत्वेनोद्दिष्टः अत्र मायाया लक्षणमुक्तमिति विरोध इति चेत्, सत्यम् । मायायास्स्वतो बन्धकत्वाभावात्तत्र तत्कार्यमुद्दिष्टम् । अत्र तु तस्य कारणाधीनत्वात् कारणस्य लक्षणमुक्तम् । कार्यस्य तु विस्तृतत्वात् पश्चाल्लक्षणमभिधास्यत इत्यविरोधः ।। १९ ।।

पाशानुग्राहित्वात् पुरुषतिरोधायिका विभोश्शक्तिः ।
पाशत्वेनाभिहिता[1] पाशाश्च चतुर्विधास्त्वेवम् ।। २० ।।

पाशों पर (उनमें अनुस्यूत रहने से) (स्वकर्म में प्रवर्तनरूप) अनुग्रह करने (अथवा पाशवत् बन्धन कर्म) के कारण पुरुष की आवरक शिव की शक्ति पाशरूप में कही गई है । इस प्रकार पाश चार प्रकार के हुये ।। २० ।।

तात्पर्यदीपिका

इदानीं शक्तिगणं निरूपयति—पाशनिति ।

मलकर्ममायाकार्याणां पाशानामचेतनतया परमेश्वरशक्त्यावेशं विना पशुबन्धनसामर्थ्याभावात् स्वावेशेन पाशानुग्रहं स्वकार्ये प्रवर्तनं कुर्वती पुरुषतिरोधायिका पुरुषाच्छादिका विभोः परमेश्वरस्य शक्तिः

१. क्वचिदस्ति 'कथिताः' इत्यपि ।

पाशतयोक्ता तत्त्वज्ञैरिति । पाशाश्च चतुर्विधास्त्वेवमित्युपसंहरति । एवमुक्तेन प्रकारेण पाशाश्चतुर्विधा इत्यर्थः । नन्वर्थपञ्चकं पाश इत्युपक्रम्य पाशाश्चतुर्विधा इत्युपसंहारे पूर्वापरविरोध इति चेन्नैवम् । स्थूलसूक्ष्मविभागेनोक्ताया मायाया एकत्वविवक्षया चातुर्विध्याभिधानादिति । पाशाश्च चतुर्विधास्त्वेवमित्युपसंहारवाक्यस्थेन चशब्देन शास्त्रार्थोपसंहारो द्योतितः । एवं त्रिविधं तत्त्वमिति ॥ २० ॥

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां पतिपशुपाशात्मकविचारः
प्रथमः परिच्छेदः ।

वृत्तिः

इत्थं साक्षात्पाशत्रयमुक्त्वा शक्तेरुपचारेण पाशत्वमिति दर्शयन्नुक्तार्थमुपसंहरति—पाशेति ॥ २० ॥

शुद्धानि पञ्चतत्त्वान्याद्यन्तेषु स्मरन्ति शिवतत्त्वम् ।
शक्तिसदाशिवतत्त्वे ईश्वरविद्याख्यतत्त्वे च ॥२१॥
[1]पुंसोऽज्ञकर्तृतार्थं मायातस्तत्त्वपञ्चकं भवति ।
कालो नियतिश्च तथा कला च विद्या च रागश्च ॥२२॥
अव्यक्तं मायातो गुणतत्त्वं तदनु बुद्ध्यहङ्कारौ ।
चेतो-धीकर्मेन्द्रियतन्मात्राण्यनु च पञ्चभूतानि[2] ॥ २३ ॥

शुद्धतत्त्व पांच हैं। इनमें आदि (तत्त्व के रूप में) शिवतत्त्व का स्मरण किया जाता है। (शेष चार तत्त्व हैं) शक्ति तथा सदाशिव ये दो तत्त्व, और ईश्वर तथा (शुद्धा) विद्या नामके दो तत्त्व ॥ २१ ॥ १ ॥

पुरुष में अज्ञत्व तथा अकर्तृत्व (अथवा ज्ञातृत्व और कर्तृत्व) लाने के लिये माया से पाँच तत्त्व उत्पन्न होते हैं—काल, नियति, कला, विद्या तथा राग ॥ २२ ॥ २ ॥

माया से अव्यक्त, (अव्यक्त से) गुणतत्त्व, (गुणतत्त्व से) बुद्धि, (बुद्धि से) अहंकार, (अहंकार से) मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और तन्मात्र तथा (तन्मात्रों से) पञ्चभूत क्रमशः उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥ ३ ॥

---

१. पुंसो ज्ञकर्तृतार्थम् । २. तन्मात्राण्यपि च भूतानि ॥

तात्पर्यदीपिका

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

अथ संक्षेपेणोक्तानां पतिपशुपाशानां विस्तारमुपदिशति। शुद्धानीति।
अत्राद्यं पञ्चकं शिवस्वरूपत्वाच्छुद्धं, मध्यमं सप्तकं शुद्धाशुद्धं, पशुरूपत्वात् । कथमत्र सप्तकत्वमित्यत आह—पुंसो ज्ञकर्तृतार्थं मायातस्तत्त्वपञ्चकम् भवति। पुरुषस्य ज्ञानार्थं च मायातः तत्त्वपञ्चकमुत्पद्यते । तेन कारणभूता माया कार्यभूतं पञ्चकं तदुपहितः पुरुषः सप्तमः इति सप्तकत्वम् । तदुक्तंशैवरहस्ये—

"माया कालो नियतिः कला च विद्याभिलाषकृत् पुरुषः ।
क्लृप्तानि सप्तधैवं शुद्धाशुद्धानि तत्त्वानि ॥" इति ।

शिष्टं केवलाशुद्धम् अव्यक्तादिपृथिव्यन्तम् । अव्यक्तस्य मायात उद्भवः, अव्यक्ताद् गुणतत्त्वस्य, गुणतत्त्वाद् बुद्धेः बुद्धितत्त्वादहंकारस्य, अहंकारात् मनोबुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियतन्मात्राणामुद्भवः, तन्मात्रेभ्य आकाशादिपृथिव्यन्तानामिति ॥ १–३ ॥

वृत्तिः

इत्थं सकलविषयं पाशत्रयमुभयविषयं तिरोधानशक्तिं चोक्त्वा मायोत्तीर्णविषयं शुद्धाध्वस्वरूपं पाशमाह—शुद्धानीति ।

शुद्धानि शुद्धतत्त्वानि । किं तानि नित्यानि उतानित्यानि । नित्यत्वे सृष्टिविरोधः । अनित्यत्वे किं तेषामुपादानमित्यत आह–तेषु मध्ये शिवतत्त्वं बिन्द्वात्मकं आद्यं प्रधानमुपादानं स्मरन्ति पूर्वाचार्याः । परमोपादानत्वेनैव चास्य मायावन्नित्यत्वं सिद्धमित्युक्तम् । अतश्चान्यानि चत्वारि तानि तत्कार्याणीति भावः । तदुक्तम् मायोपरि महामायेति । इदमत्राकूतम् । विद्यादितत्त्वानां विचित्रभुवनादिसन्निवेशादिमत्त्वेन श्रुतेः कार्यत्वाव्यभिचारात्तत्तत्त्ववासिनां च शरीरादियोगात्तत्कारणं महामायात्मकं सिद्धमिति । यदुक्तम्–उपादानं शरीराणां विद्याविद्येश्वरात्मनाम् इति । किञ्च नादादिद्वारेण मन्त्रतन्त्राद्युत्पादकत्वमप्यस्याः श्रूयते । शक्तेर्नादो भवेद् बिन्दुरक्षरं मातृका ततः । इत्यादि । इत्थं बिन्द्वात्मकं शिवतत्त्वं प्रसाध्य तत्कार्याणि चत्वारि तानि किन्नामानीत्यत आह—शक्तिसदाशिवेति ॥ २१ ॥

एवं शुद्धानि तत्त्वानि सङ्ख्यातो नामतश्च उक्त्वा अथ अशुद्धान्यपि तथैवोद्दिशति—पुंस इति ।

पुंसो बद्धात्मनो अज्ञकर्तृतार्थं अज्ञत्वकर्तृत्वसिद्ध्यै मायातः साक्षात् पारम्पर्येण च कालादितत्वपञ्चकं भवति । पञ्चकञ्चुकयुक्तस्यास्य भोक्तृत्वेन पुंस्त्वमलयोगात् पुरुषतत्त्वाख्या भवतीति वक्ष्यति ।। २२ ।।

किं च—अव्यक्तमिति ।

धीकर्मेन्द्रियेति । बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणीत्यर्थः । अव्यक्तादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि । मायातः पारम्पर्येणोत्पन्नानीति वक्ष्यामः अत्र लक्षणोक्त्यवसरेण, एतेषां च ।। २३ ।।

पुरुषस्य भोगहेतोः[1] प्रधानतो विंशतिर्भवेत् त्र्यधिका ।
यस्मात् प्रकृतिगुणानां नात्यन्तं वस्तुतो भेदः ।। २४ ।।

पशु के भोग के निमित्त प्रधान से तीन अधिक बीस अर्थात् तेईस तत्त्व उत्पन्न होते हैं । (ये तत्त्व चौबीस न होकर तेईस ही उत्पन्न होते हैं) क्योंकि प्रकृति और गुणों में स्वरूपतः अधिक अन्तर नहीं हैं ।। २४ ।। ४ ।।

तात्पर्यदीपिका

किमर्थमेषामुत्पादः कृतो भगवता महेश्वरेणेत्याशङ्क्याह–पुरुषस्येति ।

पुरुषस्य पशोः स्वकृतपुण्यापुण्यफलभूतसुखदुःखानुभवार्थमेषामुत्पत्तिः । भोगस्तु भोगायतनं भूतात्मकं शरीरं भोगसाधनानीन्द्रियाणि भोग्यान् शब्दादिविषयान् विना न संभवतीति भोगार्थमेषां जन्मेति सिद्धम् । अव्यक्तगुणतत्त्वयोरत्यन्तभेदाभावाद् न च तत्त्वाधिक्यमिति । एतदुक्तं शैवरहस्ये—

"अव्यक्तबुद्ध्यहंकृतिमनांसि चत्वारि शब्दमात्राद्यम् ।
श्रोत्राद्यं वागाद्यं वियदाद्यं पञ्चकं च पृथक् ।।
तत्त्वचतुर्विंशतिकं त्रिगुणात्मतयैव केवलाशुद्धम् ।" इति ।। ४ ।।

वृत्तिः

सर्वेषां चैषां कुत्र कुत्रोपयोगः किं च प्रधानात् साक्षात् जातानि कानि तत्त्वान्तरव्यवधानेन जातानि कानीति सर्वं दर्शयिष्यामः । ननु अव्यक्तं मायात इत्यादिना प्रकृत्यधस्तनतत्त्वानां चतुर्विंशतेरुक्तत्वात्कथमत्र त्र्यधिका विंशतिरुच्यते अत आह—यस्मात् प्रकृतिगुणानामिति गुणानामेव प्रकृतित्वेन सांख्यैरभ्युपगमात् तन्निरासाय तेषामचैतन्ये सत्यनेकत्वाद् घटादीनामिव कारणान्तरेण भवितव्यमिति प्रकृति-

१. पुरुषस्य हि भोगार्थं ।

सिद्धिरस्माभिरुच्यते । ततः कार्यकारणयोरभेदविवक्षयैवमुक्तमित्य-विरोधः ॥ २४ ॥

व्यापकमेकं नित्यं कारणमखिलस्य तत्त्वजातस्य ।
ज्ञानक्रियास्वभावं शिवतत्त्वं जगदुराचार्याः ॥ २५ ॥

(सिद्धान्तदर्शन के) आचार्यों ने शिवतत्त्व को (विश्व में) व्यापक, एक (परमकारणरूप), सभी तत्त्व-समूहों का उपादान, तथा ज्ञान और क्रिया-स्वरूप कहा है ॥ २५ ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

प्रथमोद्दिष्टं शिवतत्त्वं लक्षयति—व्यापकमिति ।

व्यापकं व्याप्तं सर्वगतमित्यर्थः । एकमद्वितीयं सर्वभूतस्व-रूपेणावस्थितमित्यर्थः । नित्यम् अनश्वरम् । अखिलतत्त्वजातस्य कालादिपृथिव्यन्तस्य कारणमुत्पादकम् ज्ञानक्रियास्वभावमिति । ज्ञानमात्रं क्रिया व्यापारः साक्षित्वं स्वभावो यस्य तत्त्वस्य, तत् शिवतत्त्वमिति तल्लक्षणम् । जगदुराहुः आचार्याः आगमविद इति । अथवा स्वव्यतिरिक्तमस्ति चेत् तदखिलं व्याप्नोतीति व्यापक-मित्युक्तम् । स्वसमानासमानपुरुषान्तराभावादेकत्वम् । व्याप्त्येकत्वे चाकाशस्यापि स्त इति तन्निवृत्त्यर्थं नित्यपदोपादानम् । व्याप्तिनित्य-त्वैकत्वानि पशोरपि विद्यन्त इति तन्निवृत्यर्थं कारणमखिलस्य तत्त्व-जातस्येति पदम् । मायायाश्च व्यापकनित्यत्वैकत्वाखिलकारणत्वसद्-भावात् तन्निवृत्यर्थं ज्ञानक्रियास्वभावमित्युक्तम् अतो यद् व्यापकमेकं नित्यमखिलतत्त्वकारणं ज्ञानक्रियास्वभावं, तच्छिवतत्त्वमिति । एतदुक्तं श्वेताश्वतरे—

"सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥" इति ।

शिवधर्मोत्तरे च—

"आदिमध्यान्तनिर्मुक्तः स्वभावविमलः प्रभुः ।
सर्वज्ञः परिपूर्णश्च शिवो ज्ञेयः शिवागमे ॥" इति ।

सिद्धान्तहृदये च—

कूटस्थममृतं ब्रह्म सत्यमेकमविक्रियम् ।
निष्प्रत्यनीकं चित्सौख्यं नित्यतृप्तमलुप्तदृक् ॥

अध्वातीतं परं व्योम विश्वव्यापि निरामयम् ।
अणीयोऽणोरजं नित्यमुक्तं च महतो महत् ।।
अप्रतर्क्यमरूपादि निरौपम्यमलक्षणम् ।
सदात्मकं स्वयंज्योतिरवाङ्मनसगोचरम् ।।
अतन्निषेधमार्गेण ज्ञायते यच्च सूरिभिः ।
यच्च भ्रामकवत् कर्तृ ज्ञापकं च प्रदीपवत् ।।
मायासहायं तत्प्राहुः शिवतत्त्वं मनीषिणः ।" इति ।। ५ ।।

वृत्तिः

अथोपदिष्टेषु तत्त्वेषु प्रथमोद्दिष्टन्तावच्छिवतत्त्वं लक्षयति—व्यापकमिति ।

यत्प्राक् शुद्धाध्वोपादानत्वेन बिन्द्वात्मकं शिवतत्त्वं साधितं तत् व्यापकं शुद्धशुद्धात्मनो जगतो निजपरिणतिरूपाभिर्निवृत्यादिभिः कलाभिर्विश्वं व्याप्नोतीत्यर्थः । यदाहुः 'कलावस्थानि तत्त्वानि तत्त्वस्थो भुवनव्रजः ।' इत्यादि । तच्च एकम् परमकारणत्वात् । अनेकत्वे हि जडत्वे सत्यनेकत्वाद् घटादिवत् कार्यं स्यादित्युक्तम् । अत एव नित्यम् । अनित्यत्वे परमकारणत्वाभावात्तस्यापि च उपादानान्तरापेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गाच्च निखिलस्य च शुद्धरूपस्य तत्त्वजातस्य कारणं उपादानम् । न त्वशुद्धस्य तत्त्वस्य । तच्च मायोत्पन्नत्वेनोक्तत्वादस्य च शुद्धत्वेनाशुद्धकारणत्वायोगात् । किं च ज्ञानक्रिये स्वस्मिन् स्थिते आत्मनां भावयतीति ज्ञानक्रियास्वभावं अयमर्थः तत्तद्भुवनेश्वराराधनात् दीक्षया वा स्वकार्यभूतशुद्धाध्वभुवनप्राप्तानां ज्ञानक्रिये प्रकटयतीति यदुक्तम् श्रीमन्मतङ्गे—

'शान्त्यतीतं परं तत्त्वमविनाश्यव्ययात्मिकम् ।
येनोन्मीलितसामर्थ्याः पशवो जीवतां गताः ।।'

इति । अत एवास्य बोधकत्वम् । ननु मायापि कलादिद्वारेण ज्ञानक्रियाप्रकाशिकेत्युक्तम् । सत्यम् । मायोत्पन्नस्य ज्ञानादेः किंचिद्विषयत्वादनात्मादावात्मादिभावना हेतुत्वाच्च सा मोहिका । इदं तु सर्वविषयज्ञानादिप्रकाशत्वाच्छास्त्रसिद्धोत्पादनद्वारेण शिवादिशुद्धवस्तुबोधकत्वाच्च बोधकमित्यविरोधः । यद्वा ज्ञानक्रियाख्यं स्वं धनमात्मनां भावयत्यभिव्यनक्तीति ज्ञानक्रियास्वभावम् । अथवा ज्ञान-

क्रिये अस्य न स्वभाव इति । नञ्प्रश्लेषणाज्जडरूपतया व्याख्येयम् । न तु ज्ञानस्वभावतया उपादानत्वेन मृदादिवदचेतनत्वात् ज्ञानस्वभावस्योपादानत्वायोगात् । तदुक्तम् श्रीमत्पराख्ये–निमित्तमीश्वरस्तेषामुपादानं स बिन्दुराट् । इति । अन्यत्राप्युक्तम् । सा च कुण्डलिनी शंभोः शक्तिः शुद्धा जडात्मिका । इति । एवंभूतमुपादानरूपं महामायाख्यं शिवतत्त्वमाचार्या जगदुरिति । न त्वियमार्या परमशिवविषयतया तच्छक्तिविषतया वा व्याख्येया । शिवादिपृथिव्यन्ततत्त्वलक्षणप्रस्तावे तत्त्वातीतयोस्तयोरत्राप्रस्तुतत्वात् । तयोरेव शिवतत्त्वरूपत्वेन शुद्धाध्वोपादानत्वाभ्युपगमे परिणामित्वादचेतनत्वादिदोषप्रसङ्गात् । न च चिद्विवर्ताभ्युपगमो युक्तः । सर्वप्रमाणसिद्धत्वेन जगतोऽसत्यत्वाभावात् । विवर्तस्य चासत्यत्वाभ्युपगमात् । शिवतत्त्वसंज्ञायाः बिन्द्वात्मनः कुण्डलिन्याश्चित्समवायाभावेन परिग्रहशक्तित्वेन श्रवणाच्च प्रोक्तैव व्याख्या युक्ता । तदुक्तम्—

नात्रशक्तिरुपादानं चिद्रूपत्वाद्यथा शिवः ।
परिणामोचितः प्रोक्तश्चेतनस्य न युज्यते ॥
चित्तो विवर्त एवोक्तस्तथात्वे कार्यशून्यता ।
सर्वप्रमाणसंसिद्धि चिद्विवर्तं कथं जगत् ॥
मायापि नात्रोपादानं मोहकत्वात्स्वतेजसा ।
सा कुण्डलिनी शम्भोः शक्तिः शुद्धा जडात्मिका ॥
न तादात्म्यात्स्थिता किन्तु वर्तमाना परिग्रहे ।
शिवे कर्तरि तादात्म्यान्नेयं कुण्डलिनी स्थिता ॥
उपादानं त्वतो हेतोः कुलाले मृत्तिका यथा । इति ।

शब्दब्रह्मवादिपक्षेणापि आत्मन एव नादादिक्रमेण बहुधाऽवस्थानं च युज्यत इत्युक्तम् नादकारिकासु—

अविकार्यत्रात्मोक्तस्तच्छक्तिः चाप्यतो न योग्यौ तौ
बहुधा स्थातुं यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् । इत्यादि ।

अतः शब्दोत्पादनत्वेनापि महामाया सिध्यतीत्येवमादिविस्तरेणास्माभिर्मृगेन्द्रवृत्तिदीपिकायां दर्शितमिति ततोऽवधार्यम् ॥ २५ ॥

अस्मिन्निलीय निखिला इच्छाद्याः शक्तयः स्वकं कार्यम्[1] ।
कुर्वन्ति तेन तदिदं सर्वानुग्राहकं प्राहुः ॥ २६ ॥

---

१. कृत्यम् ।

इस परमेश्वर तत्त्व में अधिष्ठित होकर इच्छा आदि सभी शक्तियाँ अपने (अनुग्रह आदि) कार्य करती हैं। इससे यह शिवतत्त्व ही सब पर अनुग्रह-कारक (अथवा व्यापक) कहा गया है ॥ २६ ॥ ६ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु निष्क्रियस्य शिवतत्त्वस्य कथं निखिलतत्त्वकारणत्वमित्याशङ्क्याह—अस्मिन्निति ।

अस्मिन् परमेश्वरतत्त्वे निलीनास्तत्तत्त्वमवलम्ब्य स्थिता इच्छाद्याः शक्तयः स्वकार्यं कुर्वन्ति, न स्वातन्त्र्येण । तासां शिवसामर्थ्यरूपत्वात् । तेनासौ शिवो निखिलतत्त्वकारणम् , अत एव सर्वानुग्राहकश्च भवतीति । अस्य शिवतत्त्वस्य षडध्वव्याप्तिः ।

स्वराः षोडश वर्णाध्वा ताराद्यं नवकं पदम् ।
मन्त्रौ षड्वर्णपञ्चार्णौ तत्त्वं तत्र शिवात्मकम् ॥
नेन्तं नमः परायाद्यं त्रिपञ्चभुवनान्यपि ।
निवृत्त्यादीनि पञ्चात्र शान्त्यतीतादयः कलाः ॥
सर्वत्रान्ते पदं योज्यं स्यात् षडध्वात्मने नमः ॥ ६ ॥

वृत्तिः

अत एव—अस्मिन्निति ।

इच्छाद्याः शिवशक्तयः अस्मिन् उपादाने प्रथमं निलीय तदधिष्ठानेन स्वकमनुग्राह्यानुग्राहकलक्षणं कार्यं तच्छेषभूतं च सृष्ट्यादिकं कुर्वन्ति । ततस्तदिदमपि परम्परया सर्वानुग्राहकत्वात् सर्वानुग्राहकं प्राहुः । न तु शक्त्यधिष्ठाननैरपेक्ष्येणास्वातन्त्र्यात् । अचेतनस्य चेतनाधिष्ठानं विना कार्योत्पादनायोगात् ॥ २६ ॥

चिदचिदनुग्रहहेतोरस्य सिसृक्षोर्य आद्य उन्मेषः ।
तच्छक्तितत्त्वमभिहितमविभागापन्नमस्यैव ॥ २७ ॥

चेतन और अचेतन (पशु और पाश) पर अनुग्रह करने के लिये सृष्टि के इच्छुक इस शिव का जो प्रथम स्फुरण (परिणाम) है, उसी को शक्तितत्त्व कहा गया है। यह इस शिव से अविभक्तरूप ही है ॥ २७ ॥ ७ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथ शक्तितत्त्वमाह—चिदिति ।

अयमर्थः—पशुपाशानुग्रहार्थं सिसृक्षोः परमेश्वरस्याद्यो य उन्मेषः उन्निद्रभावः, ईक्षणमिति यावत्। तच्छक्तितत्त्वमित्युक्तं, शिवतत्त्वादभिन्नं च, शक्तितद्वतोर्भेदासंभवादिति। ननु कथं शक्तेः सद्भावावगमः। कार्यानुपपत्त्येति ब्रूमः। निष्क्रियस्य शिवस्य जगत्सृष्ट्यादिकं शक्त्यभावे न संभवतीति तत्सिद्धिः। तथा हि—यथाग्नेरङ्गुलिसंयोगे विद्यमानेऽपि मण्यादिप्रतिबन्धकसद्भावदशायां स्फोटकार्यानुद्भवादग्न्यङ्गुलिसंयोगव्यतिरिक्ता दाहिका शक्तिः कल्प्यते, तथात्रापि पञ्चविधकार्यान्यथानुपपत्त्या शक्तिसद्भावसिद्धिः। न चाग्न्यङ्गुलिसंयोग एव स्फोटहेतुरिति वाच्यम्। तस्य प्रतिबन्धाप्रतिबन्धावस्थयोः सद्भावेनाविशेषेण स्फोटकार्योदयप्रसङ्गात्। न च प्रतिबन्धकाभावात्मककारणाभावात् तदानीं कार्यानुदयो न शक्त्यभावादिति वाच्यम्। प्रतिबन्धकाभावस्याकारणत्वात्। भूतानां भविष्यतां देशान्तरे वर्तमानानां च प्रतिबन्धकानामभावसद्भावेऽपि स्फोटकार्यानुत्पत्तेस्तस्याकारणत्वसिद्धिः। न चैतस्य प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वेन तद्व्यतिरिक्ताभावसद्भावेऽपि कार्यानुदयो घटत इति वाच्यम्। एतदभावस्य कारणत्वे प्रमाणाभावात् विपरीतप्रमाणसद्भावाच्च। तथाहि—विमतो भावः स्फोटाजनकः प्रतिबन्धकाभावत्वात् तदन्याभाववदिति। तथैतत्प्रतिबन्धकविगमने एतदभावसद्भावेऽपि प्रतिबन्धकान्तरसद्भावे स्फोटकार्यानुदयाच्चैतस्याकारणत्वसिद्धिः। न च सर्वेषां प्रतिबन्धकानामभावः कारणम्। उपरिदीपनयनस्याङ्कुरोत्पत्तिप्रतिबन्धकस्यापनयने बीजादङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अथ न दीपनयनप्रध्वंसः कारणं, तत्प्रागभावस्य कारणत्वात्। स चात्र नास्तीति तस्य तत्र नीतत्वादिति चेद्। नैवम्। उपरिदीपनयनप्रागभावान्तरसद्भावेनाङ्कुरोत्पादप्रसङ्गात्। न चासावेव कारणमिति वाच्यम्। उपरिनीतदीपेषु बीजाङ्कुरेष्वेतद्दीपनयनप्रागभावस्य सद्भावात् तेभ्यो बीजेभ्योऽङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गात्। अतो दीपनयनादतीन्द्रियं किमपि कारणं नष्टमित्यवगम्यते। तदभावाप्रतिबन्धावस्थायां कार्यानुदयनप्रतिबन्धकाभावस्याभावादिति। ननु शक्तेर्विनाशे कारणाभावात् प्रतिबन्धकावगमेऽग्नेः स्फोटकार्याभावो गतिस्तम्भने च सर्पादेर्गमनाभावश्च प्रसज्यते। मन्त्रेण नष्टशक्तित्वादिति चेत्। नैवम्। नष्टशक्तिज्वालानाशे पुनरुत्पद्यमानज्वालायाः शक्तिनाशाभावेन स्फोटोदयोपपत्तेः। सर्पस्य तु ध्यातभारवशात् गमनाभावः, न शक्तिनाशादिति

पुनर्गमनोपपत्तेः। तस्माद् कार्यान्यथानुपपत्त्या शक्तिसद्भावसिद्धिः। तदुक्तं भट्टपादेन—

"शक्तयः सर्वभावानां कार्यार्थापत्तिगोचराः" इति।

सेयं पराशक्तिः परमेश्वरादभिन्ना। तस्या विकारा इच्छाद्याः शक्तयस्तदभिन्ना इति। तदुक्तं मातङ्गे—

"पत्युः शक्तिः परा सूक्ष्मा जाग्रतो द्योतनक्षमा।
तया प्रभुः प्रबुद्धात्मा स्वतन्त्रः स सदाशिवः॥" इति।

अस्य शक्तितत्त्वस्य षडध्वव्याप्तिः—

"अन्तायेति पूर्वं यत् पदानां तु चतुष्टयम्।
तत्त्वशक्तिः कलातीता पूर्वस्मात्तु विशिष्यते॥" ७॥

वृत्तिः

इत्थं शिवतत्त्वं प्रसाध्य तत्कार्यभूतं शक्तितत्त्वमाह—चिदिति।

शिवो हि चितामात्मनामनुग्रहं मोक्षं कर्तुमिच्छुस्तेषां मलपाकाय कर्मभोगार्थं च सृष्ट्यादि कृत्वा पाशानामचिदामनुग्रहं स्वव्यापारसामर्थ्योत्पादनं करोति। अत्र पाशानुग्रहे साध्ये प्रथमोपादानत्वाद् बिन्दुः साधनमित्युक्तम्। अतोऽयमर्थः पर्यवसन्नः। सिसृक्षोः परमेश्वरस्य चिदचिद्विषयो योऽनुग्रहः तद्धेतोः तत्साधनरूपस्य अस्य बिन्दोर्य आद्य उन्मेषः प्रथमः परिणामः। शान्त्यादिभुवनात्मको नादात्मकश्च तच्छक्तितत्त्वमुच्यते। नन्वेतच्छक्तितत्त्वं बिन्द्वादिवन्निरवयवमुत सावयवमत आह। अविभागापन्नमिति विभज्यन्ते एभिः पदार्थाः परस्परं विविच्यन्त इति विभागा अवयवाः। अविभागापन्नं निरवयवस्वरूपम्। अस्यैव परमकारणस्य बिन्दोर्मायाया वा शक्तिरूपस्यैव परमकारणत्वात्। शक्त्यादीनि[1] तु कार्यरूपाणि तत्त्वानि व्यक्तत्वेन भुवनाद्याधारत्वात्सावयवान्येव। ननु शिवतत्त्वेऽपि भुवनानि श्रूयन्ते। सत्यं। न तु साक्षात्। किन्तु शान्तिकलामस्तक एव तानि स्थितानि मायाभुवनानीव कलामस्तक इत्यविरोधः॥ २७॥

ज्ञानक्रियाख्यशक्त्योरपकर्षोत्कर्षयोरभावेन[2]।
यः प्रसरस्तं प्राहुः सदाशिवाख्यं बुधास्तत्त्वम्॥ २८॥

---

१. शान्त्यादीनि तु इति पाठभेदः। २. उत्कर्षनिकर्षयोः।

ज्ञान और क्रिया नाम की दोनों शक्तियों में विना न्यूनाधिक्य आये (समभाव में रहने पर) ही जो (परम-शिव की इच्छाशक्ति का उन्मेष) परिणाम है, उसीको विद्वानों ने सदाशिव नामक तत्त्व कहा है ॥ २८ ॥ ८ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथेदानीं सदाशिवादिशुद्धतत्त्वानां स्वरूपं निरूपयितुमाह–ज्ञानेति ।

अयमभिप्रायः—पराशक्तिविकारभूतज्ञानेच्छाक्रियाशक्तीनां प्रसरावस्थायां ज्ञानक्रियात्मकशक्तिद्वयसाम्ये सतीच्छोद्रेको यदा विवक्ष्यते तदा शिवतत्त्वं सदाशिवाभिधानमिति । तदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

ज्ञानक्रियाख्ये न्यक्तुल्ये शक्तीच्छोद्रेकमश्नुते ।
यदा सदाशिवाख्यस्तु तदासौ शिव उच्यते ॥" इति ।

तत् तत्त्वं स्फटिकनिभम् । तदुक्तं चन्द्रज्ञाने—

सदाशिवाख्यं विमलं शुद्धस्फटिकसन्निभम् ।" इति ।

अस्य सदाशिवतत्त्वस्य षडध्वव्याप्तिः ।

वर्णाध्वात्र ककारः स्याच्छाश्वतायादिकं त्रिकम् ।
पदाध्वा च स्वयं तत्त्वभुवने शान्तिरेव च ॥" ८ ॥

वृत्तिः

अथ सदाशिवतत्त्वमाह—ज्ञानेति ।

सिसृक्षुत्वेन प्रागुक्तस्य परमशिवस्य ज्ञानक्रियाशक्त्योः साम्येनाधिष्ठानात् तस्यैवोपादानतयोक्तस्य बिन्दोर्यो द्वितीयः प्रसरः परिणामः, शक्तितत्त्वव्यवधानेन जायते तत् सदाशिवतत्त्वमाहुः ॥ २८ ॥

न्यग्भवति यत्र शक्तिर्ज्ञानाख्योद्रिक्ततां[1] क्रिया भजते ।
ईश्वरतत्त्वं तदिह प्रोक्तं सर्वार्थकर्तृ सदा ॥२९॥

जहाँ ज्ञाननामक शक्ति तिरोहित रहती है और क्रिया (शक्ति) उद्रेक प्राप्त करती है, इस शास्त्र में उसे ईश्वरतत्त्व कहा गया है। वह सर्वदा सभी तत्त्वों में कर्तृत्वरूप है ॥ २९ ॥ ९ ॥

तात्पर्यदीपिका

ईश्वरतत्त्वनिरूपणार्थमाह—न्यगिति ।

न्यग्भूतज्ञानेच्छात्मकशक्तिद्वयसाम्ये सति यदा क्रियोद्रेको भवति,

---

१. ख्योद्वृत्ततां ।

तदा शिवतत्त्वमीश्वराभिधानं भवति । तत् सर्वतत्त्वानां कर्तृस्वभावं, क्रियोद्रेकात् । तत् पावकाभम् । तदुक्तम्—

अत ऊर्ध्वं भवेदन्यदीश्वरावरणं महत् ।
दीप्तपावकवर्णाभं विद्येशास्तत्र संस्थिताः ॥" इति ।

ननु ज्ञानेच्छान्यग्भावे क्रियाशक्तेरसंभवः, तत्पूर्वकत्वात् क्रियाया इति चेत् । नैवम् । ज्ञानेच्छान्यग्भावस्य स्वविषयं प्रकाश्य तूष्णीम्भावरूपत्वेनासत्त्वरूपत्वाभावात् । तदुक्तं सिद्धान्तहृदये—

'ज्ञानेच्छे न्यक्समे शक्ती क्रियाधिक्यं यदाश्नुते ।
तदासावीश्वराख्यां तु लभते परमेश्वरः ॥' इति ।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—खकारो वर्णाध्वा । ध्यानाहारायेत्यादीनि त्रीणि पदानि । 'नं ईशानमूर्ध्ने', 'नमः शिवाये'ति मन्त्रौ । स्वयं तत्त्वाध्वा । अनन्तादिशिखण्ड्यन्तानि भुवनानि । विद्या कलाध्वा ॥ ९ ॥

वृत्तिः

तृतीये तु प्रसरे—न्यगिति ।

यत्र जगत्कर्त्रनन्ताद्यधिष्ठानेन क्रियाशक्तेः व्यापारबाहुल्यं तत्सादाख्यतत्वाधस्तनं प्रसरमीश्वरतत्त्वमाहुः । तस्य च सर्वार्थकर्तृत्वं क्रियाशक्त्यक्तिष्ठितत्वात् सर्वकर्तॄणामनन्तादीनामत्रैवान्तर्भावस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥ २९ ॥

न्यग्भवति कर्तृशक्तिर्ज्ञानाख्योद्रेकमश्नुते यत्र ।
तत्तत्वं विद्याख्यं प्रकाशकं ज्ञानरूपत्वात् ॥ ३० ॥

जहाँ कर्तृत्वशक्ति तिरोहित हो जाती है और ज्ञान नाम की शक्ति का उद्रेक हो जाता है, (तब) वह (शिव ही) विद्यानामक तत्त्व होता है। ज्ञानस्वरूप होने से यह (विषयों का) प्रकाशक कहा जाता है ॥ ३० ॥ १० ॥

तात्पर्यदीपिका

विद्यातत्त्वं वर्णयति—न्यगिति ।

न्यग्भूतेच्छाक्रियाशक्तिसाम्ये सति यदा ज्ञानोद्रेको भवति, तदा शिवतत्त्वं विद्याख्यं भवति । तदप्युक्तम्—

"उद्रिच्यते ज्ञानशक्तिः क्रियेच्छे न्यक्समे यदा ।
तदासौ शुद्धविद्याख्यः सर्वविद्यानिधिः शिवः ॥" इति ।

प्रयोजनमाह—प्रकाशकमिति । तत्र हेतुमाह—ज्ञानरूपत्वादिति । पद्मरागसमानवर्णा । तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये शुद्धविद्या स्यात् कोटीनां शतलक्षका ।
सुदीप्ता निर्मला सूक्ष्मा पद्मरागसमप्रभा ।।" इति ।

अस्याः षडध्वव्याप्तिः—गकारो वर्णः । शिवायेत्यादीनि त्रीणि पदानि । 'मं तत्पुरुषवक्त्राये'ति 'नमः शिवाये'ति मन्त्रौ । शुद्धविद्या-तत्त्वम् । वामाद्या नव भुवनानि । प्रतिष्ठा कला ।। १० ।।

वृत्तिः

तथा—न्यगिति ।

यस्त्वीश्वरतत्वाधस्तने बिन्दुपरिणामरूपे तत्त्वे सप्तकोटि-महा-मन्त्राधिष्ठानेन ज्ञानशक्तेरुद्रेको भवति । तत्तत्ववासिनां ज्ञानरूपत्वात् सर्वज्ञत्वप्रकाशहेतुत्वात् प्रकाशकं तद्विद्यातत्त्वमुच्यते ।। ३० ।।

नादो बिन्दुः सकलौ[1] सादाख्यं[2]तत्त्वमाश्रितौ कथितौ ।
विद्येशाः पुनरैशे[3] मन्त्रा विद्याश्च विद्याख्ये ।।३१।।

नाद और विन्दु दोनो सकल हैं और सदाशिवतत्त्व में अधिष्ठित कहे गये हैं, विद्येशों को ईश्वरतत्त्व में तथा मन्त्र और विद्याओं को विद्यातत्त्व में निहित कहा गया है ।। ३१ ।। ११ ।।

तात्पर्यदीपिका

ननु नादबिन्दू शास्त्रान्तरे तत्त्वमध्ये कथितौ । अतस्तत्त्वाधिक्य-मनयोरन्तर्भावो वा वक्तव्यः । तथाहि—

तदूर्ध्वं बैन्दवं तत्त्वं निर्मलं सर्वतोमुखम् ।
परमं सर्वतत्त्वानामनन्तं ज्योतिरव्ययम् ।।"

इत्यादि । तथा विद्येश्वरविद्यामन्त्राणां सदाशिवे वृत्तिमन्ये मन्यन्ते । ततस्तन्निरासार्थम् तयोरन्तर्भावार्थं चाह—नाद इति ।

अयमभिप्रायः—नादबिन्दू कलावत्तया सकलौ सदा सर्वदा शिवाख्यं तत्त्वमाश्रितौ, तदभिन्नौ कथितावित्यर्थः । केचित् सदाशिवं तत्त्वमाश्रिताविताहुः । विद्येशानन्तादयः ईश्वरतत्त्वे वर्तन्ते । तदुक्तं सिद्धान्तागमे—

---

१. सकलः । २. सदाशिवं । ३. पुनरीशे ।

"अनन्तसूक्ष्मौ शिवतमैकनेत्रैकरुद्रकाः ।
त्रिमूर्तिपूर्वः श्रीकण्ठः शिखण्डी च ततोऽष्टमः ॥
एते विद्येश्वरास्त्वष्टावीश्वरे संप्रकीर्तिताः ॥" इति ।

मन्त्राश्च विद्याश्च प्रकाशकतया प्रकाशकं विद्यातत्त्वमाश्रित्यवर्तन्त इति । तदुक्तम्—"मन्त्रा विद्याश्च विद्यायां बीजभूता भवन्ति हि ।" इति ॥ ११ ॥

वृत्तिः

इत्थं शुद्धतत्त्वान्यभिधाय तेष्वेव वस्त्वन्तरस्यान्तर्भावमाह—

तत्र परविन्दोः शिवतत्त्वत्वेन तत्कार्यस्य सूक्ष्मनादस्य शक्तितत्त्वान्तर्भावेन चोक्ततत्त्वात् सकलो विन्दुः अक्षरविन्द्वात्मको नादश्च स्थूलध्वनिरूपः । द्वौ च सदाशिवतत्त्वान्तर्भूतौ ज्ञेयौ । विद्येशानामनन्तादीनामीश्वरतत्त्वेऽन्तर्भावः । मन्त्राणां सप्तकोटिसङ्ख्याकानां वाचिकशब्दानां च व्योमव्याप्यादोनां विद्यानां च कामिकाद्यष्टाविंशतितन्त्राणां विद्यातत्त्वेऽन्तर्भावः ॥ ३१ ॥

पञ्चानामप्येषां न हि क्रमोऽस्तीह कालरहितत्वात् ।
व्यापारवशादेषां विहिता खलु कल्पना शास्त्रे ॥३२॥

कालरहित होने से इन पाँच तत्त्वों का क्रम (पौर्वापर्य) नहीं है । इस शास्त्र में शक्तिव्यापार के कारण ही इनकी कल्पना मान्य है ॥ ३२ ॥ १२ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु नित्यतया विभुत्वेन चैषां क्रमासंभवात् कथं तत्संद्भावप्रतिपादनमित्याशङ्क्याह—पञ्चानाम् इति ।

अयमभिप्रायः—देशकालकृतस्य प्रथमचरमभावात्मकस्य क्रमस्यासंभवेऽपि शक्तिव्यापारभेदोन्नेयभेदवशादेषां तत्त्वानां सद्भाव आश्रीयत इति ॥ १२ ॥

वृत्तिः

पञ्चेति । इति काचिदार्या केषुचित्पुस्तकेषु दृश्यते । तदसत् 'द्वयोरप्यध्वनोरेवं क्रमप्रसवयोगिनोः । विलयः प्रातिलोम्येन शक्तितत्त्वद्वयावधि' । इत्यादिभिरेषां सृष्टिसंहारक्रमप्रतिपादकैस्तत्तद्भुवनवासिनामवस्थानभेदाभिधायिभिः शुद्धाध्वन्यपि शुद्धकालसद्भावावेदिभिर्वाक्यैर्विरोधात् सेयमशास्त्रज्ञैः प्रक्षिप्तेत्युपेक्षैव ॥ ३२ ॥

तत्त्वं वस्तुत एकं शिवसंज्ञं चित्रशक्तिशतखचितम् ।
शक्तिव्यापृतिभेदात् तस्यैते कल्पिता भेदाः ॥ ३३ ॥

परमार्थतः शिवनामक एक ही तत्त्व है। (वह) भिन्न २ प्रकार की सैकड़ों शक्तियों से समन्वित है। शक्ति के व्यापारभेद से उसी शिव के ये विभिन्न तत्त्व कल्पित हैं ॥ ३३ ॥ १३ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु किमर्थं परमेश्वरतत्त्वस्य स्वत एवामी भेदा नाभ्युपगम्यन्ते, येन शक्तिव्यापारोपाधिकृतभेदाश्रयणमित्याशङ्क्याह—तत्त्वमिति ।

यतः शिवतत्त्वस्य परमार्थतो भेदासंभवस्ततः शक्तिव्यापारोपाधिकृता एवामी पञ्चभेदाः । तद्भेदासंभवश्च ईश्वरानेकत्वकल्पनासंभवादिति । भेदस्वरूपासंभवाद् वा । स चाश्रयासंभवात् । तथा हि—कोऽयं भेदाश्रयः । भिन्नो वा स्यादभिन्नो वा । यद्यभिन्ने वस्तुनि भेदस्य वृत्तिः, तदैकपदार्थाभावप्रसङ्गः, भेदसमावेशात् । यदि भिन्ने भेदस्य वृत्तिः, किं तर्हि भेदेन प्रयोजनम् । वस्तुतः पूर्वमेव भिन्नत्वात् । अस्तु भेदवति भेदस्य वृत्तिः । तत्र यदि भेदान्तरेण भिन्ने तद्वृत्त्यभ्युपगमः तदानवस्था । भेदान्तरस्यापि भिन्नवृत्तित्वात् । न च स्वेनैव भिन्ने स्वयं वर्तत इति वाच्यम् । आत्माश्रयप्रसङ्गात् । तस्मादभिन्न एव वस्तुनि भेदस्य वृत्तिरभ्युपगमनीया । तदा च तस्य चन्द्रभेदवदपरमार्थत्वम्, अभिन्नवृत्तित्वादिति । न च स्वरूपमेव भेदः । अयमस्माद् भिन्न इति सापेक्षस्य भेदप्रतिभासस्याभावप्रसङ्गात् । न च घट इत्यघटव्यावृत्तेरप्यवभास इति वाच्यं, पदार्थेषु वर्तमानताद्यवभासेनावर्तमानतादिव्यावृत्त्या क्षणिकत्वादिप्रसङ्गात् । तत्त्वं वस्तुतः परमार्थतः एकम् अभिन्नम् अद्वितीयम् । किं तदित्यत आह—शिवसंज्ञं शिवाख्यम् । "प्रमाता प्रमितं च विश्वम् शिवः सदैको बहुधा चाकशीतीति" श्रुतेः । चित्रशक्ति शतखचितमिति नानारूपशक्तिसहस्रमुद्रितम् । तदुक्तमध्वसिद्धौ—

> "चित्रशक्तिसहस्राढ्यं शिवतत्त्वं समातिगम् ।
> विभक्तं पञ्चधा चैकं शक्त्युल्लासविभेदतः ॥" इति ।

तस्माच्छक्तिव्यापारभेदादेव तस्य महेश्वरस्यैते सदाशिवादिभेदा इति ॥ १३ ॥

वृत्तिः

शिवस्यापि सदाशिवादिभेदः शास्त्रेषु श्रूयते स किम् परमार्थतो न वेत्यत आह—तत्त्वमिति ।

परमार्थतः परमशिवाख्यमधिष्ठातृरूपं तत्त्वमेकमेव तस्य कर्तृत्वेन चैतन्याव्यभिचारात्। चैतन्यस्य च विकारित्वाभावादित्युक्तम्। तच्च चित्रशक्तिशतखचितम्। शक्तेर्ज्ञेयकार्यानन्त्यादौपाधिकानन्तभेदभिन्नया शक्त्या समवेतमिति अर्थः। ततश्चास्य शक्तिव्यापारभेदादुपचारेण सदाशिवादिभेदाः काल्पनिका एव न तु परमार्थतः। अधिष्ठेयस्य तु बिन्दोः शिवतत्त्वाद्यवस्थाभेदः सत्य एवेत्युक्तम्। यच्छ्रूयते।

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् सशास्त्रे शक्तिभेदतः।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थानभेदजः॥ इत्यादि।
लयादिभेदः प्रागुक्तो यदुपाधौ शिवस्य तु।
स बिन्दुरिति मन्तव्यः सैव कुण्डलिनी मता॥ इति।

अत एव सदाशिवाद्याकारकल्पनमपि तस्य ध्यानार्थमेव न तु परमार्थत इत्युक्तम्। श्रीमत्पौष्करे—

'साधकस्य तु लक्ष्यार्थं तस्य रूपमुदाहृतम् इति।

श्रीमन्मृगेन्द्रेऽपि—

वपुषो विद्यमानत्वाद्यद्यत्कृत्यं करोति सः।
तत्र तत्रास्य तत्कर्तृवपुषाऽनुकृतं वपुः॥ इति॥ ३३॥

चिदचिदनुग्रहहेतोः रूपाण्येतानि स प्रभुः कृत्वा।
कुरुते चितामनुग्रहमनादिमलरुद्धशक्तीनाम्॥ ३४॥

वह समर्थ शिव पशु तथा पाश—चेतन तथा अचेतन—पर अनुग्रह करने के निमित्त इन रूपों को (धारण) करके, अनादि मल से प्रतिहत शक्ति वाले पशुओ पर अनुग्रह करता है॥ ३४॥ १४॥

तात्पर्यदीपिका

ननु किमर्थमेतानि रूपाणि करोति भगवानित्याशङ्क्याह—चिदिति। अनादिमलप्रच्छादितशिवस्वभावानां पशूनां पाशानां जडानां चानुग्रहं कर्तुमेतानि रूपाणि स भगवान् करोतीत्यर्थः। तदुक्तम्—

"शिवात्मकमिदं विश्वं शिव आधारकारणम्।
अस्य शक्तिर्विपक्त्री स्यान्नियन्ता च सदाशिवः॥
ईशः कर्ता कारकश्च शुद्धविद्या प्रकाशिका।
एभिरीशोऽनुगृह्णाति क्लृप्तैर्भेदैश्चराचरम्॥" इति॥१४॥

वृत्तिः

एतदेवाह—चिदिति ।

शिवो हि चिदनुग्रहार्थमेव एतानि रूपाणि करोति । सदाशिवादिध्येयाकारानधितिष्ठतीत्यर्थः । ततस्तानधिष्ठायाचिदनुग्रहोपचितानात्मनामेवानुग्रहं करोति । तस्यापि चिदचिदनुग्रहार्थत्वेनोक्तत्वात् । अनादिमलरुद्धशक्तीनामित्येतदनुग्रहापेक्षायां विशेषणद्वारा हेतुः ॥३४॥

भुक्तिं मुक्तिमणूनां स्वव्यापारे समर्थताधानम् ।
जडवर्गस्य विधत्ते सर्वानुग्राहकः शंभु ॥ ३५ ॥

सब पर अनुग्रह करने वाले शिव अणुओं (जीवों) को (सुखदुःखानुभव रूप) भोग और (नित्यानन्दानुभवरूप) मोक्ष प्रदान करता है तथा जडसमूह में अपने-अपने कार्यों के प्रति सामर्थ्य का समावेश करता है ॥ ३५ ॥ १५ ॥

तात्पर्यदीपिका

चितामचितां च कीदृशं अनुग्रहं करोति भगवानित्याशङ्क्याह—भुक्तिमिति ।

भुक्तिं सुखदुःखानुभवरूपां मुक्तिं नित्यानन्दानुभवलक्षणां च अणूनां संसार्यात्मनाम् । स्वव्यापारसमर्थताधानं जडवर्गस्य विधत्ते करोति । सर्वानुग्राहकः । अतः कारणाच्छम्भुरिति । ननु सुखदुःखानुभवप्रदानस्य कथमनुग्रहरूपत्वं, नित्यनिरतिशयानन्दे विद्यमाने विषदूषितमध्वन्नकल्पसुखलेशप्रदानस्यानुग्रहरूपत्वासम्भवात् । दुःखानुभवप्रदानस्याननुग्रहरूपत्वं सर्वेषां सम्मतमेवेति चेत् । उच्यते । सुखानुभवस्य तथाभूतस्यापि नित्यसुखरागोत्पादद्वारेण अपवर्गहेतुतया अनुग्रहरूपत्वम् । दुःखानुभवस्यापि संसारवैराग्योद्देशजननद्वारेण अपवर्गहेतुतया अनुग्रहरूपत्वमिति तत्प्रदातुरनुग्रहकत्वम् । ननु तथाप्यस्य न सर्वानुग्राहकत्वं, दक्षाध्वरादौ दक्षादिनिग्रहश्रवणात् । घृणानिधित्वं च तेनैव बाधितम् । न हि घृणावतः कदाचिदपि प्राणिहिंसा दृष्टेति । रागादिमत्त्वं च तेनैवानुमतम् । न हि रागादिरहितस्य प्राणिहिंसा दृष्टेति । नैवम् । तन्निग्रहस्य दोषनिर्हरणार्थतया सर्वलोकपथ्यतया चानुग्रहरूपत्वात् । तदुक्तं श्रीवायवीये—

> ये के च निग्रहा लोके ब्रह्मादिषु निदर्शिताः ।
> तेऽपि लोकहितायैव, कृताः श्रीकण्ठमूर्तिना ॥

सदोषा एव देवाद्या निगृहीताः यथोचितम् ।
अतस्तेऽपि विपाप्मानः प्रजाश्च विगतज्वराः ॥" इति ।

अत्रेश्वरनिन्दा दक्षादीनां दोषः । तस्या दोषत्वं "अथ य एनं द्वेष्टि, स एव पापीयान् भवती"त्यादिश्रुतेः अवगम्यते । एवेत्यवधारणा । अनन्तफलत्वं च तथा ।

"शिवनिन्दा गुरोर्निन्दा शिवज्ञानस्य दूषणम् ।
देवद्रव्यापहरणं गुरुद्रव्यविनाशनम् ॥
हरन्ति ये च संमूढाः शिवज्ञानस्य पुस्तकम् ।
सुमहापातकान्याहुरित्यनन्त फलानि षट् ॥" इति ।

शिवधर्मोत्तरागमाच्च तदवगमः । अतोऽनन्तफलस्य शिवनिन्दादोषस्य फलानुभवलक्षणेन यमदण्डेन विनाशासम्भवं मन्यमानो भगवान् करुणानुन्नहृदयो निग्रहेण दक्षादीन् स्ववशान् कृत्वा स्वप्रणामात्मकं स्वनिन्दाप्रायश्चित्तं कारयामास । न हि प्रायश्चित्तान्तरैः खद्योतकल्पैः नैशतमःकल्पमहेश्वरनिन्दादोष परिहारो घटते । तेषां परिमितविषयतया परिमितानाम् अपरिमितमहेश्वरविषयापरिमितनिन्दापरिहारासंभवात् । यथा नैशतमस्तोऽनन्तस्याप्यनन्तादित्योदयेन प्रबलेन विनाशस्तथा महेश्वरप्रणामेनानन्तेनानन्ततन्निन्दाप्रतिक्षेप इति । तदुक्तं श्रीवायनीये—

'निग्रहोऽपि स्वरूपेण विदुषां न जुगुप्सितः ।
अत एव हि दण्डचेषु दण्डो राज्ञां प्रशस्तये ॥
सर्वोऽपि निग्रहो लोके न च विद्वेषपूर्वकः ।
न हि द्वेष्टि पिता पुत्रं यो निगृह्यापि शिक्षयेत् ॥
निदानज्ञस्य भिषजो रुग्णे हिंसां प्रयुञ्जतः ।
न किञ्चिदपि नैर्घृण्यं घृणैवात्र प्रयोजिका ॥" इति ।

तस्मादुपपन्नं सर्वानुग्राहक इति ॥ १५ ॥

वृत्तिः

तमेव चिदचिद्विषयमनुग्रहं दर्शयति—भुक्तिमिति ॥ ३५ ॥

चिदनुग्रहस्त्वयं किल यन्मोक्षश्शिवसमानतारूपः ।
सोऽनादित्वात्कर्मण इह भोगमृते न याति संसिद्धिम् ॥३६॥

शिव साम्य रूप पशुओं पर अनुग्रह रूपी जो यह मोक्ष है, वह कर्म के अनादि होने से इस लोक में भोगे विना पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाता ॥३६॥१६॥

तात्पर्यदीपिका

ननु तर्हि भुक्तिमुक्त्योरनुग्रहयोर्मुख्यतमं निःश्रेयसमेवासौ विदध्यात् । नामुख्यं भोगात्मकमित्याशङ्क्याह—चिदिति ।

सत्यं संसारनिवृत्त्यात्मकापवर्गप्रदानमेव मुख्यानुग्रहो न भोगप्रदानम्, तथापि जात्यायुर्भोगफलानां कर्मणामनादिभूतानां फलभोगं विना नाशासंभवात् तन्नाशं विना निःश्रेयसानुपपत्तेस्तदर्थमेव भोगप्रदानमाश्रयणीयम् । स मोक्षः किमात्मक इत्याशङ्क्याह—शिवसमानतारूप इति । शिवेन समानता निर्विशेषता विवेकता रूपं स्वरूपं यस्य स शिवसमानतारूपः, सायुज्यलक्षणः इति यावत् ॥ १६ ॥

वृत्तिः

नन्वस्तु मोक्षोऽनुग्रहः । दुःखनिवृत्तिहेतुत्वात् भोगस्तु सुखदुःखसंवेदनात्मकः स कथमनुग्रहत्वेनोच्यते अत आह—

सत्यं पाशनिवर्तनेन सर्वार्थदृक्क्रियात्मकशिवतत्त्वव्यक्त्या च शिवसाम्यरूपस्य मोक्षस्यैवानुग्रहत्वम् । भोगस्य तु (नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपीति) न्यायात् कर्मक्षयहेतुतया परम्परयानुग्रहहेतुत्वमित्यनुग्रहतयोक्तमित्यविरोधः ॥ ३६ ॥

तेन विभुस्तद्भुक्त्यै कुरुते तनुकरणभुवननिष्पत्तिम् ।
कर्त्रा विना न कार्यं न तथोपादानकरणाभ्याम् ॥३७॥

अत एव विभु शिव (उन कर्मों) के भोग के लिये (सूक्ष्म तथा स्थूल) शरीरों, (मन, बुद्धि, अहंकार इन तीन आभ्यन्तर तथा ज्ञान और कर्म दो बाह्य) इन्द्रियों तथा (दो सौ चौबीस) लोकों को निर्मित करते हैं । (जिस प्रकार) कर्त्ता के विना कार्य संभव नहीं होता, उसी प्रकार उपादान तथा करण इन दोनों के अभाव में भी संभव नहीं होता ॥ ३७ ॥ १७ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु तर्हि कर्मफलभोग एव विधातव्यः, न जगदारम्भ इत्याशङ्क्याह—तेनेति ।

यतो भोगं विना न कर्मनाशः, अतस्तद्भुक्त्यै भगवांस्तनुकरण-

भुवननिष्पादं करोति। तनुः शरीरं, सूक्ष्मस्थूलात्मना द्विप्रकारम्। करणं च द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र बाह्यं कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियात्मना दशविधम्। अन्तःकरणं त्रिविधं मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति। भुवनशब्देन चतुर्विंशत्यधिकशतद्वयलोका उच्यन्ते। तान्येतानि भगवान् महेश्वरः करोति भोगार्थमिति। ननु कस्मान्महेश्वरस्तानि भुवनानि कृतवानित्युच्यते। भवतु तेषां सर्वेश्वरेण विनोत्पाद इत्यत आह—कर्त्रा विना न कार्यं न तथोपादानकरणाभ्यामिति। यतः कर्तुरभावे न कार्यसंभवोऽतो महेश्वरस्तनुकरणभुवनानि कृतवानित्युच्यते। तथा तद्वदुपादानकारणाभावे च न कार्यं जायेत। अतस्तत्रोपादानकारणमपि किञ्चिदाश्रयणीयम्। एवं कारणाभावेन न कार्यसंभव इति करणं चात्र किञ्चिदभ्युपेयमिति। तथाहि—घटाद्युत्पत्तौ तावद् कुलालादिः कर्ता, हस्तपादादिकं करणं, मृदाद्युपादानं, चक्राद्युपकरणमिति दृष्टं, तेषामेकस्याप्यभावे कार्यस्य घटादेरुत्पादासंभवात्। अतोऽत्रापि तान्यवश्याश्रयणीयानि। अन्यथा जगदात्मकस्य कार्यस्योत्पादासंभवादिति। ननु किं जगत्कर्तृसद्भावे प्रमाणम्। अनुमानागमावस्मदादीनाम्। अस्मद्विलक्षणानां योगिनां प्रत्यक्षमिति ब्रूमः। तथाहि—विमतं कालाद्यवनिपर्यन्तं कार्यजातं बुद्धिमत्कारणकं, कार्यत्वाद्, यद्यत् कार्यं तत्तद् बुद्धिमत्कारणकं दृष्टं, यथा घटः, तथेदं कालाद्यवनिपर्यन्तं कार्यं, तस्माद् बुद्धिमत्कारणकमिति। न च क्षित्यादीना कार्यत्वस्यानुपलम्भादनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्ध इत्यसिद्धत्वं हेतोरिति वाच्यम्। अनुमानागमाभ्यां तत्कार्यत्वसिद्धेः। तथाहि—क्षित्यादि कार्यं, मूलोपादानव्यतिरिक्तजडत्वाद्, यद्यन्मूलोपादानव्यतिरिक्तं जडं तत्तत् कार्यं, यथा घटः, तथेदं, तस्मात्तथेति। न च क्षित्यादेरेव परमाणुभावापन्नस्य मूलोपादानत्वाभ्युपगमादसिद्धमस्माकं मूलोपादानातिरेकित्वविशेषमिति वाच्यम्। परमाणोर्मूलत्वप्रतिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात्। तथा क्षित्यादि कार्यं, परतन्त्रत्वात्, त्रिगुणात्मकत्वात्, आत्ममूलान्यवस्तुत्वाच्च, घटादिवदिति। तथा "आत्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी"त्यादिनागमेन क्षित्यादेः कार्यत्वमवगम्यते। तथा आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मायामूलत्वप्रतिपादनाच्च। तथा हीश्वरगीतायाम्—

चतुर्विंशतितत्त्वानि मायाकर्मगुणा इति।
एते पाशाः पशुपतेः क्लेशाश्च पशुबन्धनाः॥

एतेषामेव पाशानां माया कारणमुच्यते ।"

इति न स्वरूपासिद्धं क्षित्यादिषु कार्यत्वमिति ।

ननु विमतं जगद् सद् भासमानत्वाद्, शुक्तिरजतवदित्यनुमानेन क्षित्यादेरसिद्धत्वनिश्चयात्, शशशृङ्गं तीक्ष्णं शृङ्गत्वात्, गोशृङ्गवदिति वास्याश्रयासिद्धतेति चेद् । नैवम् । भ्रान्तिज्ञानस्य शुक्तिविषयतया तदन्यासद्रूपरजतगोचरत्वानुपपत्तेः, असद्रजतासंभवेनास्य धर्म्यसिद्धदृष्टान्ततन्नाप्रमाणत्वात् । कार्यत्वहेतोरिवास्याप्याश्रयासिद्धत्वसाम्याच्च । प्रत्यक्षतः क्षित्यादेः सत्त्वावगमेन प्रत्यक्षविरोधाच्चास्याप्रमाणत्वमिति । न च नियतिकालाव्यक्तगुणाहंकारादेरसिद्धत्वादाश्रयैकदेशासिद्धिरिति वाच्यम् । तेषामागमादिसिद्धत्वस्योक्तत्वात् । न च कालाकाशादेर्नित्यत्वेन कार्यत्वस्याभावाद् भागासिद्धो हेतुरिति वाच्यम् । तत्कार्यत्वस्यानुमानागमाभ्यां साधितत्वात् ।

नन्विदमनुमानं सिद्धसाध्यतालक्षणासिद्धत्वसद्भावादप्रमाणम् । तथाहि—बुद्धिमत्कारणवत्त्वं क्षित्यादेर्भवता साधितम् । तदस्माकमपि सिद्धम् । बुद्धिमतामस्मदादीनामप्यदृष्टद्वारेण कालादितत्त्वकलापं प्रति कर्तृत्वस्य सद्भावात् । न च पुण्यापुण्यात्मके कार्यान्तरे यत् कर्तृत्वं न तदेव जगदात्मके कर्तृत्वं भविष्यतीति वाच्यम् । कारणकारणतया तदुपपत्तेः । यथा पटकारणतन्तुसंयोगमात्रकर्तुः कुविन्दस्य पटकर्तृत्वं, शरादिक्षेप्तुर्वा शत्रुहिंसाकर्तृत्वम्, एवं जगत्कारणकर्मकर्तुरेवास्मदादेर्जगत्कर्तृत्वोपपत्तेः सिद्धसाध्यताप्रसङ्ग इति । नैवम् । उपादानोपकरणसंप्रदानप्रयोजनविषयप्रत्यक्षबुद्धिमत्कारणवत्त्वस्य बुद्धिमत्कारणत्वशब्देन विवक्षितत्वात् । अतोऽस्मदादीनां तच्चतुष्टयविषयापरोक्षज्ञानाभावन्न सिद्धसाध्यतेति ।

नन्वप्यंशे सिद्धसाध्यताप्रसङ्गः, त्र्यणुकादिजन्यकार्याणाम् उपादानं त्र्यणुकादिकं, भूतादिजन्यकार्याणामुपादानं भूतादिकं वास्मदादिप्रत्यक्षम् । अदृष्टद्वारेण कर्तृत्वं चास्मदादीनां सिद्धम् । उपकरणं च कालादि किञ्चित् प्रत्यक्षम् । संप्रदानभूताश्च देवदत्तादयः प्रत्यक्षसिद्धाः । प्रयोजनं च स्थानासनादिकं प्रत्यक्षमिति भवेदेवांशे सिद्धसाध्यतेति । नैवम् । विमतस्यैव क्षित्यादेस्तथाविधकर्तृमत्तासाधनाद् यत्र द्व्यणुकत्र्यणुकादीनामुपादानादि कालादीनां वा न प्रत्यक्षं, तत्र तथाविधकर्तृमत्तासाधनान्नोक्तदोषावकाश इति ।

ननु च शक्यक्रियत्वमुपाधिः, तस्योपाधिलक्षणसद्भावात्। तथा हि—साधनाव्यापकः साध्यसमव्याप्तिरुपाधिरिति तस्य लक्षणम्। तदस्य घटादिषु सर्वेष्वनुगतत्वाद् मूलहेतुना कार्यत्वेन असाध्यत्वाच्चास्तीति सोपाधित्वेनाप्रयोजकत्वात् कार्यत्वस्य व्याप्यत्वासिद्धिरिति। नैवम्। शक्यक्रियत्वस्योपाधिलक्षणाभावेनास्य सोपाधित्वाभावात्। स च साधनव्यापकत्वात्। तथाहि—क्षित्यादि कस्यचित् शक्यक्रियं कार्यत्वाद् घटादिवदिति मूलसाधनेन साधयितुं शक्यत्वात् साधनव्यापकत्वमिति। न च क्षित्यादि कस्यचिच्छक्यक्रियं कार्यत्वाद् घटादिवदित्यस्यापि कर्तृमत्त्वोपाधिवशादप्रयोजकत्वमिति वाच्यम्। शक्यक्रियत्वकर्तृमत्त्वादि यद्यदुपाधितया भवता प्रतिपाद्यते, तस्य सर्वस्याप्येकेनैव प्रयोगेण साध्यतया साधनव्यापकत्वेनोपाधित्वासंभवात्। तथा सर्वानुमानेषु समानत्वाच्च। तथाहि—पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्वात् महानसादिवदित्यत्रापि जायमानभस्मवत्त्वस्योपाधेः सद्भावाद् धूमानुमानस्याप्यप्रयोजकत्वप्रसङ्गः। अथ तत्र धूमवत्त्वेनैव जायमानभस्मवत्त्वस्यापि साध्यतया नोपाधित्वमित्यस्य नाप्रयोजकत्वमिति चेत्, नैवम्। तत्राप्याग्निमत्त्वस्यैवोपाधेः सद्भावेन तत्साधनासंभवात्। अथ धूमवत्त्वादेव जायमानभस्मवत्त्वाग्निमत्त्वादिसर्वोपाधेः साध्यतया साधनव्यापकत्वसद्भावेनानुपाधित्वान्नात्र तद्दोष इति चेत्, तर्हि कार्यत्वेनैवात्रापि सर्वस्य शङ्कितस्योपाधेः साध्यतया सोपाधित्वासंभवात् नोक्तदोषावकाश इति।

किञ्च शक्या क्रिया चलनलक्षणा यस्य तच्छक्यक्रियं, तस्य भावः शक्यक्रियत्वमिति यद्यभ्युपगमः, तदा परमाणुमनसोरपि नित्ययोर्भवत्पक्षे शक्यक्रियत्वसद्भावात् साध्यसमव्याप्त्यभावेन तस्योपाधित्वाभावः। यदि शक्या क्रिया उत्पत्तिलक्षणा यस्य तच्छक्यक्रियं तस्य भावः शक्यक्रियत्वमित्यभ्युपगमः, तदाधिकविशेषणत्वापरनामकं व्यर्थविशेषणत्वं प्रसज्यते। उत्पत्तेरेव कर्तृमत्त्वप्रयोजकत्वेन शक्यपदवैयर्थ्यात्। न चाङ्कुरादेरप्युत्पत्तिसद्भावे कर्तृशून्यतया तद्व्यवच्छेदार्थं शक्यपदोपादानमिति वाच्यम्। तेषां च शक्योत्पादनतया व्यवच्छेदासंभवात्। तथेतरेतराश्रयप्रसङ्गाच्च क्षित्यादेः, कर्तृशून्यत्वे सिद्धे तद्व्यवच्छेदकशक्यविशेषणसार्थता, विशेषणोपाधिसद्भावेन कार्यत्वास्याप्रयोजकत्वे सिद्धे कर्तृशून्यतासिद्धिरिति। तदुक्तं—

"निश्चिते तदकर्तृत्वे सोपाधित्वं भवेदिह।
सोपाधित्वेऽनुमानस्य कर्तृभावविनिश्चयः ॥" इति।

न च करचरणादिनोदनीयत्वमुपाधिः। प्रासादप्राकारादौ तदभावात्। प्राणादौ तदसद्भावेन च साध्यसमव्याप्त्यभावात्। तथा क्षित्यादि कस्यचित करचरणादिनोदनीयं, कार्यत्वाद्, घटादिवदिति साधनव्यापकत्वाच्चास्य नोपाधित्वमिति। न च करादिजन्यत्वमुपाधिः। अधिकविशेषणत्वात्। न च क्षित्यादेर्व्यवच्छेद्यत्वम् अन्योन्याश्रयप्रसङ्गादित्युक्तमिति, सर्पाद्याकर्षणस्वदेहप्रेरणादौ सकर्तृके करजन्यत्वाभावेन साध्यसमव्याप्त्यभावाच्चेति। न च कार्यविशेषस्य कर्त्रा व्याप्तिरिति वाच्यम्। विशेषस्यानुपलम्भात्।

ननु किञ्चित् कार्यमुपलभमानस्य सकर्तृकत्वबुद्धिर्भवति, किञ्चिदुपलभमानस्य न भवतीत्येतदन्यथानुपपत्त्या कार्यविशेषोऽभ्युपगन्तव्यः। स च विशेषो घटादिषु सकर्तृकेष्वनुस्यूतस्तृणादिभ्यो ह्यकर्तृकेभ्यो व्यावृत्तः सन्नेव रसविशेषवदनिर्देश्यः। तदुक्तम्—

सकर्तृकेष्वनुस्यूतो व्यावृत्तोऽन्येभ्य एव सः।
किञ्चित्कार्यविशेषोऽन्यैः स्वीकार्यो मतिभेदतः॥
किंरूप इति वादोऽयमिक्षुक्षीरगुलादिषु।
माधुर्यभेदप्रत्यक्षदृष्टान्तादुपशाम्यति॥" इति॥

तस्मात् स एव कर्त्रा व्याप्यते, न कार्यसामान्यमिति। नैवम्। गर्तोन्नयनादिकार्ये सकर्तृके तादृशबुद्ध्यभावेनानेकान्तात्। तदुक्तम्—

"गर्तोन्नयनकार्यस्य चिरकालात्यये सति।
सकर्तृकत्वधीगम्यभावो नैषोपलभ्यते॥" इति।

प्रसिद्धानुमानेऽपि समानोऽयं पर्यनुयोगः। तथा हि—पर्वतादौ धूमदर्शिनोऽपि कस्यचिदग्निमत्त्वं नावगम्यते असंभावनादिना प्रतिबन्धात्। अत एव हि पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वादित्यादिपरोपदेशसापेक्षपरार्थानुमानोपन्यासः। तेन तत्रापि विशेषकल्पनया तस्यैवाग्निना व्यापकत्वादप्रयोजकं धूमानुमानमापद्यत इति। अथ यत्र धूमवानग्निमानिति सामान्यव्याप्तिग्रहणबलादनुमानं प्रवर्तत इति चेद्, अत्रापि तर्हि कार्यं कर्तृपूर्वकमिति सामान्यव्याप्तिग्रहणबलादनुमानप्रवृत्तिराश्रयणीया विशेषाभावादिति न च घटत्वं कर्तृमत्त्वे प्रयोजकम्। परस्य तदभावेन कर्तृमत्त्वाभावप्रसङ्गात्। नापि पटत्वं, घटादेस्तदभावेनाकर्तृमत्त्व-

प्रसङ्गात्। न च घटत्वपटत्वकुड्यत्वादयः सर्व एव कर्तृप्रयोजका इति वाच्यम्। प्रयोजकबहुत्वापातात्। न च तद् युक्तं, व्यक्तीनामेव कर्तृ-प्रयोजकत्वप्रसङ्गेन घटान्तस्याकर्तृमत्त्वप्रसङ्गात्। आनन्त्येन कर्त्रा सह व्याप्तिग्रहणासंभवस्योभयत्रापि तुल्यत्वात्। तथा महानसत्वशालात्वादेः प्रयोजकत्वापातेन धूमवत्त्वस्याप्रयोजकत्वप्रसङ्गः। तदुक्तम्—

"घटादिव्यक्तिमात्राणां कर्त्रा व्याप्तिर्न गृह्यते।
यथानन्त्यं तथा ज्ञातुर्घटत्वादेः प्रतीयताम्॥" इति॥

ननु तर्हि प्रमेयत्वादेवाधिकव्याप्त्या कर्त्रा व्याप्तिराश्रयणीया, न कार्यत्वस्येति चेत्। न। अन्यथासिद्धत्वात्। स्वगोचरज्ञानमात्रेण प्रमेयत्वं सत्त्वं च कर्त्रभावेऽपि। पदार्थानामभ्युपगतं भवता। अस्मत्पक्षेऽपि मायापुरुषशिवानां कर्तृहीनानामपि प्रमेयत्वं सत्त्वं चाभ्युपगतम्। अतः प्रमेयत्वादेः कर्तृव्याप्त्यसंभव इति। कार्यत्वं तु कारणविशेषस्य कर्तुः कारणान्तरसम्पादकतया प्रधानभूतस्याभावे न संभवति। न हि मृद्दण्ड-चक्रादिसद्भावेऽपि तत्प्रयोक्तुः कुलालस्याभावे घटोत्पादौ घटते। कुलालसद्भावे तु कारणान्तरनिष्पत्त्या कार्यजन्मोपपत्तिरिति कार्यत्वात् कर्तृसद्भावसिद्धिरिति। किञ्च कार्यत्वं हि पदार्थानामुत्पत्तिः। सा च कारणक्रियामपेक्षते। सा च पुरुषव्यापारं विना न भवति। स तु प्रयत्नादृते न स्यात्। स चेच्छां विना न भवति। इच्छा चेष्टसाधन-ज्ञानं विना न स्यादितिकार्यत्वं बुद्धिमत्कारणाभावे न भवतीति तत्प्र-योजकत्वान्नास्यासिद्धत्वमिति। नापि विरुद्धोऽयं हेतुः। पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो विरुद्ध इत्युक्तविरुद्धलक्षणाभावात्। तथाहि—सपक्षे घटादौ कार्यत्वस्य वर्तमानत्वाद् विपक्षे चाकर्तृके मूलकारणशिवादौ कार्यत्वस्या-भावादस्य पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानत्वासंभवात् विरुद्धत्वाभाव इति।

ननु सर्वज्ञकर्तृकत्वं क्षित्यादेः साध्यते, नान्यकर्तृकत्वम्। असर्वज्ञस्य प्रपञ्चकर्तृत्वासंभवात्। तथाहि—जगदुपादानादिचतुष्टयविनियोगक्रम-विषयप्रत्यक्षज्ञानवत एव कर्तृत्वं साध्यते। ततस्तस्य सर्वज्ञत्वम्। सर्वज्ञ-निर्मितस्य चान्यस्य संप्रतिपन्नस्याभावात् सपक्षाभाव इति सपक्षे सत्त्वा-भावः। तेन कार्यत्वस्य क्षित्यादिकालान्ते पक्षे वर्तमानस्य सर्वज्ञनिर्मि-तत्वसाध्यरहिततया विपक्षभूतघटादौ च वर्तमानतया पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानत्वाद् विरुद्धत्वमिति। तथा शरीरिकर्तृत्वस्याप्यङ्कुरादाव-सत्त्वेनाशरीरिकर्तृत्वमपीह साध्यते। तत्र च सपक्षाभावेन सपक्षे सत्त्वा-

भावात् कार्यत्वस्य पक्षविपक्षयोरेव मानत्वात् विरुद्धत्वम् इति । नैवम् । सर्वज्ञाशरीरिकर्तृकत्वस्य अत्रासाध्यत्वात् । तथाहि—विप्रतिपत्त्यनुरूपेणात्र साध्यनिर्देशात् यदा किं सकर्तृकं क्षित्यादि अकर्तृकं वेति विप्रतिपत्तिः, तदा सकर्तृकं क्षित्यादीति साध्यनिर्देशः । यदा बुद्धिमत्पूर्वकं वा नवेति, तदा बुद्धिमत्पूर्वकं क्षित्यादीति साध्यनिर्देशः । यदा सोपानोपकरणादिप्रत्यक्षवता जन्यं वा नवेति, तदा उपादानादिप्रत्यक्षवता जन्यमिति साध्यनिर्देशान्न विरुद्धत्वं, घटादौ सपक्षे साध्यसाधनयोः सद्भावात् । न च कदाचिदपि सर्वज्ञाशरीरिकर्तृकं क्षित्यादीति साध्यनिर्देशः, तथा विप्रतिपत्त्यभावात् । स चासर्वज्ञशरीरिकर्तृकत्वस्य क्षित्यादीनां भवद्भिरनाश्रितत्वादिति ।

ननु तथा साध्यनिर्देशेऽपि तथाविधकर्तुरभिप्रेततया कार्यत्वस्य विरुद्धत्वमिति चेत् । न । सर्वानुमानेषु समानत्वात् । तथा हि—पर्वतस्याग्निमत्त्वं यः साधयति, तस्याप्यतद्देशकालानुमेयसंप्रतिपन्नप्रत्यक्षाग्निनाग्निमत्त्वं नाभिप्रेतम् । किन्तु महानसादिगतवह्निव्यतिरिक्तपर्वतगततत्कालानुमेयविप्रतिपन्नाप्रत्यक्षापुरुषपूर्वकतरुसंघट्टजन्याग्निना अग्नितत्वमभिप्रेतम् । तस्य महानसादावभावाद् धूमानुमानमपि विरुद्धमापद्येत । अथ तथापि तत्साध्यस्य शब्देनानुपादानात् पर्वतस्य स्वगताग्निना अग्निमत्त्वस्य साधनाच्च न विरोध इति चेत्—तर्हि प्रकृतेऽपि सर्वज्ञाशरीरिकर्तृकत्वस्य शब्देनानुपादानात् क्षित्यादेः स्वोपादानसमर्थकर्तृमत्त्वस्य साधनाच्च नोक्तदोषावकाश इति । न चासर्वज्ञशरीरिव्याप्तत्वात् कार्यत्वमपि शरीरिसर्वज्ञविशेषं प्रतिक्षिपतीति वाच्यम् । कार्यत्त्वस्य शरीरिकर्तव्याप्त्यभावात् । स च तृणादौ तथाविधकर्तुरभावेऽपि कार्यत्वापलम्भादवगम्यते । तदुक्तम्—

"परोऽपि न शरीरस्य व्याप्तिमिच्छति वस्तुतः ।
प्रत्यक्षबाधया देही नाश्रितो यदिहाङ्कुरे ॥"

न च शरीरिकर्तुरभावे कर्तृमात्रस्यासत्त्वं, तस्यायोग्यत्वात् । तदुक्तम्—

"न चाशरीरिकर्तृत्वं बाध्यं देहे तु बाधिते ।
शरीरस्येव योग्यत्वं यतो नास्ति परात्मनः ॥" इति ।

ननु न कार्यत्वं स्वव्यापकशरीरिकर्तृविरुद्धत्वान्नाशरीरिकर्तृनिषेधकं, किन्तु स्वव्यापककर्तृसामान्यविरुद्धत्वादिति ब्रूमः । यत्र कुलालादौ कर्तृत्वं,

तत्र नाशरीरित्वम्। यत्र मुक्तात्मन्यशरीरित्वं, तत्र न कर्तृत्वमिति कर्तृत्वाशरीरित्वयोः सहानवस्थानलक्षणविरोधसद्भावेन स्वव्यापक-कर्तृविरुद्धत्वाद् अशरीरिकर्तारं कार्यत्वमेव प्रतिक्षिपति। धूमवत्त्व-मिवाशीतभास्वराग्निव्याप्तं शीतान्धकाराग्निमिति चेत्। नैवम्। कार्य-त्वस्य कर्तृसामान्येन व्याप्त्यभावे प्रतिक्षेपायोगात्। तथा च यदि कार्य-त्वस्य कर्तृसामान्येन व्याप्तिः, तर्हि न कार्यत्वव्यापकः कर्त्ता। तेन तद्वि-रुद्धत्वेऽप्यशरीरित्वं न प्रतिक्षिपेत्। स्वव्यापकाविरुद्धत्वात् तस्य। यदि कार्यत्वं कर्तृसामान्येन व्याप्तं, तदा च न प्रतिक्षेपः, कर्तृसामान्यापर्यव-सानलभ्यत्वाद् विशेषस्य। 'यथा पर्वते परिदृश्यमानधूमेन अग्निसामान्य-मनुमाय तदपर्यवसानात् महानसादावपरिदृष्टोऽग्निविशेषः पर्वते कल्प्यते, तथैव प्रपञ्चे परिदृश्यमानं कार्यत्वं कर्तारं विनानुपपद्यमानं कर्तृसामा-न्यमवस्थापयत् तस्यापि विशेषणद्वारेण सम्बन्धसिद्ध्यर्थं शरीरिविशेषण-मसंभवात् परिहृत्य तद्विपरीतं सर्वज्ञमशरीरिविशेषं व्यवस्थापयत्येव। अन्यथा स्वव्यापककर्तृसामान्यव्यवस्थापनासंभवात्। न च तद्युक्तं, व्याप्यसद्भावे व्यापकासत्त्वस्य अनुपपन्नत्वात्। न हि धूमसद्भावेऽग्न्य-भाव उपपद्यत इति। न चाव्याप्तत्वेऽपि व्याप्त्युपलम्भमात्रेण प्रतिक्षेप इति वाच्यम्। तस्याप्रमाणत्वात्। न हि कृतकत्वं नित्यताव्याप्तमिति केनचिदुक्ताप्रमाणवाक्यसिद्धव्याप्त्यपेक्षया कृतकत्वेन तद्विरुद्धानित्यत्व-प्रतिक्षेपो घटत इति। न च कर्तृत्वमदेहित्वप्रतिक्षेपकं, कार्यत्वेन साधि-तस्य कर्तृत्वस्याशरीरिविशेषाभावेऽनुपपन्नतया तस्याक्षेप्यत्वात्। न च शरीरिविशेषाक्षेपेणाशरीरिविशेषप्रतिक्षेपः। तस्य योग्यानुपलम्भनिर-स्ततयाक्षेपासंभवात्। न च साधितस्य कर्तृत्वस्य विशेषद्वयराहित्यं संभवतीत्यशरीरिकर्त्रभ्युपगम इति। नाप्यङ्कुरादावसाधितस्य अदे-हित्वप्रतिक्षेपकत्वम्, अविरोधादिति। तथा मोक्षावस्थायां शरीरे-न्द्रियाद्यभावेऽप्यात्मगुणनित्यसुखविषयबुद्धिसन्ततिसंभवं भगवान् भट्ट-पादो मन्यते। तेन अदेहित्वबुद्धिमत्कारणत्वयोर्न विरोधः। पूर्वबुद्धि-विशिष्टस्यात्मनः उत्तरबुद्ध्युत्पत्तिहेतुत्वाभ्युपगमादिति। किञ्च यदि जगत्कर्त्रनुमानस्यैवं विरोधोद्भावनं, तदा परमाण्वनुमानस्यापि भवताऽ-भ्युपगतस्य विरोधप्रसङ्गः। तथा हि—आद्यं कार्यं स्वन्यूनानेकसम-वायिकारणं, कार्यद्रव्यत्वाद् घटादिवदिति परमाण्वनुमानम्। तेनाद्य-कार्यकारणतया परमाणूनां नित्यत्वनिरवयवत्वकार्यत्वनिरतिशयाणु-

त्वादिकमर्थादवगम्यते । तत्राप्ययं दोषः सुव्यक्तः । यत्र भवत्पक्षे व्योमादौ नित्यत्वं, तत्र असर्वगतद्रव्यपरिमाणलक्षणमूर्तत्वं नास्ति । यत्र पुनर्घटादौ मूर्तत्वं, न तत्र नित्यत्वमिति मूर्तत्वनित्यत्वयोः सहानवस्थानलक्षणविरोधसद्भावात् परमाण्वनुमानमपि विरुद्धमापद्यते इति, तथा परात्मानुमानमपि इति । तथा हि—परशरीरचेष्टा आत्मपूर्विका जीवच्छरीरचेष्टात्वाद् अस्मच्छरीरचेष्टावदिति परात्मानुमानम् । तत्रापि यत्रात्मत्वं स्वात्मनि तत्र न परत्वं, यत्र परत्वं घटादौ तत्र नात्मत्वम् इति परत्वात्मत्वयोर्विरोधात् परात्मानुमानासंभव इति । अथ यदि द्रव्यसमवायिकारणस्य मूर्तस्य नित्यत्वमन्यत्र न दृष्टं, तथाप्याद्यकार्यकारणतया नित्यत्वं तस्याभ्युपेयम् । अन्यथा अनवस्थाप्रसङ्गात् तस्य च नित्यत्वमर्थादवगम्यते । आद्यकार्यस्य स्वन्यूनसमवायिकारणकत्वमात्रसाधनान्नात्र विरोधः । तथा परात्मानुमाने परशरीरगतायाश्चेष्टाया आत्मपूर्वकत्वमात्रसाधनात् स्वव्यापारस्य तत्र योग्यानुपलम्भनिरस्तत्वात् परत्वमर्थादवगम्यते न शब्दत इति न विरोध इति चेत् । एवं तर्हि जगत्कत्रनुमानेऽपि सकलविनाशे सति आद्यकार्यकारणस्य बुद्धिमन्मात्रस्य साधने तस्यानित्यतायां कर्त्रन्तरकारणान्तरकल्पनयानवस्थानप्रसङ्गेन तस्य नित्यत्वमर्थादवगम्यो न शब्दत इति । तथा कर्तृमात्रसाधने शरीरिणो योग्यानुपलम्भनिरस्तत्वेन अशरीरिणोऽर्थादवगम्यमानतया च न विरोध इति समानः पन्थाः । ननु पक्षधर्मताव्याप्तिग्राहकप्रमाणाभ्यां प्राप्तयोर्विशेषयोर्विरोधे न कश्चिदर्थः सिध्यति । तथा हि—व्याप्तिबलात् शरीर्यसर्वज्ञानीश्वरसंसारी कर्त्तावगम्यते पक्षधर्मतया च कार्यस्य तदुत्पादनसमर्थः सर्वज्ञोऽशरीरी नित्यो नित्यमुक्तः सर्वेश्वरः कर्तावगम्यते । तदनयोरितरेतरसापेक्षयोर्विरोधे न किञ्चित् सिध्येत् । नैवम् । सर्वानुमानेषु समानत्वात् । तथा हि—धूमानुमाने तावद् दृष्टान्तभूमिगतप्रत्यक्षाननुमेयसंप्रतिपन्नापर्वतगताचन्दनेन्धनपुरुषजन्यत्वादिधर्मविशिष्टो वह्निविशेषो व्याप्तिग्राहकप्रमाणेनावगम्यते । पक्षधर्मतया तु पर्वतगतानुमेयविमततरुसंघट्टजन्याप्रत्यक्षचन्दनेन्धनत्वादिधर्मविशिष्टोऽवगम्यते । तत्रापि न किञ्चित् सिद्ध्येदिति । अथ धूमवानग्निमानिति सामान्येन व्याप्तिग्रहणं न विशेषत इत्यत्रानुमानप्रवृत्तिराश्रीयत इति चेत् , तर्हि प्रकृतेऽपि कार्यं बुद्धिमत्कारणकमिति सामान्येनैव व्याप्तिग्रहणं न विशेषतः,

अङ्कुरादौ तथाविधकर्तृदर्शनादिति भवत्येवानुमानप्रवृत्तिरविशेषादिति। ननु किं तर्हि दृष्टान्तदृष्टमाश्रयणीयं दार्ष्टान्तिके इति चेद्, अविरुद्धमिति ब्रूमः। न च शरीरकरणनिवृत्त्या कर्तृत्वनिवृत्तिरिति वाच्यम्। स्वशरीरप्रेरणाकर्षणादिषु इवेच्छात्मककरणान्तरसद्भावादपि कर्तृत्वोपपत्तेः। न च स्वशरीरप्रेरणे प्रेर्यस्य शरीरस्य कारणत्वं संभवति। कर्मणः करणत्वासंभवात्। न ह्यङ्गुल्यग्रेण तदग्रस्पर्शनमुपपद्यत इति। न च तत्र शरीरान्तरं करणमिति वाच्यम्। अनवस्थाप्रसङ्गात्। न च पक्षे देहसम्बन्धः सर्वत्राव्यभिचारेण करणमिति वाच्यम्। देहसम्बन्धस्य हस्ताङ्गुल्यादिप्रेरणे कर्त्रानपेक्षितत्वात्। तथा हि—हस्तस्य उत्क्षेपणम् अवक्षेपणं वा कुर्वन्नात्मा तत्सम्बन्धमेवापेक्षते, न तु पुनर्देहसम्बन्धम्। तस्मिन् विद्यमाने हस्तसंबन्धविनाशे काष्ठीभूतेऽस्मिन् हस्तक्रियाकर्तृत्वादर्शनात्। अतः केवलव्यतिरेकात् साक्षादिच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वयोग्यत्वमेवात्र प्रयोजकम्। तत् प्रपञ्चे भगवतोऽनुमानसिद्धम्। तथाहि—विमतं मूलकारणादि कस्यचित् साक्षादिच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वयोग्यम् अचेतनत्वाद् देहवदिति। अत एवाशरीरित्वेऽपि पुराणोक्ताष्टमूर्तित्वविरोधः परिहृतः। साक्षादिच्छानुविधायि क्रियाश्रयतादेहलक्षणसद्भावेन मूलाद्यवन्यन्ततत्त्वजातस्य महेश्वरदेहतया मूर्तिमत्त्वोपपत्तेः। ननु कथं तर्ह्यदेहित्ववचनम्। उच्यते। यथोपादानभूतमृत्तत्त्वाद्यतिरिक्तं शरीरं कुलालकुविन्दादेः उपलब्धं, तथा मूलकारणतत्कार्याद्यतिरिक्तमत्र शरीरं नास्ति भगवत इत्यदेहित्वोपपत्तिरिति। नाप्यनैकान्तिकत्वं, पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिक इत्युक्ततल्लक्षणाभावात्। तथा हि—यदि कालाद्यवन्यन्तेषु विमत्यधिकरणतया सन्दिग्धसाध्येषु पक्षेषु घटादिषु च निश्चितसाध्यतया सपक्षभूतेषु कार्यत्वस्य वृत्तिः तथापि निश्चितसाध्यव्यतिरेकतया विपक्षभूतेषु मायापुरुषशिवेषु कार्यत्वहेतोः वृत्त्यभावात् पक्षत्रयवृत्त्यभाव इति। नन्वङ्कुरादिषु कर्तृशून्येषु कार्यत्वस्योपलम्भात् पक्षत्रयवृत्तित्वेन कार्यत्वस्यानेकान्तत्वमिति चेत् न, अङ्कुरादेः पक्षत्वेन विपक्षत्वाभावात्। ननु नाङ्कुरादेः पक्षत्वं, सन्दिग्धकर्तृकत्वाभावात्। तथा हि सन्दिग्धसाध्यः पक्षः इति हि पक्षलक्षणम्। तदङ्कुरादेर्नास्ति। निश्चितसाध्यव्यतिरेकतया विपक्षत्वादिति चेद्। नैवम्। परस्य बुद्धिमतः साध्यस्य प्रत्यक्षानर्हत्वेनासत्त्वानिश्चयादङ्कुरादेः सन्दिग्धसाध्य-

त्वोपपत्तेः इति । न च सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं कार्यत्वस्याशङ्कनीयम् । विपर्यये बाधकतर्कस्योक्तत्वात् । तदुक्तम्—

'कारकाणां च सर्वेषां नियोक्तुर्यदि नास्तिता ।
वैयर्थ्यं स्यात् तदा तेषां सतामप्यसतामिव ।।" इति '

नाप्यनध्यवसितत्वं, साध्यासाधकपक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसित इति तल्लक्षणाभावात् । न हि नित्या भूः गन्धवत्त्वादितिवत् कार्यत्वस्य पक्ष एव वृत्तिः, सपक्षे घटादौ च वर्तमानत्वादिति । न चासौ कालात्ययापदिष्टः इति प्रोक्ततल्लक्षणाभावात् । न चानुष्णोऽग्निः कृतकत्वाद् जलवदितिवदस्य प्रत्यक्षविरुद्धकालात्ययापदिष्टत्वं, परात्मनो बुद्धिमत्कारणस्य प्रत्यक्षानर्हत्वात् । प्रत्यक्षानर्हस्यापि तदनुपलम्भेन असत्त्वाभ्युपगमे सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गः । तथा घटादावपि कर्ता कुलालः प्रत्यक्षतो नावगम्यते । शरीरस्य करणभूतस्यैव प्रत्यक्षत्वात् । न तु शरीरस्य कर्तृत्वमचेतनत्वात् कुठारवदिति कुलालादिशरीरस्य कर्तृत्वे निषिद्धे तदात्मनः कर्तृत्वं शरीरस्य च करणत्वमवशिष्यत इति न क्वचिदपि कर्तुः प्रत्यक्षार्हत्वमिति केचित् । अन्ये तु शरीरत्वेऽपि कर्तुः सूक्ष्मत्वदूरस्थत्त्वादिनानुपलम्भसंभवात् कार्यदेशे तदनुपलम्भो नासत्वादिति ब्रुवते । तदुक्तम्—

"यतः कार्यस्य कर्त्रा तु विना भावो न विद्यते ।
अतो देशान्तरस्थोऽयमिच्छया कुरुते जगत् ।। इति ।

द्विविधमिह कार्यं कायिकव्यापारजन्यमिच्छामात्रजन्यं चेति । तत्र कायिकव्यापारजन्यं घटादि । तदेव शरीरसन्निधानमपेक्षते । इच्छामात्रजन्यं स्वाकर्षणादि । न तच्छरीरसन्निधानमपेक्षते । योजनशतव्यवहितसर्पाद्याकर्षणस्य दूरस्थैः क्रियमाणत्वादिति । अपरे तत्र वर्तमानस्य शरीरस्यायोग्यत्वात् प्रत्यक्षेणानुपलम्भो नाभावादिति ब्रुवते । तदुक्तम्—

"अथवा दृश्यमेवास्तु शरीरं चक्षुरादिवत् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यां तत् सिद्धं शशशृङ्गो न तादृशः ।।" इति ।

ननूक्तं शरीरस्यानित्यत्वे स्वयं निजशरीरस्य निर्माणमतिसाहसं, कर्त्रन्तरविनिष्पत्तावीश्वरानन्त्यमापतेदिति । सत्यम् । बीजाङ्कुरवद् देहस्यानादित्वेन न विरोध इति केचिद् । तदुक्तम्—

पूर्वसिद्धेन देहेन शरीरान्तरकर्तृता ।
तच्च पूर्वेण देहेनेत्यनादित्वमिहाश्रितम् ।।" इति ।

एकब्रह्माण्डतद्वर्तिसकलकार्यविनाशे ब्रह्माण्डान्तरसद्भावात् तत्र स्थित्वासौ कार्यं करोतीति न कश्चिद् दोषः। अण्डानां बहुत्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम्। "यथा खल्वलाबूलतायां विततानि फलानि, एवं महेश्वरशक्तौ ब्रह्माण्डसहस्राणीति" श्रुतेः।

ईदृशानां तथाण्डानां कोट्यो ज्ञेयाः सहस्रशः।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥" इति

स्मृतेश्च तदवगमः। अन्ये नित्यं माहेश्वरं शरीरम् अनादित्वात्, तच्च अनादिसृष्ट्यादिकर्तुर्महेश्वरस्य देहानादित्वस्याभ्युपगमनीयत्वात्। तच्छरीरं मायेति चाहुः। अपरे शब्दब्रह्मतनुत्वं भगवतो मन्यन्ते इति। अथ प्रत्यनुमानबाधितमिदमनुमानम्। तथा हि-क्षित्याद्यसर्वज्ञकृतं कार्यत्वादित्यनुमानात् सर्वज्ञकर्तृकत्वानुमानस्य सप्रतिसाधनत्वमिति। तदसत्, विकल्पानुपपत्तेः। किं सर्वज्ञकर्तृनिषेधमात्रं विवक्षितं, किं वा किञ्चिज्ज्ञकर्तृमत्त्वं, किं वा कर्तृशून्यत्वम्। नाद्यः पक्षः। असर्वज्ञकर्त्रभ्युपगमप्रसङ्गाद् वामेनाक्ष्णा न पश्यतीति विशेषनिषेधवत्। विशेषनिषेधस्य शेषाभ्यनुज्ञाविषयत्वात्। अथ परस्य सर्वज्ञकर्तृकत्वमभिमतमिति तन्निषेधमात्रमत्र क्रियत इति चेन्नैवम्। कर्तृमात्रनिषेधादेव सर्वज्ञकर्तृनिषेधसिद्धेस्तदेव निषेध्यं न विशेष इति। तथा घटादीनामप्यदृष्टादिप्रेरणद्वारेण सर्वज्ञजगत्कर्तृपूर्वकत्वस्याभ्युपगमनीयत्वात् साध्यविकलदृष्टान्तता च भवेत् न च तत्रान्यः कर्ता। कर्तृभेदे प्रमाणाभावात्। न च कार्यमहत्त्वात् कर्तृबहुत्वकल्पनं कार्यमिति वाच्यम्। इच्छामात्रजन्ये कार्ये बहुत्वकल्पनं कार्यमिति वाच्यम्। इच्छामात्रजन्ये कार्ये बहुत्वस्यानुपयोगित्वात्। कायिकव्यापारजन्ये तु तदुपादानादिनोदनमुपायान्तरेण यत्रैकस्यैव न स्यात् तत्रैव बहुत्वकल्पना। अथवा सर्वेष्वपि कार्येष्वेकस्यैव कर्तृत्वान्न क्वचिदपि बहुत्वकल्पना, एकाचार्यानुगमात्। बहुत्वेऽपि इतरेषां वास्यादिवदकर्तृत्वाद्वा। आचार्यानेकतायां च ज्ञानाधिक्यवशादेकस्यैव कर्तृत्वं तत्साम्ये च कार्यभेदेन भागभेदेन वैककर्तृत्वोपपत्तिः। इतरथा तद्वैयर्थ्यापातादिति। तथा कार्यमहत्त्वस्य तु कर्तृमहत्त्वादप्युपपत्तेः न बहुत्वकल्पनासंभवः। धर्मिकल्पनायां गौरवापातात्। तथा समाभिप्रायत्वे वैयर्थ्यं, विरुद्धाभिप्रायत्वे कार्यवैशसप्रसङ्ग इति न सर्वथा कर्तृबहुत्वकल्पनोपपत्तिरिति। तथा घटाद्यदृष्टव्यापारः क्षितिकर्तृविनिर्मितः अदृष्टव्यापारत्वात्' क्षित्याद्यदृष्टव्यापारवदित्येककर्तृत्वे सिद्धे

तस्य सर्वज्ञसर्वेश्वरत्वादिसिद्धिः। अथ किञ्चिज्ज्ञकर्तृमत्त्वं विवक्षितमिति चेन्न। अपसिद्धान्ततप्रसङ्गात्। न हि मीमांसकादयो जगतः कर्तृमात्रमभ्युपगच्छन्ति। अतो दूरनिरस्तं किञ्चिज्ज्ञकर्तृत्वमिति। तथा किञ्चित्त्वस्य कार्योत्पादानुपयोगित्वाद् वैयर्थ्यं च। तथा सर्वज्ञस्य सर्वकर्तृत्वासंभवात् माता मे वन्ध्येतिवत् प्रतिज्ञाविरोधप्रसङ्गः। यदि किञ्चिज्ज्ञस्यापि कर्तृत्वं साध्येत, तदा सिद्धसाध्यता। क्षेत्रज्ञानामप्यदृष्टद्वारेण जगत्कारणत्वाभ्युपगमात्। न च जीवानामेव कर्तृत्वसाधनात् परमेश्वरस्याकर्तृत्वमिति वाच्यम्। उपादानाद्यभिज्ञकर्तुः पञ्चरूपवतानुमानेन साधितत्वात्। न च जीवानां कर्तृत्वं, हेतुत्वमात्रस्य विवक्षितत्वात्। अथाकर्तृत्वं विवक्षितमिति चेन्नैवम्। घटादेः कर्तृमत्त्वेन साध्याविकलदृष्टान्तत्वात्। मूलकारणदृष्टान्तत्वे साधनविकलमुदाहरणं, तत्र हेतोरभावात्। सत्त्वप्रमेयत्वादिसाधनोपन्यासे घटादिभिर्व्यभिचारः। घटादेश्च पक्षतायां प्रत्यक्षविरोध इति धूमानुमानेऽप्ययं दोषः समानः। पर्वतो धर्मी अपर्वतगताग्निनाग्निमानिति साध्यो धर्मः धूमवत्त्वात् महानसवदिति वक्तुं शक्यत्वादिति। ननु महेश्वरः क्षित्यादिन भवति अशरीरत्वात् पुरुषत्वाद्वा मुक्तात्मत्वाद् वाऽस्मदादिवच्चेत्यनुमानविरोध इति चेन्नैवम्। भवतां जगत्कर्तृत्वसिद्धेराश्रयासिद्धताप्रसङ्गात्। अथ भवत्पक्षे जगत्कर्ताऽसिद्ध इति नाश्रयासिद्धिदोष इति चेन्नैवम्। परसिद्धे प्रमाणमूलत्वे तेनैव धर्मिग्राहकेण प्रमाणेन बाध्यमानत्वात्। न च विपरीतानुमानस्यानुत्थानान्नानेन तस्य बाध इति वाच्यम्। तस्य तन्मूलतया तद्बाधकत्वासंभवात्। तथापि यदि बाधाभ्युपगमः, तदा महेश्वरस्याप्रसिद्धत्वाद् अस्य आश्रयासिद्धत्त्वप्रसङ्गः। अथ न प्रमाणमूला परप्रसिद्धिरिति चेन्न। तर्हि विपरीतानुमानोपन्यासः कार्यः। प्रमाणाभावादेव प्रमेयासिद्धेरस्याश्रयासिद्धिदोषप्रसंगाच्चेति। ननु प्रमाणसिद्धस्यापि तस्य पक्षत्वमुपपद्यते। सिद्धत्वादेवाश्रयासिद्धिदोषाभावादिति चेन्नैवम्। सुरभि गगनकुसुमं कुसुमत्वात् सम्प्रतिपन्नवदित्यस्यापि गगनकुसुमशब्दसिद्धतया आश्रयासिद्ध्यभावप्रसङ्गात्। न च पुरुषः क्षित्यादिकर्ता न भवति। पुरुषत्वाद् अस्मदादिवद् इति वाच्यम्। सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात्। विशिष्टपुरुषपक्षीकरणेऽपि जगत्कर्तृत्वव्यतिरिक्तकर्तृविशेषणविशिष्टत्वे सिद्धसाध्यता। जगत्कर्तृत्वविशिष्टपुरुषपक्षीकरणे भवेदेवाश्रयासिद्धिः, धर्मिग्राहकप्रमाणबाधो वेति। न च

सर्वे पुरुषाः क्षित्यादिकर्तारो न भवन्ति, पुरुषत्वात् कुलालादिवदिति वाच्यम्। अंशे सिद्धसाध्यताश्रयासिद्धिर्धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्मकदोषत्रयापाताद् दृष्टान्ताभावाच्चेति। ननु विमतः पुरुषः क्षित्यादिकर्ता न भवति पुरुषत्वादिति अस्मिन् साध्ये न दोषत्रयावकाशः। न तावदाश्रयासिद्धिः, आत्मनः पुरुषस्य सिद्धत्वात्। नापि सिद्धसाध्यताविप्रतिपत्तिः। अन्यपुरुषव्यवच्छेदात्। नापि धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः। तस्य जगत्कर्तृत्वानङ्गीकारेण सिद्धत्वादिति चेद्। नैवम्। पुरुषमात्रे विप्रतिपत्त्यभावात्। क्षित्यादिकार्यमधिकृत्य विप्रतिपत्तिर्न पुरुषे। अस्तु वा पुरुषे विप्रतिपत्तिः। तथापि न पुरुषमात्रे। तस्य जगत्कर्तृत्वानभ्युपगमात्। विशिष्टे चेत्, केन विशेषणेन। विशिष्टे यदि सर्वज्ञत्वादिविशेषणविशिष्टे, तत्र च न विप्रतिपत्तिः। यदि सर्वज्ञत्वादिविशेषणविशिष्टे, तत्र च न विप्रतिपत्तिः जगत्कर्त्रनुमानप्रवृत्तेः प्राक् तस्याप्रसिद्धत्वात्। न ह्यप्रतिपन्ने धर्मिणि धर्ममूला विप्रतिपत्तिर्युक्ता। जगत्कर्त्रनुमानप्रवृत्त्युत्तरतश्च न विप्रतिपत्तिः, तस्य प्रमाणासिद्धत्वात्। तस्मात् न विप्रतिपत्तेर्व्यवच्छेदकत्वमिति। तथेश्वरः शरीरादिमान् कर्तृत्वादित्यादयश्च निरसनीयाः, उक्तन्यायसाम्यादिति। अथ क्षित्यादि कर्तृशून्यं तद्व्यापकशरीररहितत्वात् यद् यद् व्यापकरहितं तत् तद् व्याप्येनापि रहितम्, यथा जलं धूमव्यापकाग्निरहितं धूमेनापीत्यनुमानविरोधाद् इति चेत्। न, अस्यानुमानस्य विशेषणासिद्धत्वेनाप्रामाण्यात्। शरीरकर्तृत्वयोः व्याप्यव्यापकभावेन तद्व्यापकशरीररहितत्वस्यासिद्धत्वात्। अस्मदनुमानाप्रामाण्ये भवदनुमानासिद्धिपरिहारः भवदनुमानबाधयास्मदनुमानाप्रामाण्यमिति इतरेतराश्रयप्रसङ्गश्च। अस्मदनुमानस्य भवदनुमानस्याप्रामाण्यमन्तरेणापि रूपपञ्चकोपपत्तेः निरपेक्षं प्रामाण्यमित्युभयोः परस्परविरुद्धयोर्बाध्यबाधकसाम्येऽपि भवदनुमानस्य विशेषणासिद्धिरूपदोषान्तरसद्भावादबाधकत्वमिति। अथ क्षित्यादि कर्तृशून्यं शरीररहितत्वादिति हेतूपन्यासादसिद्धिपरिहारो भवेदिति चेत्, न, घटादिव्यभिचारात्। घटादयोऽपि शरीररहितास्तथाऽपि कर्तृशून्या इति। अथ शरीराजन्यत्वं विवक्षितमिति चेत्, न, शरीरविशेषणवैयर्थ्यात्। अजन्यत्वस्यैव कर्तृशून्यताव्याप्तत्वादिति। न च स एव हेतुरिति वाच्यम्। स्वरूपासिद्धताप्रसङ्गादिति। तथाग्नीषोमीयपशुहिंसा धर्मफला हिंसात्वाद् ब्राह्मणहिंसावदितिवत्। नास्यागमविरुद्धकालात्ययापदिष्टत्वम्

कर्तृभावप्रतिपादकागमानुपलम्भात् । न च—

"अकर्तालेपको नित्यो मध्यस्थः सर्वकर्मणाम्"

इत्याद्यागमविरोधः । तस्य सव्यापार कर्तृत्वमात्रनिषेधत्वात् । तच्चागमान्तरे—

"न तं विदाथ य इमा जजान मा नो हिंसीज्जनिता यः पृथिव्याः"

इत्यादिभिः परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वप्रतिपादनाद् अवगम्यते । तस्माद् अयस्कान्तवन्निर्व्यापारकर्तृत्वमस्येति सिद्धमिति । न चासौ प्रकरणसमः, स्वपरपक्षसिद्धावत्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः इत्युक्त-तल्लक्षणाभावात् ।

तथा हि—यथा क्षित्यादि बुद्धिमत्पूर्वकं कार्यत्वाद् घटवदित्यस्मिन् प्रयोगे अस्य कार्यत्वस्य पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्त्यात्मकरूपत्रय-सद्भावः, न तथा क्षित्यादि बुद्धिमत्पूर्वं न भवति कार्यत्वात् माया-वदिति परपक्षसाधनेऽस्य रूपत्रयसद्भावः मायादौ कार्यत्वस्याभावेन सपक्षे सत्त्वाभावाद् घटादौ विपक्षे कार्यत्वसद्भावेन विपक्षाद् व्यावृत्त्य-भावाच्चेति । तस्माद् रूपपञ्चकसद्भावाद् इदमनुमानं जगत्कर्तुः परमेश्वरस्य सद्भावे प्रमाणमेवेति सिद्धम् । आगमाश्च 'विश्वतश्चक्षुरि' त्याद्याः परमेश्वरस्य जगत्कर्तुः सद्भावं बोधयन्ति । न च तेषां विधि-शेषत्वात् स्वार्थेऽप्रामाण्यमिति वाच्यम् । वेदवाक्यत्वाद् विधिवाक्य-वदिति । न च "आदित्यो यूपः" इत्यादिवदौपचारिकत्वम् । स्वार्थे बाधाभावात् । तथा ब्राह्मणादौ तदुक्तमृषिणेति मन्त्राणां स्वार्थे प्रामाण्य-प्रतिपादनाच्चेति । तस्माद् अनुमानागमाभ्याम् अस्मदादीनां सिद्धो महेश्वर इति । योगिनां तु करतलामलकवद् अखिलम् अवलोकयतां प्रत्यक्षतोऽपि सिद्धः । तथा हि—परमेश्वरः केषाञ्चित् प्रत्यक्षसमधि-गम्यः प्रमेयत्वात् करतलामलकवदित्यनुमानात् महेश्वरस्य प्रत्यक्षगम्य-त्वसिद्धिः । योगिनां सद्भावश्च अस्मदाद्यप्रत्यक्षा मूलकारणधर्माधर्मादयः प्रधानपुरुषप्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् करतलामलकवदित्यनुमानसिद्धः । तत्र प्रधानपुरुषो महेश्वरोऽप्रधानपुरुषा योगिन इति तत्सिद्धिरिति ॥ १७ ॥

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां शुद्धवर्गविनिर्णयो द्वितीयः परिच्छेदः ।

———

वृत्तिः

एवं पाशानुग्रहोऽपि भोगभोजनद्वारेण पश्वनुग्रहार्थमेवेत्यत आह—तेनेति।

तत्र तनुकरणशब्देनासाधारणी सूक्ष्मशरीरसृष्टिरुच्यते। भुवननिष्पत्तिशब्देन साधारणीभुवनाद्यात्मिका साधारणासाधारणी च भुवनजशरीरात्मिका सृष्टिरुच्यते। एतच्चानन्तादिद्वारेण करोतीत्युक्तम्। अत्र चोदयति कर्त्रा विनेति। यथा कार्यस्य कर्तारं विना नोत्पत्तिर्दृष्टा तथोपादानकरणेऽपि विनेति शिवस्यापि तनुकरणादेरशुद्धाध्वन्युत्पादे किमुपादानं किं वा करणमिति पूर्वः पक्षः॥ ३७॥

शक्तय इहास्य करणं मायोपादानमिष्यते सूक्ष्मा।
एका नित्या व्यापिन्यनादिनिधना शिवासक्ता[1]॥ ३८॥

यहाँ (अशुद्धाध्व में) शक्तियाँ (इच्छा आदि) इसके करण हैं। अमूर्त माया विश्व का उपादान अभिमत है। यह माया एक है, शाश्वत है, (कार्यों में) व्यापक है, उत्पत्ति–विनाशरहित है तथा शिव में समवेत नहीं है (अथवा शिव से अत्यन्त सम्बद्ध हैं।)॥ ३८॥ १॥

तात्पर्यदीपिका

अथ तृतीयः परिच्छेदः

अथेदानीं करणोपादानयोः स्वरूपनिरूपणार्थमाह—शक्तय इति।

अयमभिप्रायः-पराशक्तिविकाराः इच्छाद्याः शक्तयः परमेश्वरस्य करणं हस्तादिस्थानीयम्। "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" इति श्रुतेः शक्तिकरणसद्भावसिद्धिः। मायोपादानं मृत्तन्त्वादिस्थानीयमिति "मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति" श्रुतेः तदुपादानत्वसिद्धिः। तर्हि सा माया कस्मान्नोपलभ्यते घटवदित्यत आह–सूक्ष्मेति। सूक्ष्मत्वाद् अनुपलम्भो मायाया नासत्त्वादित्यर्थः। तथाहि—अतिदूरत्वातिसामीप्येन्द्रियघात-मनोऽनवस्थान-सौक्ष्म्य-व्यवधानाभिभव-समानाभिहारानुद्भवाः सत एवार्थस्य अनुपलम्भकारणभूता लोके दृष्टाः। उत्पतन् व्योम्नि पक्षी सन्नप्यतिदूरतया प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते। अतिसामीप्याच्चक्षुस्थमञ्जनं सदपि नाध्यक्षतोऽवगम्यते। मनोऽनवस्थानात् कामाद्युपप्लुतचेताः परिषदादिकं न पश्यति। इन्द्रियघाताद् अन्धत्व-बधिरत्वादेर्घटरूपशब्दाद्यनुपलम्भो भवति। सौक्ष्म्यात् परमाण्वा-

१. शिवा सोक्ता।

दिकं प्रणिहितचित्तोऽपि न पश्यति। व्यवधानादन्तःस्थघटाद्यनुपलम्भः। आदित्यप्रभाभिभूतत्वाद् दिवा तारका नोपलभ्यन्ते। समानाभिहारात् तोयदमुक्तजलधाराणां जलाशयेऽनुपलम्भः। अनुद्भवात् क्षीराद्यवस्थायां दध्याद्यनुपलम्भ इत्येभिः कारणैः सत एव अर्थस्य अनुपलम्भदर्शनात् नानुपलम्भमात्रादसत्त्वनिश्चयः। सप्तमरसस्य प्रमाणाभावाद् असत्त्वेनानुपलम्भो नैभिः कारणैः इति। मायाया विद्यमानायाः सूक्ष्मतयाऽनुपलम्भः, कार्यस्य जगतः उत्पादनकारणतया तत्सद्भावसिद्धेरिति। तदुक्तं सांख्याचार्यैः—

"अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च॥
सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।"

सां० का० ।७–८।

कालाद्यवनिपर्यन्ततत्त्वजातं स्वात्यन्तसदृशोपादानकारणवत् कार्यत्वाद् यद्यत्कार्यं तत्तत् स्वात्यन्तसदृशोपादानकारणवद् दृष्टम्। यथा घटशरावादयो मृन्मयाः स्वात्यन्तसदृशमृदुपादानजन्याः, तथेदं तत्त्वजातं कार्यम्। तस्मात् स्वात्यन्तसदृशोपादानकारणवदिति। यच्च सर्वेषां तत्त्वानां जडानां जडतया सदृशमुपादानं तन्मायाख्यं तत्त्वमिति तत्सिद्धिः। तदुक्तम्—

"कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्याव्यक्तमपि सिद्धम्॥" इति।

सां० का० ।१४।

तथा कालाद्यवनिपर्यन्तानि तत्त्वान्यपरिमितैकोपादानानि परिमितत्वाद् यद्यत् परिमितं तत्तदपरिमितैकोपादानं दृष्टम्। यथा घटशरावादयः परिमिता अपरिमितैकमृदुपादानास्तथा कालादयः परिमिताः। तस्माद् अपरिमितैकोपादाना इति। यदत्रैकमेषामपरिमितमुपादानं सा मायेति। तथा कालादयः स्वाव्यक्तावस्थाकारणवन्तः, व्यक्तत्वात्, कूर्माद् व्यज्यमानतदङ्गवदिति सिद्धा माया। एका सा, अनेकत्वे प्रमाणाभावात्। नन्वेकत्वे च प्रमाणाभावादनेकत्वमिति चेत्। नैवम्। एकत्वस्य सत्त्वमात्रेणैव सिद्धत्वात्। अनेकत्त्वस्य पुनः प्रमाणान्तरापेक्षया सद्भावसिद्धिरपि। सा नित्या च। तस्या उपादानान्तराभावेनाकार्यत्वात्। तदभावे चानवस्थाप्रसङ्गः।

"एतेषामेव पाशानां माया कारणमुच्यते।
मूलप्रकृतिरव्यक्ता" इति मायाया मूलप्रकृतित्वोपादानाच्च सिद्धा।

व्यापिनी च सा स्वकार्येषु सर्वेष्वनुगमात्। अनादिनिधना उत्पत्तिनाशरहितेत्यर्थः। शिवा शुद्धा, गुणबन्धशून्यत्वात्। सैवमुक्ता तत्त्वविद्भिरिति। अथवा एकेत्यनेकोपादानजन्यतां प्रपञ्चस्यारम्भवाद्यभ्युपगतां प्रत्याचष्टे। तथाहि—पृथिव्यप्तेजोवायुतदवयववादीनां चावयवविभागेनापरमाण्वन्तो विनाशः संहारः। न च परमाणोर्विनाशः संभवति, अवयवविभागासंभवात्। स चावयवाभावात्। स च परमाणुत्वात्। ततश्च सृष्टिदशायां परमाणुद्वयसंयोगाद् आद्यकार्यस्य द्व्यणुकस्योत्पत्तिः। तत्र परमाणुद्वयमुपादानाकारणं कार्याश्रयत्वात्। तत्संयोगोऽसमवायिकारणं, स्वाश्रये कार्यारम्भकत्वात्। शेषमदृष्टादि निमित्तकारणम्। ततो द्व्यणुकैस्त्रिभिः त्र्यणुकस्योत्पत्तिः। तत्र च द्व्यणुकत्रयं समवायिकारणम्। तत्संयोगोऽसमवायिकारणम्। शेषं निमित्तकारणमिति। तावदेवमवगन्तव्यं, यावदन्त्यावयवव्युत्पत्तिरित्यारम्भवादिनो वैशेषिकनैयायिकभाट्टप्राभाकरादयः। पटादिषु स्वन्यूनानेकोपादानत्वोपलम्भात् प्रपञ्चस्यापि स्वन्यूनमनेकम् उपादानमिति प्राहुः। तत् प्रत्याचष्टे-एकेति। एकस्मात् मृत्पिण्डोपादानादनेकघटशरावकुम्भमृदङ्गादयः, रुचकस्वस्तिकाङ्गुलीयकादयो वा स्वर्णपिण्डाद्, वृक्षाद्वा मञ्जूषाफलकादयः यतोऽध्यक्षेणैव जायमाना उपलभ्यन्ते, अतो जगतः कार्यत्वेनोपादानकारणकल्पनायां गौरवपरिहाराय तदेकत्वं कल्पनीयमिति नानेकत्वं मूलोपादानस्येति। तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन—"एकस्माद् वृक्षाद् यज्ञपात्राणि तक्ष्यात् स्रुक् च द्रोणी बोडनी पीडनी च" इत्यादि।

नित्या विनाशरहिता। व्यापिनी घटशरावकुम्भादिषु मृद्वत् स्वकार्येषु कालाद्यवन्यन्तेषु जडतयानुस्यूता इति। अनादिनिधना वृद्धिव्ययशून्या। अवयवोपचयो वृद्धिः, तदपचयो व्ययः। तद्द्वयरहितेत्यर्थः। एकत्वान्नित्यत्वात् सर्वगतत्वाच्चेति। शिवासक्तेति केचित् पठन्ति। तदा शिवे आसक्ता आभीक्ष्ण्येन संबद्धा। शिवस्य विग्रहत्वेनावस्थितेत्यर्थः॥ १॥

वृत्तिः

सिद्धान्तस्तु—शक्तय इति।

प्राग्वदुपाधिभेदभिन्ना शक्तिरेवेहाशुद्धाध्वन्यपि तस्य करणम्।

उपादानन्तु माया सा च सूक्ष्मा अमूर्ता। परमकारणत्वेन शक्तिरूपत्वात् सा च एका अचैतन्ये सत्यनेकत्वे नित्यत्वं सिद्धमित्यत एकेति भावः। नित्या आद्यन्तरहितत्त्वात् सृष्टिसंहारप्रबन्धस्य नित्यत्वेनावस्थानात् तस्याप्याद्यन्तविरहादतः व्यापिनी सर्वस्य कलादेः स्वकार्यस्य च। उत्पत्तिविनाशशून्यत्वात् अनादिनिधना शिवे त्वसक्ता असमवेता उपादानत्वेन बिन्दुवत्परिग्रहशक्तित्वात् ॥ ३८ ॥

साधारणी नराणां[1] कारणमपि चेयमखिलभुवनानाम्।
निखिलजनकर्मखचिता स्वभावतो मोहसञ्जननी ॥ ३९ ॥

यह माया सभी पुरुषो के लिये समान है—सामान्य है। और यह सम्पूर्ण भुवनों का कारण है। सभी (अमुक्त) पुरुषों के (पुण्यापुण्य) कर्मों से समन्वित है और स्वाभाविकरूप से मोह उत्पन्न करने वाली है ॥ ३९ ॥ २ ॥

तात्पर्यदीपिका

तस्या रूपमाह—साधारणी इति।

अयमभिप्रायः—सकलजीवसाधारणी समाना। यतः सर्वजन्तुशरीरेन्द्रियविषयात्मना परिणममाना सर्वपुरुषोपभोग्या माया, अतोऽस्याः सर्वपुरुषसाधारण्यमिति। ननु सर्वपुरुषसाधारण्ये मुक्तस्यापि पुरुषस्य शरीराद्यारम्भप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह—निखिलजनकर्मखचितेति। सकलामुक्तजन्तुपुण्यापुण्यमुद्रिता। तेन मुक्तानां कर्माभावात् तन्निमित्तशरीराद्यारम्भाभाव इति भावः। अथवा प्रलयावस्थायां कर्मणां कुत्र वृत्तिरिति वाच्यम्। न तावदात्मनि। तस्य स्वच्छचैतन्यरूपतया निरञ्जनस्य तदाश्रयत्वादनुपपत्तेः। तदुक्तम्—

"यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥"
"यथा हि धूमसंपर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत्।
अन्तःकरणजैर्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते ॥" इति।

न च तदा सूक्ष्मदेहाश्रितं कर्मेति वाच्यम्। तस्य तदानीं प्रकृतौ निलीनतयासत्त्वात्। न च तदानीं कर्मणामसत्त्वेनाश्रयत्वस्यानिरूपणीयतेति वाच्यम्। कर्मणामसत्त्वे निमित्ताभावेन पुनः सृष्ट्यभावप्रसङ्गात्। तस्मात् क्व तदानीं कर्मणां वृत्तिरित्याशङ्क्याह—निखिलजनकर्मख-

१. च पुंसाम्।

चितेति। स्वभावतो मोहसञ्जननीति। स्वीयेन जडत्वभावेनात्मप्रच्छादनं कृत्वा स्वस्मिन्नात्मबुद्धिं कुर्वती पशून् मोहयतीति। तदुक्तं किरणे—

"माया विमोहिनी प्रोक्ता विषयास्वादभोगतः।
यत्र तत्र स्थितस्यास्य स्वकर्ममलहेतुतः॥" इति।

नन्वव्यक्तं सकलकार्योपादानकारणम्। अतस्ततोऽन्या माया न कल्पनीयेति चेत्। नैवम्। तस्य त्रिगुणात्मतया कार्यत्वेन तत्कारणभूतनित्योपादानान्तरस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात्। तथाहि—प्रधानं कार्यं त्रिगुणात्मकत्वात् घटादिवदिति तस्य कार्यत्वसिद्धिः। न चाव्यक्तस्य त्रिगुणात्मकत्वमसिद्धमिति वाच्यम्। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थारूपतया तस्य त्रिगुणात्मकत्वसिद्धेः। तथा 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामि'त्यादिश्रुतेश्च तत्सिद्धिः। ननु—

"प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम।"

इत्याद्यागमबाधादयुक्तमेतदिति चेत्। नैवम्। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति' इति वाक्यबोधितसुकृताक्षय्यत्ववन्महदादिकालापेक्षयाधिककालसम्बन्धस्य विवक्षितत्वात्। ननु तत्र अनित्यं चातुर्मास्य फलं कार्यत्वाद् इतरकर्मफलवदित्यनुमानादिना प्रमाणान्तरेण तदनित्यत्वसिद्धेर्युक्तमक्षय्यपदस्य दीर्घकालसम्बन्धपरत्वकल्पनमिति चेत्। न। अत्राप्यव्यक्तानित्यत्वबोधकस्यानुमानस्योक्तत्वाद्, आगमस्य सद्भावाच्च। तथा—

"अव्यक्तादभवत्कालः प्रधानं पुरुषः परः।
तेभ्यः सर्वमिदं जातम्"

इतीश्वरगीतायां प्रधानोत्पादप्रतिपादनात् तदनित्यत्वासिद्धिः, श्रीविष्णुपुराणे च प्रधानपुरुषकालानामुत्पादप्रतिपादनाच्च। तथाहि—

"विष्णोः स्वरूपात् परतो दितेऽन्ये रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र।
तस्यैव तेऽन्येन धृते वियुक्ते रूपं तु यत्तः द्विज! काल संज्ञम्॥" इति।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यादिति' मायामूलोपादानत्वप्रतिपादनाच्च तत् सिद्धिरिति। तस्मान्माया जगन्मूलोपादानमिति सिद्धम्। सा माया हरितालनिभा। तदुक्तम्—

'तद्बाह्ये तु भवेन्माया हरितालाभसन्निभा।" इति।

अस्याः षडध्वव्याप्तिः—घकारो वर्णः। अघोरहृदयायेत्यादीनि त्रीणि पदानि। शिम् अघोरहृदयाय पश्चाणौं मन्त्रौ। माया तत्त्वम्। महातेजादि सप्त भुवनानि। निवृत्तिः कला॥ २॥

वृत्तिः

आत्मनाञ्च साधारणी कारणमखिलभुवनानामित्युपलक्षणं देहादेरपि। प्रलयकाले च बुद्धेरपि तत्रैव लयात् बुद्धिगुणरूपैर्निखिलात्मकर्मभिरुपेता। कर्म हि कृष्यादिवत् प्रकृतिसंस्काररूपत्वाद् बुद्धिगुणत्वेन एवेष्यते नात्मगुणत्वेन। तस्य विकारित्वप्रसंगात्। मोहिका चेयम् अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मप्रतिपत्तिहेतुत्वात्॥ ३९॥

कर्माण्यवे[1]क्ष्य शम्भुर्मायां विक्षोभ्य शक्तिभिः स्वाभिः।
प्रतिपुरुषं भोगार्थं वपूंषि करणानि चाधत्ते॥४०॥

(पशुओं के) कर्मों को समझ कर, माया को विक्षुब्ध अर्थात् प्रसवोन्मुख करके अपनी शक्तियों से शिव भोग के निमित्त प्रत्येक पुरुष को शरीर और इन्द्रियाँ प्रदान करते हैं॥ ४०॥ ३॥

तात्पर्यदीपिका

ननु कथं भगवान् जगत् सृजति, कैः करणैः, किमर्थं चेत्याशङ्क्याह—कर्माणीति।

कर्मानुरूपेण प्रतिपुरुषं शरीरेन्द्रियाणि च शब्दादिविषयांश्च भोगार्थं शम्भुरिच्छाभिः स्वाभिः शक्तिभिः मायां विक्षोभ्य विविधं क्षोभं विकारं कृत्वेति। न ह्युपादानादिकं कारणं कर्त्राऽप्रेरितं कार्योत्पादने पर्याप्तमिति क्षोभसिद्धिरिति॥ ३॥

वृत्तिः

ततश्च—कर्माणीति।

शिवोऽप्यात्मनां कर्माणि प्रलये पक्वानि बुद्ध्वा तद्भोगार्थं स्वशक्त्याधिष्ठिताभिरनन्तशक्तिभिः मायां विक्षोभयति। प्रसवाभिमुखीं करोति। तदुक्तम् श्रीमद्रौरवे-'वामादिशक्तिभिर्युक्तः शिवेच्छाविधिचोदितः। विद्याराजाधिराजेशो मायां विक्षोभ्य मन्त्रराट्। कलामुत्पादयामासे'ति। विक्षोभ्य तदधिष्ठानेनैव प्रतिपुरुषं भिन्नानि वपूंषि स्थूलशरीराणि। करणोपलक्षितांश्च सूक्ष्मदेहान् च शब्दात्साधारणानि भुवनादीनि च सृजति॥ ४०॥

नानाविधशक्तिमयी सा जनयति[2] कालतत्त्वमेवादौ।
भाविभवद्भूतमयं[3] कलयति जगदेष कालोऽन्तः॥४१॥

---

१. ण्यपेक्ष्य। २. सृजति (द्वि)। ३. भाविभव (द् ?) भूतरूपं।

अनेक प्रकार की (इच्छा आदि) शक्तियों वाली माया सर्वप्रथम कालतत्त्व को ही उत्पन्न करती है। अतः यह काल भविष्यत्, वर्तमान तथा भूत रूप में विश्व को व्यक्त करता है ॥ ४१ ॥ ४ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथेदानीं सर्वकार्यकारणतया तेषु प्रथमोद्दिष्टं कालतत्त्वं लक्षयति-नानेति।

इच्छादिबहुविधशक्तिप्रेरिता माया जनयति कालाख्यं तत्त्वम्। आदौ प्रथमं, कालजन्यानां तत्त्वान्तराणां कालानुत्पत्तौ जननासंभवात्। ततस्तत्त्वान्तराणि तज्जन्यानीति। यथा घटोत्पादनाय तत्कारणभूतचक्रादिकं कुलालः प्रथममुत्पादयति, तदनुत्पत्तौ घटोत्पादनासंभवात्, तथा कालं प्रथमं सृजति माया, तस्य स्वव्यतिरिक्तसर्वकारणत्वादिति। कालस्य तु स्वोत्पत्तौ कालापेक्षायां कालान्तराभ्युपगमेनानवस्था प्रसङ्गात् तदुत्पत्तौ न कालापेक्षेति शिवशक्तिकर्ममायात्मकचतुष्कजन्यः काल इति। तस्य लक्षणमाह—भाविभवद्भूतरूपं कलयति जगदेष कालोऽत्र इति। यत् तत्त्ववशात् पदार्थेषु भाविभवद्भूतरूपावभासं तत् कालाख्यं तत्त्वम्। अथवा यत् तत्त्वं भाविभवद्भूतरूपं जगत् कलयति बध्नाति, क्षणलवादिरूपेण संख्यापयति वा तत् कालाख्यं तत्त्वमिति। तथा वैशेषिकादिभिरप्युक्तम्—"परापरव्यतिकरचिरक्षिप्रादिप्रत्ययहेतुः कालः" इति। यूनि दिक्कृतपरत्वाश्रयेऽपरत्वावभासः, स्थविरे च स्वकृतापरत्वाश्रये परत्वावभासः परापरव्यतिकरः तस्य, चिरव्यवहारस्य क्षिप्रव्यवहारस्य च, आदिशब्देन युगपत् करोति क्रमेण करोतीत्यादिव्यवहारस्य च यो हेतुः, स काल इति। अनेनैव लक्षणवाक्येन कालतत्त्वे प्रमाणं चोपन्यस्तम्। तथाहि—भूतत्त्वादिविशिष्टा बुद्धिः विशेषणपूर्विका विशेष्यज्ञानत्वाद् यद्यद् विशेष्यज्ञानं तत्तद् विशेषणपूर्वकं यथा दण्डी कुण्डली छत्रीत्यादि विशेष्यज्ञानं दण्डादिविशेषणपूर्वकं, तथा चेदं विशेष्यज्ञानम्। तस्माद् विशेषणपूर्वकम्। यदत्र विशेषणं नियत्याद्यवनिपर्यन्ततत्त्वव्यतिरिक्तं, तत् कालतत्त्वमिति तत्सिद्धिः। तस्य चित्रं वर्णम्। तदुक्तम्—

"ततः कालनियत्याख्यः सम्पुटो व्याप्य चावृतः।
शितिः श्यामोऽरुणः शुक्लः क्वचिद् व्यामिश्रकस्तथा ॥" इति।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—ङकारो वर्णः। ॐ नमो नम इत्यादि द्वे पदे। वां वामदेवगुह्याय पञ्चार्णौ मन्त्रौ। सुखदैकवीरौ भुवने। शान्त्यतीता कला ॥ ४ ॥

वृत्तिः

अत्र कलादिपृथिव्यन्त त्रिंशत्तत्त्वानां सूक्ष्मदेहोपकारितां दर्शयितुं तत्सृष्टिक्रमः कथ्यते। नानेति।

सत्कार्यवादाभ्युपगमेन महाप्रलये कार्याणां शक्तिरूपेण तत्रावस्थानाच्छक्तिसमाहारात्मिका मायाऽनन्तक्षोभिता कालतत्त्वं जनयति। एष चास्य बिन्दोः परिणामः क्षीरदधिन्यायेन न सर्वात्मना, अपितु घृतकोटन्यायेन एकदेशेनेति मंतव्यम्। ननु श्रीमन्मतङ्गदौ कलाविद्यारागेभ्योऽनन्तरमस्य व्यापारः श्रूयते। सत्यं कालादीनां उत्तरोत्तरस्यैव तत्र प्रवृत्तिक्रमो दर्शितः। अत्र तु सृष्टिक्रम इत्यविरोधः। नन्वेषकालो नैयायिकादिभिर्नित्योऽभ्युपगतः। अत आह भावीति तस्य भूतादिरूपेण त्रिविधत्वादचैतन्ये सत्यनेकत्वेनास्यानित्यत्वं सिद्धमिति भावः। केन कार्येणास्य सिद्धिरित्याह कलयतीति। चिरक्षिप्रादिप्रत्ययोपाधिद्वारेण कलयतीति आक्षिपतीत्यर्थः। यदाहुः 'कालो धिया विभज्यत' इति ॥ ४१ ॥

नियतिर्नियमनरूपा मायातः साऽप्यनन्तरं भवति।
नियमयति येन निखिलं तेनेयं नियतिरित्युक्ता[1] ॥४२॥

नियति (अन्यों की) व्यवस्थारूपिणी है। वह माया से ही (काल के) पश्चात् उत्पन्न होती है। क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् को व्यवस्थित करती है, अत एव नियति कही जाती है ॥ ४२ ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथ नियत्याः लक्षणमाह—नियतिरिति।

मायातत्त्वादेव नियतितत्त्वं कालतत्त्वादनन्तरमुत्पद्यते। कालस्यापि नियत्युत्पत्तौ कारणत्वात्। तस्या निरुक्तिपूर्वकं लक्षणमाह—नियमयतीति। येन नियमयति व्यवस्थापयति निखिलं, तेनेयं नियतिसंज्ञयोद्दिष्टा। अनेनैव वाक्येन तस्याः प्रमाणमप्युक्तम्। तथाहि—लोके तावत् तिलेषु तैलं, न सिकतासु। व्रीहिषु ताण्डुलाः, न मुद्गादिषु। एवमूधसि पयो नान्यावयवेष्वित्यादिनियमो नियामकेन विना न

१. नियतिरुद्दिष्टा।

संभवति इति तन्नियामकं किञ्चिदभ्युपगन्तव्यम्। अन्यथा तन्नियमासंभवप्रसङ्गात्। यदत्र तन्नियामकं तन्नियतितत्त्वमिति तत्सिद्धिः। तदुक्तं पारमेश्वरे—

'अथेदानीं मुनिव्याघ्र! कारणस्यामितद्युते!
शक्तिर्नियामिका पुंसो महासत्त्वेन सर्पता॥
नियामकेन भावेन नियमस्थितिहेतुना।
ययाणुर्भोगसन्ताने नियम्य विनिवार्यते॥
व्यवस्थाकारिणी नान्या विद्यते तत्त्वसन्ततौ।
कोटिद्वयमसंख्यातं धर्माधर्मात्मकं पशोः॥
यदर्थं व्यक्तिमायाति शरीरं सर्वदेहिनाम्।
तद्विपाकेष्वनायासं क्षेत्रज्ञं सुनिरूप्य तु॥
नियामयति यस्माद्वै तस्मान्नियतिरुच्यते।
तयोरभ्यधिकं यच्च दुःखं वाप्यथवा सुखम्॥
न ददाति समं धत्ते स्ववीर्येणैव नान्यथा।" इत्यादि।

नियतेश्च कालवद् वर्णनम्। अस्याः षडध्वव्याप्तिः—चकारो वर्णः। गोप्त्रे निधनायेति द्वे पदे। यं सद्योजातमूर्तये पञ्चार्णौ मन्त्रौ। नियत्याख्यं तत्त्वम्। संवर्तज्योतिषी भुवने। शान्तिः कला॥ ५॥

वृत्तिः

किञ्च—नियतिरिति।

अयमभिप्रायः नियत्यभावे अन्यैरुपार्जितान्यपि कर्माण्यन्ये भुञ्जीरन्। राजनियमाभावे कृष्यादिफलानीव दस्यवः अतस्तन्नियामकत्वेनेयं सिद्धा। न च कर्मणो नियामकत्वम्, तस्य फलजनन एव चरितार्थत्वात्। कार्यान्तरहेतुत्वे प्रमाणाभावात्। अनेकतत्त्वपरिकल्पनाभयप्रसङ्गात् च। शिवशक्तिर्नियामिकास्त्विति चेत्तन्न। तस्यास्तत्तत्त्वान्तरव्यवधानेनैव भोगविषये कार्यकरणात् अन्यथा सर्वतत्त्वाभावप्रसङ्गाच्च॥ ४२॥

मायातस्तदनु कला मलं नृणामेकतस्तु कलयित्वा।
व्यञ्जयति कर्तृशक्तिं कलेति तेनेह कथितेयम्[1]॥ ४३॥

उसके पश्चात् माया से कला (उत्पन्न होती है।) यह मनुष्यों के (आणव)

---

१. कथिता सा।

मल को एक ओर संकुचित करके उनकी कर्तृत्वशक्ति को व्यक्त करती है, अत एव वह यहाँ कला कही जाती है ॥ ४३ ॥ ६ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथ कलातत्त्वं निरूपयति—मायातः इति ।

कालनियतितत्त्वादनन्तरं कलातत्त्वं मायात एवोपपद्यते । येन पशूनामाणवं मलमेकस्मिन् प्रदेशे संकुचय्य तेषां कर्तृशक्तिर्व्यक्तीक्रियते, तत् कलातत्त्वम् । यतः कर्तृशक्तिरनेन व्यक्तीक्रियते, ततोऽस्याः सद्भावसिद्धिः । तदुक्तम्—

'कलां तदनु माया सा कलयित्वैकतो मलम् ।
कर्तृत्वव्यञ्जिकां नर्ते कर्तारं हि जडोद्भवः ।'

मातङ्गे च—

यथाग्नितत्त्वमृत्पात्रं जतुनालिङ्गने क्षमम् ।
तथाऽणुं कलया विद्धं भोगः शक्नोति वासितुम् ॥
भोगपात्री कला ज्ञेया तदाधारश्च पुद्गलः ।
भोगानामपि नान्योऽस्ति कलां त्यज्य समाश्रयः ॥
ततोऽयं नियतः स्पष्टः संसारोऽतिदुरुत्तरः ।' इत्यादि ।

तस्मात् कलाख्यं तत्त्वमभ्युपेयमिति ॥ ६ ॥

वृत्तिः

मायातस्तदनु कला भवतीति प्राक्तनेन संबन्धः । सा आत्मनां मलावृतत्वेन भोगासंभवात् तदर्थमेतेषां मलमेकदेशे कलयित्वा क्षिप्त्वा कर्तृशक्तिं व्यनक्ति । शक्तेरेकत्वात् ज्ञानक्रियाशक्तिं किंचित्प्रकटयति ततस्तेन कार्येण कलासिद्धिरित्यर्थः ॥ ४३ ॥

कालेन नियत्या चाप्युपसर्जनतामुपैतया सततम् ।
विदधाति व्यापारन्निजमेषा ह्यवनिपर्यन्तम्[१] ॥ ४४ ॥

काल तत्त्व तथा गौणता को प्राप्त नियति के साथ यह कला निरन्तर भूतत्त्वपर्यन्त अपने व्यापार करती रहती है ॥ ४४ ॥ ७ ॥

तात्पर्यदीपिका

तत्त्वत्रयं सर्वत्रोपयुज्यते इत्याह—कालेन इति ।

यया कालनियतिसहितया माया मात्रावस्थानाद्यवन्यन्तकार्यजातं

१. निमेषाद्यवनिपर्यन्तम् ।

विदधाति करोति, सेयं कलेति । वर्णश्चास्याः श्वेतपीतारुणकृष्णमिश्रात्मकः । तदुक्तम्—

"कला-तत्त्वं परं तस्माद् विद्यातत्त्वादशोभनम् ।
श्वेतपीतारुणं कृष्णं मिश्रवर्णं क्वचित् तथा ।।" इति ।

अस्याः षडध्वव्याप्तिः—एकारो वर्णः । सर्वयोगाधिगतायेत्यादि द्वे पदे । यं अस्त्राय पञ्चार्णौ मन्त्रौ । कलाख्यं तत्त्वम् । पञ्चान्तकसूकरौ भुवने । विद्या कला ।। ७ ।।

वृत्तिः

ततश्च—कालेन इति ।

कला हि भोक्तृस्वरूपोपकारकत्वेनान्तरङ्गत्वात् प्रधानं कालादिस्तु बहिरङ्गत्वादप्रधानमिति भावः ।। ४४ ।।

उद्बुद्धकर्तृशक्तेः पुंसो विषयप्रदर्शननिमित्तम् ।
विद्यातत्त्वं सूते प्रकाशरूपं कलैवैषा ।। ४५ ।।

यह कला ही जाग्रत कर्तृत्वशक्ति वाले पुरुष को विषय प्रदर्शित करने के लिये प्रकाशस्वरूप विद्यातत्त्व को उत्पन्न करती है ।। ४५ ।। ८ ।।

तात्पर्यदीपिका

इदानीम् अशुद्धविद्यास्वरूपमाह—उद्बुद्ध इति ।

कलयाऽभिव्यक्तकर्तृशक्तेः पुरुषस्य विषयानुभवार्थं कला विद्यातत्त्वं जनयति । तस्याः प्रकाशरूपत्वेन विषयप्रदर्शनहेतुत्वसम्भव इति । अन्ये तु मायात एव विद्योत्पत्तिं ब्रुवते । तदुक्तं शैवरहस्ये—

"सुखदुःखमोहवपुषो भोग्या या व्यञ्जिका च सा बुद्धेः ।
मायात एव विद्या प्रकाशरूपा समुद्भवति ।।" इति ।। ८ ।।

वृत्तिः

एवं च—उद्बुद्ध इति ।

यदुक्तं श्रीमद्रौरवे—'कलातत्त्वाद्रागविद्ये द्वे तत्त्वे संबभूवतुः ।
अव्यक्तं चेति ।। ४५ ।।

आवरणं भित्त्वैषा ज्ञानाख्यायाः स्वकर्मणा शक्तेः ।
दर्शयति विषयजातं करणं सेहात्मनः परमम् ।। ४६ ।।

[1]यह विद्या अपने सामर्थ्य से ज्ञानशक्ति के मलरोध का भेदन करके विषय-

---

१. सूत्रे ।

समूह को प्रदर्शित करती है। यह इस संसारमार्ग में आत्मा-पशु-का प्रकृष्ट करण है ॥ ४६ ॥ ९ ॥

तात्पर्यदीपिका

तस्या विषयप्रदर्शनप्रकारमाह—आवरणम् इति ।

एषा विद्या स्वसामर्थ्येन एव पुद्गलस्य ज्ञानशक्तेस्तिरोधानं सम्भिद्य विषयसमूहं दर्शयति इति सा विद्येह संसारमार्गे पशोरात्मनः प्रकृष्टं करणमिति ॥ ९ ॥

वृत्तिः

विषयप्रदर्शननिमित्तत्वमेव प्रकटयति ।

ननु कलयैव मलविदारणेन ज्ञत्वमपि प्रदर्शितम्। सत्यम्। अभिव्यक्तस्वरूपमपि तत्करणं विना विषयं गृहीतुमशक्तमतश्चेयं विद्या स्वव्यापारेण ज्ञानशक्तेः विषयग्रहणाक्षमत्वलक्षणमावरणं मलरोधं व्यपोह्य विषयं प्रकाशयति । ननु विषयग्रहणे बुद्ध्यादीनि करणानि सन्ति । सत्यम्—यथा घटादिज्ञानं चक्षुरादिव्यतिरेकेण न संभवति तथा सुखादिविषयग्रहणं करणसापेक्षमत एव इयमात्मनः परममन्तरङ्गकरणम्, तेषां बहिरङ्गत्वात् । एतदुक्तं भवति—अश्वेन पथा दीपिकया मायातीत्यादाविवात्रानेककरणसाध्येऽपि फले विद्यैव परमं करणमिति ॥ ४६ ॥

बुद्धिर्यदास्य भोग्या सुखादिरूपा तदा भवेत्करणम् ।
विद्यैवं[1] करणं स्याद् विषयग्रहणे पुनर्बुद्धिः ॥ ४७ ॥

जब सुख आदि रूप वाली बुद्धि पशु का भोग्य होती है, तब यह विद्या ही करण होती है, और इसी प्रकार विषयों के ग्रहण में बुद्धि करण होती है। ॥ ४७ ॥ १० ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु शब्दादिविषयाध्यवसायो बुद्धिः। अतस्तयैव विषयप्रदर्शने सिद्धे किमर्थं विद्यातत्त्वपरिकल्पनमित्याशङ्क्याह—बुद्धिः इति ।

यदा सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका बुद्धिः सुखदुःखमोहनरूपेण परिणता भोक्तुरात्मनो भोग्या भवति, तदेयं विद्या करणं भवेत् । विषयग्रहणे तु बुद्धिरेव करणं भविष्यतीति बुद्ध्याध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयतीति । तदयुक्तं, पुरुषस्य चितेरक्रियात्मकत्वाद् विरुद्धक्रियत्वाच्चेति । तस्माद्

---

१. विद्येयं ।

बुद्ध्याध्यवसितम् अशुद्धविद्ययानुभवति पुरुष इति युक्तम्। पुरुषाद् भिन्नत्वान्मायाकार्यत्वात् च अशुद्धविद्यायाः परिणामादिसंभवादिति। न च बुद्धिः स्वप्रकाशात्मिका कार्यत्वात् सगुणत्वाद् घटादिवदिति बुद्धेः स्वव्यतिरिक्तप्रकाश्यत्वसिद्धिः। तथा बुद्धिः प्रकाश्या जडत्वाद्, जडा च सा कार्यत्वाद् घटादिवदिति। न च बुद्ध्यन्तरग्राह्या बुद्धिः। तद-भावात्। न च वृत्त्यन्तरेण तद्ग्रहणम्। बुद्धेरेकदैव वृत्तिद्वयासम्भवात्। न चाशुद्धं शुद्धविद्या वेदयतीति। यदशुद्धावेदकं परं तदशुद्धविद्याख्यं तत्त्वमिति तत्सिद्धिः। तदुक्तं पारमेश्वरे—

"प्रतिपत्यागतान् भोगान् क्रमशो व्यूढगोचरान्।
भोगभुक् प्रतिजानाति विद्ययात्मनिषण्णया॥
ख्यातिः प्राधानिकान् भावान् विवेचयितुमुद्यता।
यदा तदात्मवर्तिन्या विद्यया सुनिरूप्यताम्॥" इति।

अशुद्धं बुद्धितत्त्वं वेदयतीत्यशुद्धविद्या, अशुद्धा चासौ विद्येति वा, मलादिनाशुद्धस्य क्षेत्रज्ञस्य विद्येति वा तस्याः सिद्धिः शुद्धविद्यातः शुद्धविद्यायाः शिवाव्यतिरिक्तया स्वयम्प्रकाशया परमशक्त्येति शैव-सिद्धान्तः।

"विद्येयं सर्वभावानामशुद्धार्थप्रदायिका।
शिवसद्भावकुशला विद्यान्या शुद्धगोचरा॥"

इत्याद्युक्तत्वात्। तस्या वर्णमिन्द्रगोपनिभम्। तदुक्तम्—

"विद्यातत्त्वं परं रागादशुद्धं पशुमोहनम्।
इन्द्रगोपकसंकाशं क्वचिच्चामीकरप्रभम्॥" इति।

अस्याः षडध्वव्याप्तिः। जकारो वर्णः। ज्योतीरूपायेत्यादि द्वे पदे। वां नेत्रत्रयाय पञ्चार्णौ मन्त्रौ। अशुद्धविद्याख्यं तत्त्वम्। चण्ड-क्रोधौ भुवने। प्रतिष्ठा कला॥ १०॥

वृत्तिः

तदेव दर्शयति—बुद्धिरिति।

मनोऽधिष्ठितैरिन्द्रियैरुपस्थापितं वस्तु बुद्धिरध्यवस्यति तदध्यवसितं अर्थं पुरुषो गृह्णाति। यदाहुः—'बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयतीति। तत्र च ग्रहणे ग्राह्यतापन्नमात्मानं बुद्धिः करणत्वेन ग्राहयितुं न क्षमा ततस्तद्ग्रहणे विद्याकरणमिति विद्यासिद्धिः। यदुक्तं तत्त्वसंग्रहे— 'रविवत्प्रकाशरूपो यदि नाम महांस्तथापि कर्मत्वात्।' इत्यादि॥४७॥

रागोऽभिष्वङ्गात्मा विषयच्छेदं विनैव सामान्यः ।
पुरुषप्रवृत्तिहेतुर्विलक्षणो बुद्धिधर्मेभ्यः ॥ ४८ ॥

राग अभिलाषात्मक होता है। विषय से सम्बन्ध के विना ही यह पशु की प्रवृत्ति का कारण है, सामान्य अर्थात् सभी विषयों से आसक्ति का कारण है और बुद्धि के (तामस) धर्म (अवैराग्य) से भिन्न है ॥ ४८ ॥ ११ ॥

तात्पर्यदीपिका

इदानीं रागतत्त्वं निरूपयति—राग इति ॥

अभिष्वङ्गात्मा रागो विषयमन्तरेण पुरुषप्रवृत्तेः सामान्यो हेतुः। केचिद् रागतत्त्वस्य बुद्धिधर्मत्वमिच्छन्ति । तन्निरस्यति—विलक्षणो बुद्धिधर्मेभ्य इति। विषयप्रदर्शनद्वारेण पुरुषप्रवृत्तिहेतुभूतो बुद्धिधर्मो रागः। अस्य विषयावभासेन विना पुरुषप्रवृत्तिहेतुत्वात् बुद्धिधर्मवैलक्षण्यसिद्धिः। मुमुक्षोः विषयवितृष्णस्य तत्साधने विषयावभासेन विना प्रवृत्तिर्दृष्टा। अतः तत्प्रवृत्तिहेतुभूतं रागतत्त्वमभ्युपेतव्यम्। तदुक्तं मातङ्गपारमेश्वरे—

"अथाणोर्विसृतस्यास्य कलाविद्धस्य वेगतः।
प्रवृत्तस्याभिलाषेण विद्ययोन्मीलितस्य च ॥
येनासौ रञ्जितः क्षिप्रं भोगभुग् भोगतत्परः।
रागोऽन्योऽपि परः सूक्ष्मो विशिष्टोऽस्मान्मदात्मकात् ॥
येन नैःश्रेयसे पुंसां प्रवृत्तिरुपजायते।
दृश्यते च विरक्तानां नराणां बन्धगोचरात्।
आचार्यान्विषणे रागः शिवमुद्दिश्य सादरम् ॥" इत्यादि।

किरणे च—

"रागरञ्जितचिद्धर्मः संयुक्तश्च त्रिभिर्गुणैः।
बुद्ध्यादिकरणानीकसम्बन्धाद् बध्यते पशुः ॥" इत्यादि।

तस्मात् रागतत्त्वसद्भावः सिद्धः। तस्य वर्णं कुङ्कुमाभम्। तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये रागतत्त्वं तु कुङ्कुमोदरसन्निभम्।" इति।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—भकारो वर्णः। परमात्मन्नित्यादि द्वे पदे। शि कवचाय पञ्चार्णौ मन्त्रौ। रागाख्यं तत्त्वम्। प्रचण्डादीनि पञ्च भुवनानि। निवृत्तिः कला ॥ ११ ॥

वृत्तिः

रागतत्त्वसिद्धिमाह—राग इति ।

अभिष्वङ्गोऽभिलाषः आत्मा कार्यत्वेन यस्य सः रागः । अभिलाषात्मना कार्येण रागतत्त्वसिद्धिरित्यर्थः । ननु विषयगुण एव पुंसोऽभिलाषहेतुरस्तु, अवैराग्यलक्षणो बुद्धिधर्मो वा, तत् किमन्येनात आह । विषयच्छेदमिति । विषयावच्छेदमात्रस्यैवाभिलाषाहेतुत्वे वीतरागाभावप्रसङ्गः । तेषामपि विषयावच्छेदसंभवात् । ततस्तं विनैव पुरुषप्रवृत्तिहेतुरत्र रागः सिद्धः । अवैराग्यस्य च बुद्धिधर्मत्वेन वासनारूपत्वान्न पुरुषोपकारः संभवति । अन्यथा बुद्धेरनन्तवासनायोगेन पुंसो युगपद्विरुद्धानन्तप्रतिपत्तिवैशसप्रसङ्गात् । इत्युक्तमस्माभिर्मृगेन्द्रवृत्तिदीपिकायामिति तत एवावधार्यः । तस्मादपि विलक्षणः । सामान्यः सर्वविषयाभिलाषहेतुरेवायं राग इति ॥ ४८ ॥

तत्त्वैरेभिः कलितो भोक्तृत्वदशां यदा पशुर्नीतः ।
पुरुषाख्यतां तदाऽयं लभते तत्त्वेषु गणनां च ॥ ४९ ॥

इन्हीं (काल नियति आदि पाँच) तत्त्वों द्वारा सम्बद्ध किया हुआ (शिव) जब पशुभाव को प्राप्त करके भोक्ता की दशा में लाया जाता है, तब वही तत्त्वों में 'पुरुष' नाम की संज्ञा प्राप्त करता है ॥ ४९ ॥ १२ ॥

तात्पर्यदीपिका

अथेदानीं पुरुषतत्त्वस्वरूपमाह—तत्त्वैः इति ।

यदायमीश्वरः एभिः कालनियतिकलाविद्यारागाख्यैः पञ्चभिस्तत्त्वैः सम्बन्धात् पशुभावं प्राप्य भोक्तृत्वावस्थां प्राप्नोति, तदा व्यक्तादिचतुर्विंशतितत्त्वमये पुरि शयनात् पुरुषसंज्ञां च लभते, शिवतत्त्वव्यतिरेकेण तत्त्वेषु गणनां चेति । तस्य वर्णः स्वतः शुद्धः, उपाधितोऽनेकवर्णः । अस्य षडध्वव्याप्तिः, अकारो वर्णः । व्योमिन्नित्यादि द्वे पदे । मं शिखायै पञ्चार्णौ मन्त्रौ । पुरुषाख्यं तत्त्वम् । वामादीनि षड् भुवनानि । शान्त्यतीता कला ॥ १२ ॥

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां शुद्धाशुद्धविनिर्णयः
तृतीयः परिच्छेदः ।

वृत्तिः

ननु पुरुषस्याजडत्वात् शिववज्जडरूपेषु तत्त्वेषु तत्त्वतया गणना न संभवति। तत्वेषु व्यापकत्वाद् रागतत्त्वानन्तरं शास्त्रेषु पाठोऽप्य-युक्तोऽत आह—पुरुषस्य इति।

कलादिपञ्चतत्त्वोपबृंहितोऽणुः भोक्तृत्वेन पुंस्तत्त्वनिर्देशं याति। न तु परमार्थतः तस्य तत्त्वं भुवनाधारत्वं च विद्यते। अत एव तद्भुवनानां रागतत्त्व एव स्थितिरित्युक्तम् श्रीमन्मतङ्गादौ। तस्य च दीक्षायां प्रकृतितत्त्वशुद्ध्यनन्तरमत्रैव पुंस्त्वमलशुध्यर्थं पाठ इति न दोषः क्वचित्॥ ४९॥

पुरुषस्य हि भोगार्थं कलैव[1] तस्मात् प्रसूयतेऽव्यक्तम्।
अनभिव्यक्तगुणत्वादव्यपदेश्यं[2] तदव्यक्तम् ॥५०॥

पुरुष के (सुखदुःखात्मक) भोग के लिये कला ही (राग तत्त्व के) पश्चात् 'अव्यक्त' को उत्पन्न करती है। गुणों के अभिव्यक्त न होने के कारण वह अव्यक्त अकथनीय है॥ ५०॥ १॥

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

तात्पर्यदीपिका

अथेदानीम् अव्यक्तस्वरूपनिरूपणार्थमाह—पुरुषस्य इति।

पुरुषस्य सुखाद्यनुभवाय मायातत्त्वादेवाव्यक्तमुत्पद्यते। अव्यक्तपद-प्रवृत्तिनिमित्तमाह—अनभिव्यक्तसत्त्वादिगुणवत्त्वादिदं तत्त्वमव्यक्त-मित्युच्यते। सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति सांख्याचार्या आहुः। अतोऽनभिव्यक्तगुणत्वमस्य सम्भवति। भूततन्मात्रेन्द्रियमनो-ऽहङ्कारबुद्धीनाम् अव्यक्तकार्याणां सुखदुःखमोहहेतुतया त्रिगुणात्मक-त्वात् तत्कारणस्य अव्यक्तस्य त्रिगुणात्मकत्वसिद्धिः। तस्य स्वरूपमप्रत-र्क्यम्। तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये तु भवेदन्यदव्यक्तं तत्त्वमुत्तमम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं निर्वाणवदवस्थितम्॥" इति।

अस्य षडध्वव्याप्तिः। टकारो वर्णः। अरूपिन्नित्यादि द्वे पदे। नं शिरसे पञ्चाणौं मन्त्रौ। गुणप्रकृत्याख्यं तत्त्वम्। कृताकृतादीन्यष्टौ भुवनानि। शान्तिः कला॥ १॥

---

१. किलैव। २. अव्यपदेशम्।

वृत्तिः

एवं भोक्तृत्वं प्राप्तस्य पुंसो भोगार्थं भुज्यन्ते एभिरिति भोगाः भोगसाधनानि गुणादीनि तत्त्वानि तत्सिध्यर्थं तत्कारणत्वेनाव्यक्तम्। तस्मात् प्रागुक्ताद्रागतत्त्वाद् अनन्तरं कलैवोत्पादयति। ननु गुणा एवाव्यक्तं बुद्ध्यादिकारणमिति साङ्ख्याः। तदयुक्तमित्याह। गुणानामचैतन्ये सत्यनेकत्वात्कारणपूर्वकत्वमित्युक्तमतोऽनभिव्यक्तगुणरूपकार्यत्वादेव तदव्यक्तमित्युच्यते। यद्येवं सांख्याभ्युपगतप्रकृतिवन्नित्यमेवेदमस्तु। तन्न प्रकृतेश्च प्रतिपुरुषं भेदेन जडत्वे त्वनेकत्वात् कार्यत्वं सिद्धम् ॥ ५० ॥

अव्यक्ताद् गुणतत्त्वं प्रख्याव्यापारनियमरूपमिह।
सत्वं रजस्तमोऽपि च सुखदुःखे मोह इत्यपि[1] च ॥ ५१ ॥

अव्यक्त से ज्ञान, क्रिया तथा नियमन रूप, सुख-दुःख-मोह-स्वरूप (तीन) सत्व, रजस् और तमस् नामक गुणतत्त्व व्यक्त होता है ॥ ५१ ॥ २ ॥

तात्पर्यदीपिका

गुणतत्त्वं लक्षयति।—अव्यक्ताद् इति।

गुणसाम्यस्वभावाद् अव्यक्ताद् गुणतत्त्वं वैषम्यात्मकं जायते। प्रख्याव्यापारनियमरूपं तद्वृत्तिकम्। प्रख्या प्रकाशो ज्ञानं वृत्तिः, सत्त्वगुणस्य निर्मलत्वात्। व्यापारः क्रिया रजसो वृत्तिः, चलत्वात्। नियमो नियमनं वृत्तिस्तमसः, गुरुत्वादिति सत्त्वरजस्तमोनामकं च सुखदुःखमोहस्वरूपकं च गुणतत्त्वम् इति। तदुक्तं सांख्यैः—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृतिः ॥" सां.का.१३।

अस्य गुणतत्त्वस्य वर्णं शुक्लरक्तकृष्णात्मकम्। तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये तु भवेदन्यद् गुणावरणसंज्ञितम्।
इन्द्रनीलमहारत्नशुद्धस्फटिकसन्निभम् ॥" इति ॥ २ ॥

वृत्तिः

ततश्च—अव्यक्तादिति।

प्रकाशप्रवृत्तिनियमाख्यैस्त्रिभिः कार्यैरेतत्सिद्धम्। किंच ते गुणाः सत्वादयः सुखादिजनकत्वात्क्रमेण सुखदुःखादय उच्यन्ते। एषां च सर्वेषां

1. मोह इति च।

तत्त्वानां विस्तरेण साधनम् श्रीमन्मतङ्गादौ द्रष्टव्यम्। नात्र विस्तर-भयाल्लिखितम् ॥ ५१ ॥

भवति गुणत्रयतो[1] धीर्विषयाध्यवसायरूपिणी चेह[2] ।
सापि त्रिविधा गुणतः प्रोक्ता[3] कर्मानुसारेण ॥५२॥

त्रिगुणों से बुद्धि उत्पन्न होती है, वह विषयों के अध्यवसाय (निश्चयात्मक ज्ञान) रूप होती है। पूर्व कर्मों के अनुसार गुणों के कारण वह भी तीन प्रकार की होती है ॥ ५२ ॥ ३ ॥

तात्पर्यदीपिका

इदानीं बुद्धितत्त्वं निरूप्यते—भवति इति।

गुणानां सत्त्वरजस्तमसां त्रयं गुणत्रयं तस्माद् बुद्धिरुत्पद्यते। तस्या लक्षणमाह—विषयाध्यवसायरूपिणी चेति। विषयेषु शब्दादिष्वध्यवसायो निश्चयो रूपं वृत्तिर्यस्याः सा तथोक्ता। चकाराद् धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यात्मनाऽष्टविधवृत्तिमत्त्वं बुद्धेः सूचितम्। तदुक्तम्—

"अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥" सां.का. २३।

तत्राभ्युदयनिःश्रेयसयोर्यो हेतुः, स धर्मः, तत्र कामनापूर्वयागाद्यनुष्ठानजनितो धर्मोऽभ्युदयस्य स्वर्गादिसुखस्य हेतुः। तद्रहितयागाद्यष्टाङ्गयोगानुष्ठानजनितो धर्मो निःश्रेयसस्य हेतुः। योगलक्षणमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्। तद् द्विविधं—प्रमाणं च स्मृतिश्च इति। अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। तद्यथा—सा मे माता, स मे पिता, तद् गृहमित्यादि हि ज्ञानं पूर्वानुभवजनितसंस्कारमात्रमुद्भवति। सम्यगनुभवः प्रमाणम्। तदुक्तम्—

"अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्या तु सा स्मृतिः।
पूर्वानुभवसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते ॥" इति।

सम्यक्पदेनात्र विकल्पविपर्ययादिव्युदासः क्रियते। अनुभवपदेन स्मरणं व्युदस्तम्। तद् द्विविधम्—तत्त्वावेदकमतत्त्वावेदकं चेति। तत्रात्मानात्मविवेकज्ञानं तत्त्वावेदकम्। तदुक्तम् लैङ्गे—

१. गुणत्रयधीर्वि॰॰॰। २. चेति। ३. प्राक्तनकर्मानुसारेण।

अव्यक्ताद्ये विशेषान्ते विकारेऽस्मिन्नचेतने ।
चेतनाचेतनान्यत्वविज्ञानं ज्ञानमुच्यते ।।" इति ।

अनात्मविषयं प्रमाणज्ञानमतत्त्वावेदकम् । तदुक्तम्—
द्वे विद्ये वेदितव्येऽत्र परा चैवापरा तथा ।
कर्मादिविद्या ह्यपरा परा चोपनिषद्गता ।।" इति ।

तदेतत् प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकः । स्पष्टास्पष्टात्मना द्विविधमित्यार्हताः । प्रत्यक्षानुमानात्मना द्विविधंप्रमाणमिति बौद्धवृद्धवैशेषिकौ । तत्र आगमस्य अप्रामाण्यात् द्वैविध्यं बौद्धैः कल्पितम् । शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावाद् द्वैविध्यमितरो ब्रूते । सशाब्दं चैतत् प्रमाणमिति सांख्यनूतनवैशेषिकभूषणकाराः । तत्त्रयमुपमानसहितं वृद्धनैयायिकः । सार्थापत्ति तच्चतुष्कं प्रभाकराचार्यो ब्रूते । साभावं तत्पञ्चकं भट्टपादौपनिषदौ । ऐतिहासिकपौराणिका ऐतिह्यसम्भवचेष्टाविरोधसहितं तत्षट्कमाहुः । तदुक्तम्—

"चार्वाकोऽध्यक्षमेकं सुगतकणभुजौ सानुमानं सशाब्दम्
तद्द्वैतं पारमर्षः सहितमुपमया तत्त्रयं चाक्षपादः ।
सार्थापत्ति प्रभाकृद् वदति तदखिलं पञ्चकं तच्च भाट्टः
साभावं द्वे प्रमाणे दिनपतिसमये स्पष्टताऽस्पष्टता च ।।" इति ।

"अन्यथाख्यामुपाश्रित्य सांख्यवच्छिवशासनम् ।"

इति वचनादस्माकं तत् त्रिविधमेव प्रत्यक्षमनुमानमागम इति । परे चाहुः—तत्त्रैविध्यमैन्द्रियकं लैङ्गिकं शाब्दं चेति । अर्थेन्द्रियसंप्रयोगात् संप्रयुक्तेऽर्थे विज्ञानं प्रत्यक्षम् । विज्ञानं प्रत्यक्षमित्युक्ते विकल्पे व्यभिचारः । तन्निवृत्यर्थमर्थ इति पदम् । अर्थे ज्ञानमित्युक्ते विपर्यये व्यभिचारः । तन्निवृत्त्यर्थं संप्रयुक्त इति पदम् । अनुमानादिव्यवच्छेदार्थम् अर्थेन्द्रियसंप्रयोगादिति पदम् । तद् द्विविधं—निर्विकल्पकं सविकल्पकम् चेति । तत्र नामजात्युल्लेखशून्यं प्रत्यक्षज्ञानं निर्विकल्पकम्, यथा प्रथमाक्षसन्निपातजं वस्तुमात्रावभासकं विज्ञानम् । तदुक्तम्—

"अस्ति ह्यालोचनाज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ।।" इति ।

नामादिसम्बन्धोल्लेखि प्रत्यक्षज्ञानं सविकल्पकम् । तद्यथा—देवदत्तेति नामविकल्पः । दण्डी कुण्डलीत्यादयो द्रव्यविकल्पाः । शुक्लः कृष्णो महानित्यादयो गुणविकल्पाः । गच्छत्यागच्छति पततीत्यादयः

क्रियाविकल्पाः। मनुष्यः पशुर्घट इत्यादयो जातिविकल्पाः। इति पञ्चविधं सविकल्पकमिति। तत् पुनर्द्विविधं—योगिप्रत्यक्षमयोगिप्रत्यक्षं चेति। देशकालस्वभावविप्रकृष्टार्थविषयमपरोक्षज्ञानं योगिप्रत्यक्षम्। तद्विपरीतमयोगिप्रत्यक्षम्। तद्यथा–देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। कालविप्रकृष्टा रावणादयः। स्वभावविप्रकृष्टा मूलकारणेन्द्रियादयः। तेषु यदपरोक्षं विज्ञानं योगिनां, तद् योगिप्रत्यक्षम्। इतरस्योदाहरणमुक्तमिति। लिङ्गादुपजायमानं लिङ्गिविज्ञानमनुमानम्। निरुपाधिकसाध्यसंवन्धि लिङ्गम्। तत् त्रिविधं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं चेति। कारणेन कार्यानुमानं पूर्ववत्, यथा विशिष्टमेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति विज्ञानम्। तदुक्तं न्यायविद्भिः—

"सविद्युतां विदधतां गर्जाडम्बरमम्बरे।
घनानामुन्नतिर्दृष्टा न वृष्टिव्यभिचारिणी॥
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिशङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः।
वृष्टिं व्यभिचरन्त्येते नैवंप्रायाः पयोमुचः॥"

तथा—"शिखण्डिमण्डलारब्धचण्डताण्डवडम्बरैः।
प्रावृडाख्यायते मेघमेदुरैर्मेदिनीधरैः॥" इति।

कार्येण कारणानुमानं शेषवत्। तद्यथा—नदपूरणेन उपरिष्टात् वृष्ट्यनुमानम्। तदन्यत् सामान्यतोदृष्टम्। तद्यथा—रसाद् रूपविषयं विज्ञानम् इति। अपरे दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयं पूर्ववत्। तद्यथा—धूमादिलिङ्गदर्शनादध्यक्षयोग्येऽग्नावनध्यक्षे संजायमानं विज्ञानम्। सामान्यतोदृष्टम् अदृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्। तद्यथा—रूपाद्युपलब्धिः करणजन्या क्रियात्वात् छिदिक्रियावदितीन्द्रियसाधकमनुमानम्। इन्द्रियत्वस्यानुमानविषयस्य स्वलक्षणं पूर्वं न प्रसिद्धमिति नास्य पूर्ववत्त्वम्। अनयोरन्वयमुखेन प्रवर्तमानत्वाद् वीतत्वम्। व्यतिरेकमुखेन प्रवर्तमानं निषेधकमवीतम्। तदेव शेषवदनुमानम्। शिष्यत इति शेषः। स विषयतयास्त्यस्यानुमानस्येति शेषवदिति। तदुक्तम्—'प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाद् शिष्यमाणे संप्रत्ययः, तच्छेषवदनुमानम् इति। तद्यथा—सर्वं कार्यं सर्वज्ञनिर्मितं, कादाचित्कमपि न भवति, यथा मायादि। न च तथेदमकादाचित्कम्। तस्मात् सर्वज्ञानिर्मितमपि न भवतीति। तत् पुनर्द्विविधं स्वार्थं परार्थं चेति। तदुक्तम्—

"परोपदेशानपेक्षं स्वार्थं स्वस्यानुमापकम्।
परोपदेशसापेक्षं परार्थमभिधीयते॥" इति।

परोपदेशः पञ्चावयवं वाक्यम् । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमना-न्यवयवाः पञ्चेति तार्किकाः । प्रतिज्ञाहेतूदाहरणाख्यास्त्रय इति मीमांसकाः । उदाहरणोपनयौ द्वाविति बौद्धः । तत्र प्रतिपिपादयिषया पक्ष-वचनं प्रतिज्ञा, यथाग्निमान् पर्वत इति । साधनत्वख्यापकं लिङ्गवचनं हेतुः, यथा धूमवत्वाद् इति । स त्रिविधः—अन्वयव्यतिरेकी केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी चेति । तत्र पञ्चरूपोऽन्वयव्यतिरेकी । रूपाणि तु पक्ष-धर्मत्वं, सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिरबाधितविषयत्वम्, असत्प्रति-पक्षत्वं चेति । तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः । तत्र व्याप्यवृत्तित्वं हेतुः पक्षधर्मत्वम् । साध्यसमानधर्मा धर्मी सपक्षः । तत्र सर्वस्मिन् एक-देशे वा हेतोर्वृत्तिः सपक्षे सत्त्वम् । साध्यव्यावृत्तधर्मा धर्मी विपक्षः । तत्रहेतोरवृत्तिर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः । प्रमाणाविरोधिनी प्रतिज्ञातार्थे हेतोर्वृत्तिबाधितविषयत्वम् । स्वपरपक्षसिद्धावत्रैरूप्यमसत्प्रतिपक्षत्वम् । तद्यथा—क्षित्यादि बुद्धिमत्पूर्वं कार्यत्वाद् घटादिवदित्यादि । पक्ष-सपक्षवृत्तिरविद्यमानविपक्षः केवलान्वयी । तद्यथा—विवादास्पदम-दृष्टादि कस्यचित् प्रत्यक्षं प्रमेयत्वात् करतलादिवदिति । पक्षवृत्तिर-विद्यमानसपक्षो विपक्षाद् व्यावृत्तः केवलव्यतिरेकी । तस्योदाहरणम् अवीतानुमानमिति । तथा हि—विमतं कालादिकं मायातो न भिद्यते मायाकार्यत्वाद्, यत्तु भिद्यते न तन्मायाकार्यं, यथा पुरुषशिवौ । तथा न मायाकार्यं कालादि । तस्मान्न मायातो भिद्यते इति । एवं हेतुलक्षणो-क्त्या हेत्वाभासा निराकृताः । ते चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसित-कालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः पक्षधर्मत्वादिरूपाभावाद् भवन्ति । तत्रानिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः । यथा—शब्दो नित्यश्चाक्षुषत्वादि-त्यादि । पक्षविपक्षयोरेव वर्तमानो विरुद्धः । यथा—आकाशविशेषगुणः शब्दः प्रमेयत्वादित्यविद्यमानसपक्षः । क्षित्यादिकालान्तं नित्यं कार्यत्वा-दिति विद्यमानसपक्षः । पक्षत्रयवृत्तिरनैकान्तिकः । यथा–नित्यः शब्दः प्रमेयत्वादिति साध्यासाधकः । पक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसितः । तद्यथा—नित्या भूः गन्धवत्त्वादिति विद्यमानसपक्षः । सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यविद्यमानसपक्षः । प्रमाणबाधिते प्रतिज्ञातार्थे वर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टः । शुचि नरशिरःकपालं प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवदित्यागम-विरुद्धः । उलूको दिवा रूपं पश्यति, चक्षुष्मत्त्वादित्यनुमानविरुद्धम् । रूपदर्शनाविनाभाविचेष्टाभावेन ,रूपदर्शनाभावानुमानादिति । अनु-

ष्णोऽग्निः मथनजन्यत्वात् नवनीतवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। स्वपरपक्ष-सिद्धावभिरूपो हेतुः प्रकरणसमः। तद्यथा—अनित्यः शब्दः पक्षसपक्ष-योरन्यतरत्वाद् घटादिवदित्यस्य नित्यः शब्दः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वाद् मायावदित्यत्रापि त्रैरूप्यसद्भावादिति। सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदा-हरणम्। व्याप्तिग्रहणभूमिर्दृष्टान्तः। यद्यथा—यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान् यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्, अन्वयमुखेन दृष्टान्ता-भिधानत्वात् यस्त्वग्निमान्न भवति स धूमवानपि न भवति, यथा जल-मिति वैधर्म्योदाहरणम्, व्यतिरेकमुखेन दृटान्ताभिधानत्वात्। अनेनोदा-हरणाभासा व्युदस्ताः। तथा च नित्यं मनः मूर्तत्वाद्, यद् यद् मूर्त्तं तत्तन्नित्यं यथा घट इति साध्यविकलः, यथात्मेति साधनविकलः, यथा कर्मेत्युभयविकलः, यथा खपुष्पमित्याश्रयहीनः। यन्नित्यं न तन्मूर्तं यथात्मेति साध्याव्यावृत्तः, यथा घट इति साधनाव्यावृत्तः, यथा मायेत्युभयाव्यावृत्तः शिवतत्त्वाद् न्यूनतया मायाया मूर्तत्वम्। व्याप्तिस्तु स्वकार्यव्याप्ततयैवोच्यते। यथा खपुष्पमित्याश्रयहीनः, असौ महाराज्यं करिष्यति सोमवंशोद्भूतत्वाद् भविष्यद्राजपुत्रवदिति सन्दिग्धाश्रय इत्यादि। दृष्टान्ते प्रसिद्धव्याप्तिकस्य हेतोर्दृष्टान्तोपमानेन पक्षे व्याप्ति-व्यापकं वचनमुपनयः। तथा चायं धूमवानिति साधर्म्योपनयः। न च तथा धूमवानयं पर्वत इति वैधर्म्योपनयः। उपनयान्तरं सहेतुकं प्रतिज्ञा-वचनं निगमनं तस्मादग्निमानेवेति। तदुक्तं भगवता वेदव्यासेन—

"पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्।
उत्तरोत्तरवक्ता च ब्रुवतोऽपि बृहस्पतेः॥" इति।

अन्ये तु पक्षधर्मत्वसपक्षे सत्त्वविपक्षाद् व्यावृत्त्यात्मकरूपत्रयवानन्व-यव्यतिरेकी। पक्षादिलक्षणं च सन्दिग्धसाध्यः पक्षः। संदेहश्च विप्रति-पत्तेः। निश्चितसाध्यः सपक्षः। निश्चितसाध्यव्यतिरेकी विपक्ष इत्यतो-ऽन्यनुष्णतासाधकस्य कृतकत्वस्य विपक्षाद् व्यावृत्तिरूपाभावेनागमक-तया बाधितविषयत्वस्य विपक्षाद् व्यावृत्तावन्तर्भावः। स्वपरपक्षासिद्धा-वेकस्य त्रैरूप्यासंभवादसत्प्रतिपक्षत्वरूपाभावः। पक्षसपक्षयोरन्यतर-त्वस्य चैकस्यासंभवात्। तदुक्तम्—

"यच्चानुमेयसम्बन्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥
विपरीतमतो यत् स्यादेकेन द्वितयेन वा।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्॥"

एवं केवलान्वयी च रूपद्वयवान् विपक्षाद् व्यावृत्तिरूपाभावात् । व्यतिरेकी च तथा, सपक्षाभावेन सत्त्वरूपाभावादिति मन्यन्ते इति । शब्दजन्यं सम्यग्ज्ञानमागमः । स द्विविधः—पौरुषेयवाक्यजन्योऽपौरुषेयवाक्यजन्यश्चेति । तत्र तन्त्रेतिहासपुराणमन्वादिवाक्यानि पौरुषेयाणि । वेदवाक्यान्यपौरुषेयाणि इति । ननु वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वाद् भारतादिवाक्यवदित्यनुमानात् तेषां पौरुषेयत्वसिद्धिरिति चेत्, नैवम् ।

"तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप ! नित्यया ।"

इत्यागमेन वेदनित्यत्वसिद्धेरस्य कालात्ययापदिष्टतयाप्रामाण्यात् ।

"प्रलये समनुप्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
एकोऽहं संस्थितो देवि न द्वितीयोऽस्ति कुत्रचित् ॥
तस्मिन् वेदाश्च शस्त्राणि मन्त्रे पञ्चाक्षरे स्थिताः ।
ते नाशं नैव सम्प्राप्ता मच्छक्त्या ह्यनुपालिताः ॥"

इति लैङ्गागमविरोधाच्चेति । न च प्रत्युच्चारणं वेदस्योत्पत्तिनाशोपलम्भात् अनुपपन्नं तन्नित्यत्वमिति वाच्यम् । उच्चारणाया अभिव्यञ्जकत्वेन तदुभयाभावात् । तच्च स एवायं वेद इति स एवायं स्तम्भ इतिवत् प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षेण प्रागपीदानीमुपलभ्यमानस्य वेदस्य सत्त्वावगमाद् अवगम्यते । न च प्रलयावस्थायां वेदधारणसमर्थपुरुषाभावेन वेदस्य विनाशे पुनः सर्गादौ वेदानां परमेश्वररचितत्त्वेन अनित्यत्वमिति वाच्यम् । द्विजातीनां वेदधर्तॄणामभावेऽपि परमेश्वरस्य वेदधर्तुः सद्भावात् । तथाहि सर्गादावुत्पन्नस्य वेदस्य यावत्प्रलयमवस्थानं वैशेषिकादिभिर्वेदानित्यत्ववादिभिरभ्युपगम्यते । ततस्तत्र न विवादः । प्रलयकाले तु सद्भावः साध्यते । तथा हि—प्रलयकालो वेदवित्पुरुषसमन्वितः कालत्वादितरकालवदिति । न च भूभूधरादिसत्त्वमपि तेनैव न्यायेनानुमातुं शक्यत्वाद् अतिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । भूभूधरादिशून्यकालस्य प्रलयत्वेन तस्य तद्वत्तासाधने माता मे वन्ध्येतिवत् प्रतिज्ञाविरोधप्रसङ्गात् । एकब्रह्माण्डवर्तिसकलवैदिकपुरुषविनाशेऽपि ब्रह्माण्डान्तरवर्त्यनन्तवैदिकपुरुषसद्भावाच्च वेदनित्यत्वम् । ब्रह्माण्डान्तराण्यप्येतद्वेदवन्ति ब्रह्माण्डत्वात् सम्प्रतिपन्नवदिति सर्वत्र वेदैकत्वम् । वेदानित्यत्वपक्षेऽनन्तशाखाविततानन्तवेदजननाशतत्कारणकल्पनायां कल्पनागौरवप्रसङ्गः । नित्यत्वे तु सिद्धस्य वेदस्य नित्यत्वमात्रकल्पनाया

लाघवान्न कश्चिद् दोष इति। तथा वेदकर्तुरसम्भवाच्च न वेदपौरुषेयत्वम्। तथा हि—नेश्वरः कर्त्ता वेदस्य। पूर्ववेदपरित्यागे कारणाभावात्। न च पूर्वकल्पे वेदाभाव इति वाच्यम्। पूर्वकल्पे वेदसद्भावस्य अनुमानसिद्धत्वात्। तथा हि—पूर्वः सर्वोऽपि कल्पो वेदवैदिकयुक्तःकल्पत्वादिदानीन्तनकल्पवदिति। न चेदानीन्तनकल्पवदेव भावानामद्यतनानामपि कल्पान्तरे सद्भावानुमानादतिप्रसङ्ग इति वाच्यम्। प्रमाणाविरुद्धभावसद्भावस्येष्टत्वात्। तदुक्तं भगवता मनुना—

"यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये।
दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा ब्रह्महरादिषु॥" इति।

तस्मादपौरुषेयो वेदराशिरिति सिद्धम्। वेदाः प्रमाणम् अनाप्तकृतशब्दत्वात् सम्प्रतिपन्नवत्। विमतं वेदाध्ययनं तद्वेदाध्ययनपूर्वकं वेदाध्ययनत्वाद् इदानीन्तनवेदाध्ययनवदिति।

उपमोपमानम्। गोसदृशो गवय इति वाक्यं तज्जनितं वा विज्ञानं यद्युपमानं, तदागम एव न प्रमाणान्तरम्। योऽयमस्य गोसदृशस्य गवयशब्दो वाचक इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धविषयः प्रत्ययः, स चानुमानमेव। तथा हि—गोसदृशस्य अस्य गवयशब्दो वाचकः, तत्र वृद्धैः प्रयुज्यमानत्वात्। यो हि शब्दो यत्र वृद्धैः प्रयुज्यते, सोऽसति वृत्त्यन्तरे तस्य वाचकः। यथा गोशब्दो गोत्वे प्रयुज्यमानस्तस्य वाचकः। तथा प्रयुज्यते चायं गवयशब्दो गोसदृशे। तस्मात् तस्य वाचक इति ज्ञानमनुमानान्न भिद्यत इति। यश्च प्रत्यक्षे गवये गोसादृश्यप्रत्ययः, सोऽक्षसंयोगजत्वात् प्रत्यक्षान्तर्भूतः। तथैव प्रत्यक्षमेव स्मर्यमाणायां गवि गवयसादृश्यज्ञानम्। तस्यैकतया प्रत्यक्षगम्यत्वाविरोधात्। तथा हि—भूयोऽवयवसामान्ययोगो जात्यन्तरवर्ती जात्यन्तरे सादृश्यमुच्यते। तस्यैकतया गवये प्रत्यक्षगम्यस्य गोस्मरणानन्तरं गवि प्रत्यक्षत्वाविरोध इति पूर्ववन्निर्विकल्पकानुभूतत्वेन स्मर्यमाणं वा गवि गवयसादृश्यमिति नोपमानवेद्यं किञ्चिदस्तीति न प्रमाणान्तरमिति। एवं जीवतो देवदत्तस्य गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्य प्रमाणान्तरानवगतस्य परिकल्पनात्मिकार्थापत्तिरपि न प्रमाणान्तरम्, अनुमानत्वात्। सदेव यदेकत्र नास्ति, तदन्यत्रास्ति। सन्नेवाव्यापको यदेकत्रास्ति, तदन्यत्रास्ति स्वशरीर एव व्याप्तिग्रहणसंभवात्। तथा च देवदत्तो बहिर्देशसंबन्धी सत्त्वे सति गृहेऽविद्यमानत्वाद् बहिस्थवृक्षादिवदिति गृहाभावे लिङ्गेन बहिर्भावज्ञानम्

अनुमानमेवेति। न च सत्त्वमात्रावेदकगृहासत्त्वावेदकप्रमाणयोः ज्योतिःशास्त्रप्रत्यक्षयोः परस्परविरोधादेकं विषयव्यवस्थयाऽर्थापत्तिरिति वाच्यम्। अनवच्छिन्नावच्छिन्नयोः सत्त्वमात्रगृहासत्त्वयोर्विरोधाभावेनाविरोधापादनासंभवात्। न हि यत्र क्वचन सत्त्वस्य गृहासत्त्वेन विरोधः संभवति। भिन्नविषयत्वात्। न च निश्चितो गृहाभावः पाक्षिकतया सांशयिकेन गृहसत्त्वेन प्रतिक्षिप्यते, प्रबलत्वाद् असत्त्वस्य। न च देशसामान्येन पाक्षिकमस्य गृहसत्त्वं प्रतिक्षिपन् गृहाभावः सत्त्वमात्रं प्रतिक्षेप्तुं शांसयिकत्वं वा नेतुं शक्नोति। तस्य तत्रौदासीन्यादिति। सत्त्वमात्रगृहासत्वयोर्विरोधाभावादविरोधापादनम् नार्थापत्त्या क्रियत इति न सा प्रमाणान्तरम् इति। न च भावान्तरादन्योऽस्त्यभावः, यत्सिद्ध्यर्थमभावाख्यम् प्रमाणमाश्रीयेत। न हि भूतलपरिणामविशेषाद् कैवल्यलक्षणादन्यो घटाभावो नाम। प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेः परमेश्वरादिति स परिणामभेद इन्द्रियसिद्ध इति। अथवा भवतु भावान्तराद् व्यतिरिक्तोऽभावः, तथापि प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धत्वात् तत्सिद्ध्यर्थं न प्रमाणान्तरमभ्युपगन्तव्यम्। तथा हि—चक्षुर्विष्फारणान्वयव्यतिरेकानुविधानादिह भूतले घटो नास्तीत्यभावज्ञानस्यैन्द्रियकत्वम्।

तथा बहिःस्थत्वेन घटादीनां गृहासत्त्वं स्वशरीरवदनुमीयते। तथा भारतपुरुषाणामभावो भारतागमेनावगम्यते इति। तस्मान्नाभावाख्यं प्रमाणान्तरमस्तीति। सम्भवस्तु खार्या द्रोणाढकप्रस्थावगमः। स चानुमानं, खारीत्वस्य द्रोणादिव्याप्ततया तेन तदनुमान इति। यच्चानिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादमात्रमिति होचुर्वृद्धा इत्यैतिह्यं, यथेह वटे यक्षः प्रतिवसतीत्यादि, इदं न प्रमाणान्तरम् आप्तोक्त्यनिश्चयेन सांशयिकत्वात्। आप्तवक्तृनिश्चये त्वागम एवेति न प्रमाणान्तरमिति। चेष्टा चाभिनयः। स च समयबलेन परोक्षानुभवसाधनत्वादागम एवेति न प्रमाणान्तरमिति। एवं विरोधोऽपि ह्रदमध्येऽग्न्यभावज्ञानं तदनुमानमेव। जलाग्न्योः परस्परविरुद्धयोरेकत्रासम्भवेनेतरेतराभावव्याप्तत्वादिति त्रीण्येव प्रमाणानीति। तदुक्तम्—

"दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात्।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि॥
प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।

तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनं च।
सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रसिद्धिरनुमानात्।
तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्॥"
इति (सां० का० ४-६)

ऐहिकामुत्रिकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् न रागाभावः। तदैहिकामुत्रिकविषयाणामनित्यत्वसातिशयत्वादिदोषदर्शनादुपजायत इति। अविघातकरणम् ऐश्वर्यम्। तदष्टविधम्—

"अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
ईशित्वं च वशित्वं प्राप्तिः प्राकाम्यमेव च॥"

तत्राणुत्वम् अणिमा परमाणुवदवस्थानम्। महत्त्वं महिमा यावदिच्छंस्थूलीभावः। लघिमा लघुत्वम्, यतः सूर्यमरीचीन् आलम्ब्य सूर्यलोकं गच्छति। गुरुत्वं गरिमा अन्यैः अचाल्यत्वेनावस्थानम्। ईशित्वमीशभावः भूतभौतिकानां प्रभवादिहेतुत्वम्। वशित्वं वशीकरणभावः सर्वस्य स्वेच्छावशवर्तित्वम्। प्राप्तिः प्रापणं येनाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्। प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, भूमौ चोन्मज्जति निमज्जति यथोदक इति। सत्यसङ्कल्पते इत्यपरे। यथास्य सङ्कल्पो भवति, तथैव भूतानि भवन्तीति। अस्मदादीनां निश्चयाः पदार्थानुरूपाः, योगिनां तु निश्चयानुविधायिनः पदार्था इत्येतच्चतुष्कं समासतः सात्त्विकं, सत्त्वादुत्पन्नं रूपमिति। चत्वारस्तामसाश्च विपरीताः अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याभिधाना इति। तामसाः तमस उत्पन्नाः। अधर्मोऽनभ्युदयानिःश्रेयसहेतुः। अज्ञानं ज्ञानविपर्ययः, असम्यग्ज्ञानमिति यावत्। तत् त्रिविधं—विपर्ययो विकल्पो निद्रा चेति। विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठं शुक्तिकादौ रजतादिज्ञानम्। शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः। तद्यथा—शशविषाणादिशब्दश्रवणानन्तरं तदर्थविषयज्ञानमिति। जाग्रत्स्वप्नप्रत्ययाभावहेतुतमःप्रकर्षम् अवलम्ब्य या बुद्धिवृत्तिः उद्भवति, सा निद्रा। तदुक्तं पतञ्जलिना भगवता—"अभावप्रत्ययालम्बना निद्रा" इति सूत्रेण। अवैराग्यं दृष्टानुश्रविकविषयरागः। अणिमादिप्रादुर्भावविरोधी बुद्धिधर्मोऽनैश्वर्यमिति। अन्ये तु परमेश्वरतत्त्वावेदकं ज्ञानं तदन्यदज्ञानमिति ब्रुवते। एतदुक्तं सांख्यैः—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥

वैराग्यात् प्रकृतिलयः संसारो राजसाद् भवति रागात् ।
ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात् तद्विपर्यासः ।।" इति ।
(सां० का० ४४-५)

विषयाध्यवसायरूपिणीत्यनेन बुद्धेः सद्भावश्च प्रतिपादितः । तथा हि—विषयाध्यवसायादिवृत्तेः परिदृश्यमानायाः मूलभूतं वृत्तिमद्बुद्धितत्त्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा वृत्त्यभावप्रसङ्गादिति । तदुक्तं पारमेश्वरे—

"अथ बुद्धेर्विकासो यः स्वधर्मेणानुमीयते ।
क्षुब्धेभ्यः सहसा पूर्वं गुणेभ्यो भूतगोचरा ।।
बुद्धिरध्यवसायेन भावानां जननी शुभा ।
वर्ण्यतेऽष्टगुणोपेता संविभज्य यथाक्रमम् ।।"

इत्यादि । तस्या विभागमाह—सापि त्रिविधेति । सा बुद्धिस्त्रिप्रकारा । कुत इत्यत आह—गुणतः प्राक्तनकर्मानुसारेणेति । पुरुषस्य पूर्वजन्मनि कृतपुण्यापुण्यात्मक-कर्मानुसारेण गुणभेदादिति । तदुक्तम्—"बुद्धिः कर्मानुसारिणी" इति । तथा हि—पुण्येनैकेन सात्त्विकी बुद्धिरपुण्येन तामसी मिश्रेण राजसीति । तथा जाग्रत्-स्वप्नसुषुप्त्यात्मना च कर्मानुसारेण गुणभेदात्' त्रिविधा बुद्धिरिति वा । तथा हि—स्थूलकर्मनिमित्तं सात्त्विकी बुद्धिर्जागर्ति । सूक्ष्मकर्मवशाद् राजसी स्वप्नं गच्छति । जाग्रत्स्वप्नवृत्त्यभावहेतुभूततमःप्रकर्षम् अवलम्बमाना बुद्धिः सुषुप्तिमुपगच्छति । विश्वमार्थमात्मनः सर्वदैकस्वभावस्य सर्वगतस्य चिन्मात्रस्य जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिसाक्षिणो जाग्रदादित्रयाभावाद् बुद्धेर्विकारवतोऽवस्थात्रयवत्त्वमिति । तस्या वर्णमादित्योदयनिभम् । तदुक्तम्—

"अहङ्कारस्य बाह्योऽपि बुद्धितत्त्वं व्यवस्थितम् ।
आदित्योदयसंकाशं बोधयन्तमिवाखिलम् ।।" इति ।

तस्याः षडध्वव्याप्तिः, ठकारो वर्णः । तेजस्तेज इत्यादि द्वे पदे । तारहृदयपञ्चार्णमन्त्रः । बुद्ध्याख्यं तत्त्वम् । पैशाचाद्यष्टभुवनानि । विद्या कला ।। ३ ।।

वृत्तिः

अयं घट इत्याद्यध्यवसायात्मना कार्येण बुद्धिः सिद्धा । सापि पुंसः कार्यवशात् सत्त्वादिगुणबाहुल्येन सात्त्विकादिरूपा जायते । गुणानां सर्वत्र

व्यापारदर्शनात् । अस्याश्च बुद्धेर्धर्माद्यष्टगुणत्वं सिद्ध्यादिप्रत्ययभेदश्च श्रीमन्मतङ्गादाववधेयः ॥ ५२ ॥

स्यात् त्रिविधोऽहङ्कारो जीवनसंरम्भगर्वरूपोऽयम् ।
संभेदादस्य सतो विषयो व्यवहार्यतामेति ॥ ५३ ॥

बुद्धि से अहंकार उत्पन्न होता है । यह (प्राण आदि की प्रवृत्ति का हेतु होने से) जीवनात्मक, चेष्टात्मक तथा अभिमानात्मक तीन प्रकार का होता है । इसके सम्बन्ध होने पर ही विषय व्यवहार के योग्य होते हैं ॥ ५३ ॥ ४ ॥

तात्पर्यदीपिका

इदानीम् अहङ्कारतत्त्वं निरूपयति—स्याद् इति ।

बुद्धितत्त्वादहंकारात्मकं तत्त्वमुत्पद्यते । अहंकृतिरहङ्कारः । अहमित्येवंरूपव्यापारवानित्यर्थः । विभागमाह—त्रिविध इति । केन रूपेणेत्याशङ्क्याह—जीवनसंरम्भगर्वरूपोऽयमिति । जीवनाहङ्कारः संरम्भाहङ्कारो गर्वाहङ्कारश्चेति । तत्र जीवामीत्याकारो जीवनाहङ्कारः । अहं करोमीति संरम्भाहङ्कारः । प्रबलोऽस्मि रूपवानित्यादि गर्वाहङ्कारः । एतानि रूपाणि यस्य स तथोक्त इति प्रमाणमाह—संभेदादित्यादि । अहङ्कारसम्बन्धात् शब्दादिविषयो व्यवहार्यतामनुभवार्हतां यातीति । तथा हि—आत्मा तावन्निर्गुणो निष्क्रियश्चिन्मात्र उदासीनस्वभावः । तस्मादसौ न शृणोति, न पश्यति, न च करोतीत्ययमहङ्कारः श्रोत्रादिकृतश्रवणादिकं वागादिकृतवचनादिकं बुद्धिकृताध्यवसायादिकं चित्तकृतसंशयादिकं चाहं शृणोमीत्यादिभिरहं वच्मीत्यादिभिरहमध्यवस्यामि इत्यादिभिश्च वृत्तिभिः आत्मनि साक्षिणि सम्बध्नाति । तेनाहङ्काराख्यं तत्त्वमभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा देवदत्तकृतस्य यज्ञदत्त इव श्रोत्रादिकृतस्य श्रवणादेरात्मनि सम्बन्धाभावप्रसङ्ग इति । तदुक्तं शैवरहस्ये—

"संबन्धप्रतिभासो ज्ञातुर्ज्ञेयेन देशकालाभ्याम् ।
सुलभोऽभिमाननामा व्यापारोऽहंकृतेरस्याः ॥" इति ॥४॥

वृत्तिः

तस्याश्च—स्यादिति ।

आहंकारिको हि प्रयत्नात्मकः संरम्भः । यदुक्तम्—'संरम्भोऽहंकृतेर्वृत्तिः इति । किं च, प्राणादिवायुप्रवृत्तिहेतुत्वेन जीवनमपि तद्धेतुकमेव ।

तदुक्तम्—'संरम्भाद्यस्य चेष्टन्ते शारीराः पञ्चवायवः इति। तथा गर्वोऽपि। ग्राह्याध्यवसायाद् बुद्धिकार्याद् भिन्नोऽहमिति ग्राहकाध्यवसायोऽपि तत्कार्यमेव। अत एतैस्त्रिभिरहंकारसिद्धिः। ततश्चैतत्संबन्धादेव घटमहं जानामीति व्यवहारः। इत्याह संभेदादिति। स च बुद्धेरुत्पन्नः। यदुक्तम् सांख्यैरपि—महतोऽहंकार इति ॥ ५३ ॥

सात्त्विकराजसतामसभेदेन स जायते पुनस्त्रेधा।
स च [1]वैकारिकतैजसभूतादिकनामभिः समुच्छ्वसिति ॥५४॥

सात्त्विक, राजस और तामस भेद से वह (अहङ्कार) पुनः तीन प्रकार का हो जाता है, और वह (क्रमशः) वैकारिक, तैजस तथा भौतिक (या तामस) नामों से ख्यात होता है ॥ ५४ ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

तस्यैव प्रकारान्तरेण त्रैविध्यमाह—सात्त्विक इति।

सत्त्वरजस्तमोविकारतया सात्त्विकराजसतामसभेदवानहङ्कारस्त्रिविधो भवति। स पुनरहङ्कारो वैकारिकतैजसभूतादिकनामभिस्त्रिविधो भवतीति। सत्त्वोद्रिक्तः सात्त्विको वैकारिकाख्यः। रजोद्रिक्तस्तैजसः। केचिद् वैपरीत्यमिच्छन्ति, स च तैजसवैकारिकभूतादिकेति ग्रन्थपाठश्च इत्याहुः। तमोद्रिक्तः तामसः। स भूतादिनामेति गुणतो नामतश्च त्रैविध्यमहङ्कारस्य भवतीति ॥ ५ ॥

वृत्तिः

किञ्च—सात्त्विक इति।

सात्त्विकादीनामहङ्कारस्कन्धानां तैजसादीनि क्रमान्नामानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ५४ ॥

तैजसतस्तत्र मनो वैकारिकतो भवन्ति चाक्षाणि[2]।
भूतादेस्तन्मात्राण्येषां सर्गोऽ[3]यमेतस्मात् ॥ ५५ ॥

उनमें तैजस से मन, वैकारिक से इन्द्रियाँ तथा भूतादि से तन्मात्रायें उत्पन्न होती है। इस अहंकार से यही सृष्टि होती है ॥ ५५ ॥ ६ ॥

---

१. तैजसवैकारिक··· २. चाक्षीणि।
३. सर्गक्रमोऽयमेतस्माद्।

तात्पर्यदीपिका

कार्यमाह—तैजसतः इति ।

एतस्मादेव त्रिविधादहङ्कारादृ एषां ज्ञानकर्मेन्द्रियतन्मात्रमनसां षोडशानां सर्गः । किमात्मकान्मनस उत्पत्तिः, किंरूपादिन्द्रियाणां, कथंभूतात् तन्मात्राणामित्याशङ्क्य तेषामुत्पत्तिं विभागेनतैजसत इत्यादि । तैजसाख्यादहङ्कारात् राजसात् चलस्वभावं मन उत्पद्यते, वैकारिकात् सात्त्विकात् प्रकाशलाघवोपेतमिन्द्रियदशकम् । भूतादेस्तामसात् तमोबहुलानां तन्मात्राणामुद्भव इति । तैजसात् सात्त्विकात् स्वच्छं लघूत्पद्यते मन इत्यन्ये । सात्त्विकसहकृताद् वैकारिकाद् राजसाद् बुद्धीन्द्रियाणामुत्पत्तिः । ज्ञानसाधनत्वात् । तामससहकृताद् वैकारिकात् कर्मेन्द्रियाणामिति । सांख्याः सात्त्विकादेवाहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणां, तामसात् तन्मात्राणामुत्पत्तिं मन्यते । सत्त्वतमसोर्निष्क्रियतया स्वयमुत्पादनासामर्थ्यात् चलस्वभावेन रजसा प्रेरितयोः तयोः कारणत्वमित्युभयमपि रजसा निमित्तेनोत्पद्यत इति न तु तस्योपादानत्वं, तत् सत्त्वतमसोरेवेति ब्रुवते । तथा हि—

> "सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
> भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥" इति ।
>
> सां. का. २५ ।

एषां सर्गक्रमोऽयमेतस्मादित्यनेन पुनरुक्तेन पञ्चभूतेभ्यः पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणामुद्भवं तार्किकाद्यभिमतं निरस्यति । तथा हि—'घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्रेन्द्रियाणि भूतेभ्यः' इति न्यायसूत्रम् । 'भूतानां बाह्यैकैकेन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वेन्द्रियप्रकृतित्वे साधर्म्यमिति' प्रशस्तपादीयं वैशेषिकभाष्यं च पृथिव्यादिभ्य इन्द्रियाणां घ्राणादीनां शब्दादीनां च समुद्भवमभिधत्ते । मनश्च नित्यमिति तार्किकमीमांसका आहुः । तदेतदागमविरुद्धत्वादनुपपन्नम् । तथा हि—पारमेश्वरे तावत्—

> "सत्त्वधर्मस्त्रिधा तावदहंकारस्य सुव्रत ।
> वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चेति स त्रिधा ॥
> सत्त्वेनोत्कृष्टवीर्येण गर्वो वैकारिकः स्मृतः ।
> रजसा भूरिसंपृक्तस्तैजसः परिकीर्तितः ॥
> भूतादिस्तमसोत्कृष्टस्तेषां वक्ष्यामि वृत्तयः ।
> वैकारिकोऽक्षसेनायाः,कारणं योनिरुच्यते ॥

मिथुनाज्जायते गर्वान्मनश्चैवोभयात्मकम् ।
तस्माद् वैकारिकादेव गर्वात् कर्मेन्द्रियाण्यपि ।।
व्यक्तिमायान्ति संक्षोभात् सिसृक्षोः कारणात्मनः ।
भूतादेरप्यहङ्कारात् तन्मात्राणि भवन्ति हि ।" इत्यादि ।

शिवधर्मोत्तरे च—

"प्रधानादभवद् बुद्धिर्जगद्धेतुः शिवेच्छया ।
बुद्धेरपि च संक्षोभादहंङ्कारस्त्रिधाऽभवत् ।।" इति ।

अनुमानाच्च । तथा हि—विमतानीन्द्रियाणि भौतिकानि न भवन्ति इन्द्रियत्वान्मनोवदिति । अनित्यं मनः इन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिवत्, सर्वाणीन्द्रियाणि जन्यानि आत्ममूलकारणव्यतिरिक्तवस्तुत्वात् मूलकारणातिरेकिजडत्वात् सगुणत्वात् मूर्तत्वाद्वा घटादिवद् इत्याद्यनुमानाद् अभौतिकत्वकार्यत्वसिद्धौ इन्द्रियाणां कारणापेक्षायाम् आगमबलाद् अहङ्कारस्य कारणत्वमाश्रीयत इति । अत एव नाहङ्कारिकाणीन्द्रियाणि इन्द्रियत्वात् मनोवदिति अनुमानस्य कालात्ययापदिष्टत्वात् साध्यवैकल्यात् च अप्रामाण्यमिति । तथा पृथिव्यप्तेजोवायवो गन्धरसरूपस्पर्शोपादाना न भवन्ति भूतत्वाद् व्योमवद्, व्योम च न शब्दोपादानं भूतत्वात् पृथिवीवदिति, शब्दादीन्युपादानकारणवन्ति कार्यत्वात्, कार्याणि च मूलकारणातिरिक्तानि जडत्वाद् घटादिवद् इत्यनुमानाद् भूतव्यतिरिक्ततदुपादानाहङ्कारसद्भावसिद्धिः । तस्य वर्णं पावकनिभम् । तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये तु भवेत् तत्त्वमहङ्काराख्यमव्ययम् ।
दीप्तपावकसंकाशं भीमरूपं दुरासदम् ।।" इति ।

अस्य षडध्वव्याप्तिः, धकारो वर्णः । अरूपेत्यादि द्वे पदे । ईशानपञ्चाणौं मन्त्रौ । अहङ्काराख्यं तत्त्वम् । छगलण्डद्विरण्डौ ? भुवने । प्रतिष्ठा कला ।। ६ ।।

वृत्तिः

तत्र तेषु मध्यात्तैजसाऽहंकारान्मनोबुद्धीन्द्रियाणि जायन्ते । वैकारिकात् कर्मेन्द्रियाणि भूतादेरपि तन्मात्राणीत्यर्थः । न च तैजसतो मनएव वैकारिकादुभयरूपाणीन्द्रियाणीति व्याख्येयम् । मूलवचनविरोधाद् युक्तिविरोधाच्च । सत्वस्य प्रकाशरूपत्वेन बोधहेतुत्वं, रजसः क्रियाहेतुत्वं, रजसः क्रियाहेतुत्वं युक्तम् । उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रे—

'श्रोत्रत्वक्चक्षुषी जिह्वा नासा च मनसा सह ।
प्रकाशान्वयतः सत्त्वास्तैजसश्च स सात्त्विकः ।।
वाणी पाणी भगः पायुपादौ चेति रजोद्भवाः ।
कर्मान्वयाद्रजो भूयाद् गणो वैकारिको त्रयः ।। ५५ ।।

इच्छारूपं हि मनो व्यापारस्तस्य भवति सङ्कल्पः ।
बुध्यक्षाणि श्रोत्रं त्वग्दृग्जिह्वा च नासा च ।। ५६ ।।

मन इच्छात्मक है । उसकी क्रिया सङ्कल्प है । ज्ञानेन्द्रियाँ हैं---श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण ।। ५६ ।। ७ ।।

तात्पर्यदीपिका

अथ मनःपूर्वाणामिन्द्रियाणां स्वरूपमाह—इच्छा इति ।

इच्छारूपं प्रार्थनारूपं, मन इति । व्यापारः वृत्तिः तस्य मनसः सङ्कल्पः अनिर्धारितविशेषरूपः संशयरूप इति यावत् । अनेन लक्षणमुक्तम् । सद्भावश्च संशयात्मिकया वृत्त्या वृत्तिमतोऽनुमानादिति । तथा चक्षुरादिकरणसम्बन्धेष्टविषयेषु युगपज्ज्ञानानुत्पादनात् चक्षुरादिव्यतिरिक्तम् करणान्तरमस्तीत्यवगम्यते । यदि तन्न स्याद् युगपद् रूपादिज्ञानं जायेत । अतः करणान्तरमस्तीति तन्मन इति तत्सिद्धिः । तस्याणुकल्पत्वं त्वयुगपद् ज्ञानादेनावगम्यत इति विभुत्वानुमानं कौमारिलोक्तं धर्मिग्राहकप्रमाणविरुद्धत्वादप्रमाणमिति । बुद्ध्यक्षाणि बुद्धिवृत्तिसाधनानीन्द्रियाणि । कानि तानीत्यत आह-श्रोत्रं त्वग् दृग् जिह्वा च नासा चेति ।। ७ ।।

वृत्तिः

मनःसिद्धिमाह—इच्छेति ।

सङ्कल्पोऽवधानमेकाग्रता । तेन व्यापारेणेच्छारूपं मनः सिध्यतीत्यर्थः । अथ तथाऽभिप्रायः आत्मनो इन्द्रियार्थसन्निकर्षेऽपि अन्यपरस्य यदाधिष्ठानं विना बाह्येन्द्रियाणि न प्रवर्तन्ते तन्मन इति । बुद्धीन्द्रियाण्याह बुद्ध्यक्षाणीति ।। ५६ ।।

ग्राह्यास्तेषां शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्च ।
इत्येतेषां विषयाः क्रमेण पञ्चापि पञ्चानाम् ।। ५७ ।।

इन ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं (क्रमशः) शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध । इस प्रकार इन पाँचों के पाँच ग्राह्यविषय क्रमशः हैं ।। ५७ ।। ८ ।।

तात्पर्यदीपिका

तेषां विषयमाह—ग्राह्या इति ।

बुद्धीन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां पञ्चानामेते पञ्च शब्दादयो विषया यतो ग्राह्या अतस्ते विषयाः । तान् क्रमेण दर्शयति—शब्दः स्पर्शो रूपं रसश्च गन्धश्चेति ॥ ८ ॥

अथ एतान्ग्राह्यान् विषयानाह—

शब्दादीनां ग्रहणं व्यापारा[1]ः कीर्तिता[2]ः क्रमेणैषाम् ।
वाक्पाणिपादपायूपस्था[3]ः कर्मेन्द्रियाणि स्युः ॥ ५८ ॥

शब्द आदि का ग्रहण क्रमशः इनके कार्य कहे गये हैं । वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ ५८ ॥ ९ ॥

तात्पर्यदीपिका

बुद्धीन्द्रियाणां स्वरूपम् चाह—शब्द इति ।

शब्द आदिर्येषां ते शब्दादयः तेषां ग्रहणं तदाकारभजनम् एषामिन्द्रियाणां व्यापारः उक्तः, तत्त्वज्ञैरित्यर्थः क्रमादित्यन्यस्यान्यग्रहणं न संभवति । अनेन लक्षणमुक्तं प्रत्येकं श्रोत्रादीनामिति परीक्षापरं चेदं वाक्यम् । तथा हि—शब्दग्रहणं करणजन्यं क्रियात्वात् छिदिक्रियावदिति श्रोत्रसद्भावसिद्धिः । एवं स्पर्शरूपरसगन्धग्रहणकरणतया त्वगादीन्द्रियसिद्धिरवगन्तव्या तथा हि वर्णावर्णात्मना द्विविधशब्दग्रहणं श्रोत्रेण करणेन विना नोपपद्यते । बधिरस्य तद्ग्रहणादर्शनात् । एवं शीतोष्णमृदुकठिनद्रवतीक्ष्णादिस्पर्शग्रहणं च त्वगिन्द्रियेण विना न स्यात् । त्वग्दोषदूषितस्य तदनुपलम्भात् । तथा हि—श्वेतरक्तकृष्णपीतहरितधूम्रश्यामह्रस्वदीर्घादिभेदभिन्नरूपग्रहणं चक्षुःकरणं विना न संभवति । अन्धस्य तद्दर्शनासंभवात् । एवं मधुराम्लतिक्तलवणकटुकषायात्मना षड्विधरसग्रहणमपि तत्प्रवर्तकरसनकरणेन विना न स्यात् । जाड्योपप्लुतरसनेन्द्रियवतस्तदनवगमात् । तथा सुरभ्यसुरभ्यात्मना द्विविधगन्धग्रहणं च तत्करणनासिकाकरणं विना न संभवति । अघ्रातृत्वदूषितेन्द्रियस्य तदनुपलब्धेरिति ॥ ९ ॥

वृत्तिः

अतश्च शब्दादिग्रहणान्यथानुपपत्त्यैषां सिद्धिरित्याह । शब्दादि इति ।

१. व्यापारः । २. कीर्तितः । ३. वाक्पादपाणिपायूपस्थम् ।

न चैषां नियतविषयत्वाद् भौतिकत्वं युज्यते। भूतान्तराणां तद्-गुणानां कर्मसामान्यादेश्चक्षुरादीनां ग्रहणदर्शनात्। तदुक्तं सिद्धगुरुणा—

'भौतिकत्त्वाच्च नियमे कर्मसामान्ययोः स्फुटम्।

देवेभ्यो बुद्धयो न स्युः समवाये च देहिनाम्। इति।

तत्र देवनाद् द्योतनाद् देवा इतीन्द्रियाणि उच्यन्ते, कर्मेन्द्रियाण्याह—वाक् पादेति ॥ ५८ ॥

वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च कर्मैषाम्।
अन्तःकरणं त्रेधा[१] बुद्धिरहंकारश्चेतसी चेति ॥ ५९ ॥

उच्चारण, ग्रहण, गमन, त्याग और आनन्द इनके कार्य हैं। अन्तःकरण तीन प्रकार के हैं—बुद्धि, अहंकार और मन ॥ ५९ ॥ १० ॥

तात्पर्यदीपिका

कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानीति पञ्च भवन्ति। तेषां व्यापारमन्तःकरणानां विभागं चोत्तरश्लोकेनाह—वचनम् इति।

एषां कर्मसाधनतया कर्मेन्द्रियाणां वचनादीनि कर्माणि। परीक्षार्थं चेदं वाक्यम्। तथा हि–शब्दोच्चारणान्यथानुपपत्त्या तत्करणभूतवागि-न्द्रियसद्भावोऽवगम्यते। न च तदधिष्ठानं वागिन्द्रियमिति वाच्यम्। मूकस्यापि शब्दोच्चारणप्रसङ्गादिति। एतद् इन्द्रियान्तरेष्वप्यवगन्त-व्यम्। अन्यथा कौण्यपङ्गुत्वोदावर्तक्लैब्यात्मकेन्द्रियवतः आदानादि-प्रसङ्गात्। तदुक्तं सांख्यैः—

"बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।
मूकता कौण्यपङ्गुत्वं क्लैब्योदावर्तमन्दताः॥"[२] इति।

तस्मादधिष्ठानातिरिक्तानामतीन्द्रियाणाम् इन्द्रियस्य आत्मनश्चि-ह्नत्वेनेन्द्रियशब्दवाच्यानां सद्भावः सिद्ध इति। विमतानीन्द्रियाणि इन्द्रियत्वात् मनोवदिति च तेषाम् अतीन्द्रियत्वसिद्धिः इति। आभ्यन्तरं करणमन्तःकरणं त्रिविधं केन रूपेणेत्यत आह—बुद्धिरहंकारश्चेतसी चेति। बुद्धिरहङ्कारो मनश्चेति। अथवा अन्तःकरणमेकैकं त्रिविधं भूतभविष्यद्वर्तमानविषयभेदात्। तदुक्तं मातङ्गे—

---

१. त्रिविधं।

२. सां. का. ४९ की तत्त्वकौमुदी में उद्धृत।

"यदन्तःकरणं नाम त्रिकालविषयात्मकम्।
यतोऽवसीयते तस्मात् चिरकालानुसञ्चितम्॥
वर्तमानमतीतं च यच्चेष्टमनुमानतः॥" इति।

तथा सांख्यैश्च—(सां. का. ३३)

"साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्" इति॥ १०॥

वृत्तिः

अथ व्यापारैः कैरेषां सिद्धिरित्यत आह—वचनेति।

विहरणं गमनमुत्सर्गो मलापनयनं शेषं सुगमम्। अत एव कर्मेन्द्रियाणि येनेच्छन्ति ते प्रतिक्षिप्ताः। नाकरणा कृतिर्दृश्यते यतः। ननु एवं चेद् भ्रूक्षेपादीनामपि क्रियात्वादनन्तता कर्मेन्द्रियाणाम्। तन्न। त्वगिन्द्रियवत् सर्वशरीरव्यापकत्वेनैषामभ्युपगमाद् भ्रूक्षेपादिहस्तादेरेव व्यापार इत्यदोषः। तेषु चान्तःकरणबहिःकरणभेदमाह। अन्तःकरणमिति॥ ५६॥

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियभेदाद्[1] बाह्यं पुनर्भवेद्दशधा[2]।
तन्मात्रेभ्यः खपवनतेजोऽम्भःक्ष्मेति पञ्चभूतानि॥ ६०॥

बाह्यकरण कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के भेद से पुनः दस प्रकार के हैं। तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी ये पाँचभूत उत्पन्न होते हैं॥ ६०॥ ११॥

तात्पर्यदीपिका

बाह्यकरणभेदं तन्मात्रवृत्तिं चाह—बुद्धिः इति।

बाह्यं करणं दशविधम्—पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि पञ्चकर्मेन्द्रियाणि इति। अथवा अन्तःकरणं बुद्ध्यहंकारमनोरूपम्। कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियात्मकं बाह्यं च कार्यभेदात् त्रिविधं च। अन्तःकरणस्य प्राणादिवृत्त्या शरीरधारणलक्षणं, बुद्धीन्द्रियाणां प्रकाशः, कर्मेन्द्रियाणामाहरणमिति। तदुक्तं—

"करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।" इति :
(सां. का. ३२)

मनःपूर्वाणामिन्द्रियाणां षडध्वव्याप्तिः क्रमेण उच्यते—उकारो वर्णः। आधूमेत्यादि द्वे पदे। तत्पुरुषपञ्चाणौ मन्त्रौ। मनस्तत्त्वम्।

१. बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रिय। २. पुनर्दशधा।

माकोटाख्यं भुवनम् । निवृत्तिः कला । नकारो वर्णः । शर्वमहेश्वरौ पदे । कवचपञ्चार्णौ मन्त्रौ । श्रोत्राख्यं तत्त्वम् । मण्डलेश्वरं भुवनम् । शान्त्यतीता कला । पकारो वर्णः । महादेवेत्यादि द्वे पदे । शिखापञ्चार्णौ मन्त्रौ । त्वगात्मकं तत्त्वम् । कालञ्जरं भुवनम् । शान्तिः कला । ढकारो वर्णः । महातेजादि द्वे पदे । शिरःपञ्चार्णौ मन्त्रौ । चक्षुराख्यं तत्त्वम् । शङ्कुकर्णं भुवनम् । विद्या कला । बकारो वर्णः । मुञ्च मुञ्चेत्यादि द्वे पदे । हृदयपञ्चार्णौ मन्त्रौ । वागात्मकं तत्त्वम् । मण्डलेश्वरं भुवनम् । शान्त्यतीता कला । यकारो वर्णः सर्वसान्निध्यकरणेत्यादि द्वे पदे । अघोरपञ्चार्णौ मन्त्रौ । पाण्यात्मकं तत्त्वम् । कालञ्जरं भुवनम् । शान्तिः कला । र इति वर्णः । अनर्चितेत्यादि द्वे पदे । वामदेवपञ्चार्णौ मन्त्रौ । पादात्मकं तत्त्वम् । शङ्कुकर्णं भुवनम् । विद्या कला । लकारो वर्णः । पूर्वस्थितेत्यादि द्वे पदे । सद्योजातपञ्चार्णौ मन्त्रौ । पाय्वात्मकं तत्त्वम् । स्थूलेशं भुवनम् । प्रतिष्ठा कला । वकारो वर्णः । तुरु तुर्वित्यादि द्वे पदे । अस्त्रपञ्चार्णौ मन्त्रौ । उपस्थात्मकं तत्त्वम् । स्थलेश्वरं भुवनम् । निवृत्तिः कला ॥ ११ ॥

वृत्तिः

अथ तन्मात्राणां भूतकारणतयैव सिद्धिरित्याह । तन्मात्रेति । खं च पवनश्च तेजश्च खपवनतेजः । शेषं सुगमम् ॥ ६० ॥

तन्मात्राण्यविशेषाः शब्दादीनां प्रकीर्तिताः पञ्च ।
भूतानि पञ्च तेभ्यो भवन्ति तान्येकगुणवृद्ध्या ॥ ६१ ॥

शब्द आदि (पाँचों) के अविशेष रूप (अनभिव्यक्त सूक्ष्मरूप) ही पञ्चतन्मात्र हैं । उनसे (क्रमशः) पाँच भूत उत्पन्न होते हैं, जो क्रमशः एक-एक अधिक गुण से युक्त हुआ करते हैं ॥ ६१ ॥ १२ ॥

तात्पर्यदीपिका

तन्मात्रेभ्य इत्यत्र कानि तन्मात्राणि, तेभ्यः कथं भूतानामुत्पादः इत्यत आह—तन्मात्राणि इति ।

अविशेषाः सूक्ष्माः शब्दादयः पञ्चतन्मात्राणि इत्युच्यन्ते । मात्रशब्देन भूतसंश्लेषो भूतभावेन परिणामो वा व्युदस्तः । केवलाः शब्दादयः सूक्ष्मत्वेनावस्थिताः तन्मात्राणीत्यर्थः । तेभ्यः तन्मात्रेभ्यः पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि एकैकगुणवृद्ध्या भवन्तीति । तथा हि—शब्दतन्मात्रात्

शब्दैकगुणमाकाशमुत्पद्यते । शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्द-स्पर्शगुणो वायुः । उक्ततन्मात्रद्वयसहिताद् रूपतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूप-गुणं तेजः । उक्ततन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्रात् चतुर्गुणा आपः । शब्द-स्पर्शरूपरसतन्मात्रसहिताद् गन्धतन्मात्रोपादानकारणात् शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धात्मकपञ्चगुणा पृथिवी समुत्पद्यत इति । अपरे केवलेभ्यः तन्मात्रेभ्यः केवलानि भूतानीत्याहुः । अन्ये तु शब्दतन्मात्राद् आकाश-स्पर्शतन्मात्रावुत्पद्येते । स्पर्शतन्मात्राद् वायुरूपतन्मात्रौ । रूपतन्मात्रात् तेजोरसतन्मात्रौ । रसतन्मात्रात् जलगन्धतन्मात्रौ । गन्धतन्मात्रात् केवला पृथिवी इति । तदुक्तम्—

"तामसतो भूतादेरहंकृतेर्भवति शब्दतन्मात्रम् ।
तस्मादपि तन्मात्रादाकाशः स्पर्शतन्मात्रः ॥
रूपरसगन्धमात्रं पवनाद्यैः सह यथोत्तरं भवति ।
पूर्वस्मात् तन्मात्रात् केवलतो गन्धतः पृथिवी ॥" इति ।

परे शब्दतन्मात्रादाकाशः, तद्द्वयसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः । तत्त्रयसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः, तच्चतुष्कसहिताद् रसतन्मात्रादापः, तत्पञ्चकसहिताद् गन्धतन्मात्रात् पृथिवीत्याहुः । अपरे शब्दतन्मात्रा-दाकाशः तस्मात् स्पर्शतन्मात्रं, तस्माद् वायुः, तस्माद् रूपतन्मात्रं तस्मात् तेजः, तस्माद् रसतन्मात्रं, तस्मादापः, ताभ्यो गन्धतन्मात्रम्, तस्मात् पृथिवीति ब्रुवत इति । तन्मात्राणां षडध्वव्याप्तिः—णकारो वर्णः । अनादेत्यादि द्वे पदे । अघोरपञ्चाणौं मन्त्रौ । शब्दतन्मात्रं तत्त्वम् । मण्डलेश्वरं भुवनम् । शान्त्यतीता कला । तकारो वर्णः । धूत्रयादि द्वे पदे । वामदेवपञ्चाणौं मन्त्रौ । स्पर्शतन्मात्रं तत्त्वम् । कालञ्जरं भुवनम् । शान्त्यतीता कला । थकारो वर्णः । ओं भुव इत्यादि द्वे पदे । सद्योजातपञ्चाणौं मन्त्रौ । रूपतन्मात्रं तत्त्वम् । शङ्कुकर्णं भुवनम् । विद्या कला । दकारो वर्णः । अनिधनादि द्वे पदे । अस्त्रपञ्चाणौं मन्त्रौ । रसतन्मात्रं तत्त्वम् । स्थूलेशं भुवनम् । प्रतिष्ठा कला । धकारो वर्णः । निधनोद्भवेति पदम् । नेत्रपञ्चाणौं मन्त्रौ । गन्धतन्मात्रं तत्त्वम् । स्थलेश्वरं भुवनम् । निवृत्तिः कलेति ॥ १२ ॥

वृत्तिः

कानि पुनस्तन्मात्राणि इत्यत आह—तन्मात्राणीति ।
शब्दस्पर्शादीनां पञ्चानामविशेषाः अनभिव्यक्तविशेषाणि सूक्ष्म-

रूपाणि पञ्चतन्मात्राणीत्युच्यन्ते यदुक्तम्—गुणाविशिष्टास्तन्मात्रपदयोजिताः इति। ततश्च सूक्ष्मेभ्यः कारणरूपेभ्यः पञ्चभूतानि अस्मदादिबाह्येन्द्रियपरिच्छेद्यगुणत्वात् स्थूलानि जातानीत्याह। भूतानीति। तानि चाकाशादीनि शब्दाद्येकोत्तरगुणानि भवन्ति। शब्दैकगुणमाकाशम्। शब्दस्पर्शगुणो वायुः। शब्दस्पर्शरूपगुणोऽग्निः। शब्दस्पर्शरूपरसगुणमम्भः। शब्दादिगन्धान्तपञ्चका पृथिवी इति। यच्छ्रूयते—शब्दाद्येकोत्तरगुणमवकाशादिवृत्तिमदित्यादि। ननु वैशेषिकादिभिराकाशविशेषगुणः शब्द इष्यते। तन्न। आश्रयादन्यत्राप्युपलब्धेः। यदुक्तमस्य हेतोः प्रत्यक्षागमविरुद्धत्वेन कालात्ययापदिष्टत्वात् इति। तथा ह्याकाशे तावत्प्रतिशब्दः श्रूयते वायोः सकसकादिः। अग्नेर्धमधमादिः। चलचलादिकमम्भसि। कटकटादिः पृथिव्यामिति। उक्तं च श्रीमन्मृगेन्द्रे।

इति पञ्चसु शब्दोऽयं स्पर्शो भूतचतुष्टये।
अशीतोष्णौ महीवाय्वोः शीतोष्णौ वारितेजसोः।
भास्वदग्नौ जले शुक्लं क्षितौ शुक्लाद्यनेकधा।
रूपं त्रिषु रसोऽम्भः सुमधुरः षड्विधः क्षितौ।
गन्धं क्षितावसुरभिः सुरभिश्च मतो बुधैः॥ इति॥६१॥

अवकाशव्यूहनपाकसंग्रहधारणं क्रमादेषाम्।
व्यापारा[2] भूतानां व्योमादीनां समुद्दिष्टा[3]ः॥ ६२॥

इन आकाशादि पञ्च भूतों का व्यापार क्रमशः स्थानप्रदान, अनेकप्रकार से धारण अथवा एकत्रीकरण, पकाना, संयोजन तथा धारण हैं॥ ६२॥ १३॥

तात्पर्यदीपिका

अथ पञ्चभूतानाम् व्यापारमाह—अवकाश इति।

अवकाशः स्थानप्रदानं व्योम्नो व्यापारः, भेदकारणत्वात्। व्यूहनं विविधवहनं वायोर्व्यापारः पुञ्जीकरणं वा। पाचनं परिपाककरणं तेजसो व्यापारः। संग्रहः संश्लेषणमपां व्यापारः, क्लेदनं वा। धारणं सम्भरणं पृथिव्या व्यापार इति। तदुक्तम्—

---

१. पाचन। २. व्यापारो। ३. समुद्दिष्टः।

"व्योम्नोऽवकाशदानं व्यूहो वायोर्हविर्भुजः पाकः ।
संग्रहणमपां धारणमुर्व्याः सर्वात्मना वृत्तिः ॥"

आकाशमत्र परमं भूतं, तच्छब्दगुणं, शब्दतन्मात्राद् उत्पन्नत्वात् । यथा मृदुत्पन्नो घटो मृद्गुणः, कार्पासादुत्पन्नः तन्तुः कार्पासगुणः, एवं शब्दादुत्पन्न आकाशः शब्दगुण इति । तदिदं भूतम् अवश्याश्रयणीयम् । अन्यथा मूर्तवस्तुनो गमनागमनवृद्धिसंरोहणव्यायामादिसर्वव्यापाराभावप्रसङ्गादिति । तदुक्तं पारमेश्वरे—

"आकाशं शब्दतन्मात्रादवकाशकलक्षणम् ।
व्यक्तं व्यक्तिकरं विप्र! पृथक् संस्थानसिद्धये ॥" इति ।

तदेकममूर्तं घटकुम्भमठकूपाद्युपाधिभेदाद् अनेकभेदभिन्नम् । तस्य वर्णमनिर्देश्यं शुद्धस्फटिकसन्निभमिति । अपरे चन्द्रमण्डलाकारं मण्डलमिति । तदुक्तम्—

"तद्बाह्ये तु भवेद् व्योम भूतत्त्वे संव्यवस्थितम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं मोक्षस्थानमिवापरम् ॥" इति ।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—शकारो वर्णः । पिङ्गापिङ्गेत्यादि द्वे पदे । नेत्रपञ्चार्णौ मन्त्रौ । आकाशात्मकं तत्त्वम् । वस्त्रापदाद्यष्टौ भुवनानि । शान्त्यतीता कला । नीरूपस्पर्शवान् वायुः । स शब्दस्पर्शगुणः । 'आकाशाद् वायु'रित्यागमबलात् परमाणोरुत्पत्तिर्बाधिता । स त्रिविधः शरीरं प्राणो विषयश्चेति । यातनादेः शरीरस्य वायवीयत्वं तदाधिक्याद् न तावन्मात्रत्वात् । प्राणः शरीरस्थोऽन्तःकरणसामान्यवृत्तिरूपः । तदुक्तम्—

"स्वालक्षण्या वृत्तिस्त्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या ।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्याः वायवः पञ्च ॥" इति ।
सां० का० २९

इतरो विषयवायुः । तदुक्तं मातङ्गे—

'येनाविष्टं जगत् कृत्स्नं स्फुरते बुद्धिमेति च ।
यत्र बद्धा विमानानां कोटयोऽष्टौ च विंशतिः ॥
भ्रमन्ति चक्रवत् सोऽयं वायुः प्राणभृतां वरः ।" इति ।
"अस्याञ्जननिभं वर्णं वृत्तं षड्बिन्दुमण्डलम् ।"

तदुक्तम्—

'तद्बाह्ये वायुतत्त्वं तु भिन्नाञ्जनसमप्रभम्।
घर्घरारावमुखरं महाबलजनाकुलम् ॥" इति।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—षकारो वर्णः। शब्दशब्देत्यादि द्वे पदे। कवचपञ्चार्णौ मन्त्रौ। वाय्वात्मकं तत्त्वम्। गयाद्यष्टौ भुवनानि। शान्तिः कला। भास्वररूपं तेजः। तद् द्विविधम् आभ्यन्तरं बाह्यं चेति' शरीरान्तर्वर्तिमुक्ताहारपाकसाधनम् आभ्यन्तरम्, इतरद् बाह्यम्। तच्च द्विविधं शरीरं विषय इति। देवर्षीणां देहस्तैजसः।

"तैजसानि शरीराणि भवन्त्यद्भुतकर्मणाम्।" इति

वचनात्। इतरत् सूर्यसोमवह्निविद्युदादि। तस्य वर्णं विद्युन्निभम्। तदुक्तम्—

"तेजस्तत्त्वं तु तद्बाह्ये विद्युत्कोटिसमप्रभम्।
मेघस्तनितनिर्घोषं तेजोरूपं जनाकुलम्।"

मण्डलं स्वस्तिकलाञ्छितं त्रिकोणम्। अस्य षडध्वव्याप्तिः—शिवशर्वेति पदम्। शिखापञ्चार्णौ मन्त्रौ। तैजसं तत्त्वम्। श्रीशैलाद्यष्टौ भुवनानि। विद्या कला। स्वतोद्रवा आपः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः। तत्र स्वकीयो रसगुणः। त्रयोऽन्ये सङ्करजाः। तदुक्तं पारमेश्वरे—

"रसः स्वाख्योऽत्र बोद्धव्यस्त्रयोऽन्ये संकरोद्भवाः।" इति।

तद् द्विविधं शरीरं विषय इति। शरीरं वरुणलोकस्थानं विषयभूतमितरद्, भोग्यत्वात्। स्फटिकवर्णं चैतत्। तदुक्तं चन्द्रज्ञाने—

"पृथिवीतत्त्वमाक्रम्य जलं दशगुणं बहिः।
ब्रह्माण्डाधारभूतं तु शुद्धस्फटिकसन्निभम् ॥" इति।

अस्य षडध्वव्याप्तिः—हकारो वर्णः। सर्वदादि द्वे पदे। शिरःपञ्चार्णौ मन्त्रौ। अबात्मकं तत्त्वम्। अमरेशाद्यष्टौ भुवनानि। प्रतिष्ठा कला। गन्धवती पृथिवी, पञ्चगुणा च। तदुक्तं पारमेश्वरे—

"संक्षुब्धाद् गन्धतन्मात्राद् गुणैः पञ्चभिरन्विता।
स्वाख्योऽस्या गन्ध एवोक्तश्चत्वारोऽन्येऽनुषङ्गजाः ॥
सारं तावत् पराकाष्ठां नखदन्तास्थिजातयः ॥

सा चेयं शरीरं विषय इति द्विविधा। शरीरं च स्थावरजङ्गमात्मना द्विविधम्। स्थावरं तृणादिवृक्षान्तम्। जङ्गमं चतुर्विधं जरायु-

जमण्डजं स्वेदजमयोनिजं चेति । मनुष्यपशुमृगाणां जरायुजम् । पक्षिसरीसृपाणामण्डजम् । यूकमत्कुणपतङ्गादीनां स्वेदजम् । भुवनेशदेवर्षीणाम् अयोनिजं चेति । ब्रह्माण्डतदन्तर्वर्तिसप्तद्वीपपातालाष्टाविंशतिकोटिनरकतावत्संख्यविमानादयः पुराणशतेतिहाससिद्धा विषयाः, भोग्यत्वादिति । अण्डात्मकं क्षितितत्त्वं शतकोटियोजनविस्तृतम् । तदुक्तं शैवरहस्ये—

"पार्थिवमन्तिमतत्त्वं ब्रह्माण्डात्मकमखण्डमपि तावत् ।
विस्तारायामाभ्यामुक्तं शतकोटियोजनम् ॥"

इति । मतङ्गपारमेश्वरे च—

"एवं कोटिशतं पूर्णं पार्थिवं तत्त्वमत्र तु ।
अस्माद् दशगुणं तोयं तोयादग्निस्ततोऽनिलः ॥
वायोः खं खादहङ्कारस्तस्माच्च परतो महान् ।
महतः परतो ज्ञेयं गुणानां त्रितयं मुने !
गुणत्रयात् प्रधानाख्यं तत्त्वं दशगुणोत्तरम् ।
शतोत्तरगुणानि स्युर्मायान्तान्यपि रागतः ॥
सहस्रवृद्धं विद्याख्यं लक्षमैशं ततस्ततः ।
कोट्या विवर्धितं भूयः शिवतत्त्वं प्रकीर्तितम् ॥
अनन्तरमनन्तं स्यादप्रमेयं च शाश्वतम् ।" इति ।

एतत् क्षितितत्त्वं स्वर्णनिभम् । तदुक्तं चन्द्रज्ञाने—

"सौवर्णं पृथिवीतत्त्वं सूर्यकोटिसमप्रभम् ।
कुक्कुटाण्डनिभं चैतद् ब्रह्माण्डं परिकीर्तितम् ॥" इति ।

चतुरस्रं वज्रलाञ्छितं चन्द्रमण्डलम् ।

"ब्रह्माद्या देवता ज्ञेयाः क्ष्मादीनां पञ्च वै क्रमात् ।
शिवादिपृथिव्यन्तेषु तत्त्वेषु सकलेष्वपि ॥
भुवनानि चतुर्विंशत्यधिकं तु शतद्वयम् ।"

अस्याः षडध्वव्याप्तिः—क्षकारो वर्णः । शिवायों नमो नम इति पदम् । हृदयपञ्चार्णौ मन्त्रौ । पार्थिवं तत्त्वम् । कालाग्न्यादिभद्रकाल्यन्तान्यष्टोत्तरशतभुवनानि । निवृत्तिः कला इति ॥ १३ ॥

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां शुद्धाशुद्धविनिर्णयः
चतुर्थः परिच्छेदः

वृत्तिः

अथैषां व्यापारमाह—अवकाशेति ।

अवकाशदानमाकाशस्य व्यापारः । व्यूहनमवयवघटनं वायोः । पाकोऽग्नेः संग्रहोऽवष्टम्भोऽम्भसः । धारणं भूमेः इति । अत्र चाकाशस्य अवकाशमात्रादन्यत्वमनित्यत्वं च अस्माभिर्मृगेन्द्रवृत्तिदीपिकायां विस्तरेण दर्शितम् । इति ततोऽवधार्यम् ।। ६२ ।।

कार्यमिदं दशधा यत् तत्करणैः कार्यते समाविश्य ।
करणान्यसमर्थत्वात्कार्यं संश्रित्य चेष्टन्ते ॥६३॥

ये जो दस प्रकार के (सूक्ष्मतन्मात्र तथा स्थूलभूत) कार्य हैं, उनमें समाविष्ट होकर (अर्थात् उनका आश्रय लेकर) इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। स्वयं समर्थ न होने के कारण इन्द्रियाँ कार्यों का आश्रय लेकर ही व्यापार करती हैं ।। ६३ ।। १ ।।

तात्पर्यदीपिका

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

अथैवं गुणसाम्यात्मकात् प्रधानादुत्पन्नानि त्रयोविंशतितत्त्वानि कार्यकारणात्मना द्विविधानि । तत्र तन्मात्रापञ्चकभूतपञ्चकात्मना दशविधं कार्यम् । बाह्याभ्यन्तरभेदेन त्रयोदशविधं कारणम् । तयोर्विनियोगं दर्शयति—कार्यम् इति ।

अयमभिप्रायः—दशविधं यत् कार्यं तत् करणैः कार्यते स्वीक्रियते गृह्यते इति यावत् । कार्यं शरीरं सूक्ष्मस्थूलात्मना दशविधम् । समाविश्य संश्रित्य । आश्रयं विना तेषां चेष्टितुमशक्यत्वादित्यर्थः । अथवा कार्यं विषयम् । दशविधमिदम् । तत् करणैः विषयीक्रियते । समाविश्य सम्बध्येति ।। १ ।।

वृत्तिः

अथैषां दशानां कार्यत्वमिन्द्रियाधारत्वं चाह—कार्यमिति ।

कार्यात्मकमेतत् तन्मात्रभूतात्मकं तत्त्वदशकं करणैराविश्य चेष्टां कार्यते । तानि चाविभुत्वात् कार्यमधिष्ठायैव चेष्टन्ते । इति तत्त्वसंग्रहेऽप्युक्तम् । एतत्कार्यं दशधाकरणैराविश्य कार्यते चेष्टाम् । अविभुत्वात् कारणानि तु कार्यमधिष्ठाय चेष्टन्ते इति । ननु भूतान्येवोभयवादिसि-

द्धानि इन्द्रियाधाराणि भवन्तु किमन्तर्गडुना निरर्थकेन तन्मात्रपञ्चकेन, तदयुक्तम् । स्थूलसूक्ष्मतया तानि इन्द्रियाधाराणि स्थितानीति श्रूयन्ते । यदुक्तम् श्रीमन्मृगेन्द्रे—'तन्मात्राणीह घटवन्महाभूतानि लेपवत्' इति ।। ६३ ।।

पञ्चानामाद्यानां चिद्रूपतयान्वयः परेषां तु ।
मायाद्यानां द्वेधा सप्तानां कीर्तितः शैवे ।। ६४ ।।
अव्यक्तप्रभृतीनां गुणैश्च सुखदुःखमोहरूपतया ।
अन्वय इह निखिलानां दशके ह्यन्ते विशेषोऽयम् ।।६५।।

शैवशास्त्र में प्रथम पाँच (शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धाविद्या) चिद्रूप से युक्त कहे गये है, इनके अतिरिक्त माया आदि सातों का (चिद-चिद्रूप) द्विविध अन्वय है ।। ६४ ।। २ ।।

अव्यक्त आदि सभी शेष तत्त्वों का गुणों के साथ सुख, दुःख और मोह रूपों में सम्बन्ध है । अन्तिम दस (पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत) में यह (आगे कही जाने वाली) विशेषता है । ।। ६५ ।। ३ ।।

तात्पर्यदीपिका

तदेवं षट्त्रिंशत्तत्त्वानां स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं शुद्धानीत्यादिना सूचितं शुद्धत्वं शुद्धाशुद्धत्वम् अशुद्धत्वं च प्रतिपादयितुं तद्धेतुमाह— पञ्चानाम् इति ।

अयमभिप्रायः-एकजातिसमावेशोऽन्वयः समानरूपत्वम् ऐकात्म्य-मिति यावत् । तत्र पञ्चानाम् आद्यानां शिवशक्तिसदाशिवेश्वरविद्या-तत्त्वानां चिद्रूपतयाऽन्वयः । तेन कारणेन तेषां शुद्धत्वं, ज्ञानरूपस्य अज्ञानमलसम्बन्धासंभवात् । मायाकालनियतिकलाविद्यारागपुरुषाणां सप्तानां द्वेधा चिदचिद्रूपतयाऽन्वयः । चिदनुविद्धाचिद्रूपत्वाद् मायादीनां पुरुषव्यतिरिक्तानां द्वेधा समन्वयः । पुरुषस्य चित्स्वभावस्योपाधिकृता-चिद्रूपत्वादिति । यथा जपासन्निधानात् स्वतः शुद्धस्य स्फटिकस्य रागः, तथा पुरुषस्य अप्युपाधिधर्माध्यारोपाद् अचिद्रूपत्वमिति । तेन सप्तानां मायादीनां शुद्धाशुद्धत्वमिति । अव्यक्तादीनां बाह्यतया चित्सम्बन्धरहि-तानां सुखदुःखमोहरूपत्वेन गुणैरन्वयः । तेन तेषां केवलाशुद्धत्व-मिति ।। २–३ ।।

१. स्तु ।

वृत्तिः

इत्थं तत्त्वलक्षणमुक्त्वा केषु केषाङ्कथमन्वय इत्यत आह। पञ्चाना-मिति—

इयं गौः इयं गौरित्याद्यनुवृत्तिप्रत्ययहेतुरन्वयः। स चास्मिन् शैवे शास्त्रे व्यक्तिव्यतिरिक्तजात्यनभ्युपगमेऽपि कथं चित्सादृश्यमात्रेणोच्यते। ततश्चाद्यानां शुद्धानां पञ्चानां तत्त्वानां सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वोपोद्वलनहेतु-त्वात् चिद्रूपतया। चिदुपकारितयाऽन्वयः। न तु तेषां चैतन्याभ्युपगमो युक्तः। अचेतनत्वस्य प्रागेव साधितत्वात्। परेषां तु अशुद्धानां माया-द्यानां पुंस्त्वान्तानां किञ्चिज्ज्ञत्वाद्युपोद्वलनहेतुत्वाच्चिदुपकारितया सूक्ष्मदेहद्वारेण गुणसम्बन्धात् सुखदुःखमोहजनकतया च द्विविधश्चिदचि-दन्वयः॥ ६४॥

अव्यक्तेति—

प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तानां गुणसम्बन्धात् सुखदुःखमोहरूपतयाऽन्वयः। दशके ह्यन्तेति॥ ६५॥

शब्दादि[1]कगुणसाम्ये तुल्यत्वेना[2]न्वयोऽत्र विज्ञेयः।
अङ्गाङ्गिभावविहितो भवति विशेषस्तु केषांचित्॥६६॥

(तन्मात्र तथा पंचभूतों में) शब्दादि गुणों की समानता होने पर इनका अन्वय यहाँ समान रूप से समझना चाहिये, किन्तु कुछ का तो अङ्गाङ्गिभाव-कार्यकारण आदि भावविशेष-अन्वय होता है॥ ६६॥ ४॥

तात्पर्यदीपिका

अन्ते दशके भूततन्मात्रात्मके वक्ष्यमाणो यो विशेषः स किंलक्षण इत्यत आह—शब्दादेरिति।

शब्दादीनां सगुणत्वसाम्ये सत्यप्यसमतया सम्बन्धो वेदितव्यः। अङ्गाङ्गिभावः कार्यकारणाभावः, तेन विहितः प्रतिपन्नो भावसर्गाख्यो विशेषः केषांचित् कार्यरूपाणां कालाद्यवन्यन्तानां विज्ञेय इति। कार्याणां स्वसाधारणकारणेषु सत्त्वं भावसर्गः। तदुक्तं शैवरहस्ये—

"प्रातिस्विकेषु हेतुषु तत्तत्तत्त्वात्मकस्य सूक्ष्मस्य।
कार्यस्यावस्थानं भावः सत्कार्यवादिमते॥" इति।

१. शब्दादेर्गु। २. तुल्यत्वे चान्वयो।

सोऽयं भावसर्गः कार्यकारणभावेनावगम्यते। तथा हि—कार्यकारणभावसम्बन्धो नासति सम्बन्ध्यन्तरे कार्ये सम्भवतीत्यसतः खरविषाणादेरदर्शनात्। विमतानि कार्याणि कारणेषु सन्त्येव, उत्पत्तिमत्त्वात्। यत् कारणेष्वविद्यमानं न तदुत्पत्तिमत् यथा खरविषाणम्। न च तथैतानि नोत्पत्तिमन्ति। तस्मात् कारणेषु सन्त्येव इति। तथा उपादानकारणस्वीकाराच्च। यदि तिलेषु तैलं न स्यात्, तर्हि तैलार्थिनः सिकतास्विव तिलेष्वपि स्वीकारो न स्यात्। न तदस्ति इति तिलेषु तैलसद्भावसिद्धिः। एतस्मादेव कारणात् सर्वसद्भावात् च सदेवं कार्यम्। यदि कारणेष्वसत् कार्यं जायेत, तर्हि तस्मादेवाखिलकार्यसंभवप्रसङ्गः, असत्त्वस्य सर्वत्राविशेषात्। न च तदस्तीति सदेवोत्पद्यत इति। शक्तात् कारणाच्छक्यकार्यजननाच्च। यदि कारणेष्वविद्यमानं कार्यं जायेत, तर्ह्यशक्तादपि तदुद्भवप्रसङ्गः, असत्त्वे शक्तिकल्पनावैयर्थ्यात्। तथा शक्तेः कार्यसूक्ष्मावस्थारूपत्वाच्च सत् कार्यम्। तथा यद्यसत् कार्यम् अशक्यमपि तदा कार्यं जायेत, कारणस्य शक्तत्वात् न चासति कार्ये तत्रैव शक्तिरिति वक्तुं न शक्यते, असत्त्वेनाविशेषादिति। कारणत्वाच्च सत् कार्यम्। यदि कार्यं कारणे न स्यात् तदास्य कारणत्वमपि न स्यात् इतरसाधारण्यात्। तद् दृष्टमतः सत् कार्यमिति। तदुक्तम्—

> "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
> शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥" इति।
>
> सां. का. ९।

न च सत्कार्यवादे कारणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति वाच्यम्। कारणानाम् अभिव्यक्त्यर्थत्वात्। यथावघातदोहनापीडनैः तण्डुलक्षीरतैलानामुत्पत्तिः, तथा कालाद्यवन्यन्ततत्त्वानां तद्विकारभूतघटादीनां चोद्भव इति। विनाशश्च तेषां तिरोभाव एव, नासत्त्वमिति। न चाभिव्यक्तेः अभिव्यक्त्यन्तराभ्युपगमेऽनवस्थेति वाच्यम्। उत्पत्तेरपि समानत्वात् तथा पटोत्पत्तिः स्वकारणसमवायः स्वसत्तासमवायो वा नोत्पद्यते। तथापि तदर्थानि कारकाणि व्यापार्यन्ते। एवं सत एव घटादेः स्वत एवाविर्भावाय कारणापेक्षेति युक्तम्। तदुक्तं भगवता विष्णुना—

> "नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इति।
>
> गीता।२।१६॥

श्री विष्णुपुराणे च—

"तदेतदक्षयं नित्यं जगुर्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥" इति ।

अथवा अङ्गाङ्गिभावविहितः कल्पितो विशेषः, हेतुमत्त्वान्नित्यत्वात् । व्यापित्वसक्रियत्वानेकत्वाश्रितत्वलिङ्गत्वसावयवत्वपरतन्त्रत्वादिधर्मः कालाद्यवन्यन्तानां व्यक्तानां विद्यत इति त्रिगुणत्वाविवेकित्वविषयत्वसामान्यत्वाचेतनत्वप्रसवधर्मित्वान्यव्यक्ताख्यस्य मायातत्त्वस्यापि सन्ति । चिन्मात्रस्य शिवस्य पुंसो हेतुमत्त्वादिकं त्रिगुणत्वादिकं च नास्ति । तयोः कार्यकारणभावविहितयोः कार्यकारणत्वशून्ये पुरुषेऽसंभवादिति केषांचिदेवायं धर्म इति । तदुक्तम्—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयं सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥" इति ।
सां. का. ॥ १०-११ ॥

अथवा अङ्गमचेतनं चेतनार्थत्वात् । तस्याङ्गी चेतनः शेषित्वात् तस्य । तयोर्भावः सम्बन्धः । तद्विपरीतो विशेषः इतरेतराध्यासोऽङ्गाङ्गिभावविहितो विशेष इति । तदुक्तम्—

"तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः ॥"
सां. का. ॥ २० ॥

अथवा अङ्गाङ्गिभावः प्रधानाप्रधानभावः । बुद्धिः प्रधानभूता, पुरुषस्यातिसन्निकृष्टत्वात् । तस्यास्तेनाङ्गित्वम् बाह्येन्द्रियाणि अङ्गानि अप्रधानानि, तत्साध्यत्वात् । तयोर्भावविहितो विशेषः केषाञ्चित् कारणानामस्ति इति । तदुक्तम्—

"एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषात् ।
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥" इति ।
सां. का. ॥ ३६-३७ ॥

तस्मादेव तत्त्वानामुत्पत्तिरिति ॥ ४ ॥

वृत्तिः

कोऽसावित्याह—शब्देति ।

तन्मात्रभूतवर्गयोः शब्दादिगुणसाम्ये कार्यशब्दवाच्यतया तुल्यत्वेन च द्विविधोऽन्वयो विज्ञेयः । एषां च सर्वेषा तत्त्वानां मध्यात्केषांचिद् बिन्दुमायादीनां कारणत्वेनाङ्गितया शक्त्यादीनां कार्यत्वेनाङ्गतया च विशेषो भवतीत्याह—अङ्गाङ्गीति ॥ ६६ ॥

तत्त्वानां स्थितिरेषा कथिता सृष्टिक्रमेण सर्वेषाम् ।
प्रतिलोमं परिणामात् मायायां तानि लीयन्ते ॥६७॥

यह सभी तत्त्वों की व्यवस्था उत्पत्तिक्रम से कही गयी । (प्रलयदशा में) वे अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) के उलटे क्रम मे माया में विलीन हो जाते हैं ॥ ६७ ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

एवं तत्त्वानां सृष्टिक्रमं स्थितिं चोक्त्वा संहारक्रममाह—तत्त्वानाम् इति ।

एतेषां तत्त्वानामुक्तेन प्रकारेण सृष्टिः स्वे स्वे कारणे स्थितिश्च कथिता । परिणामप्रतिलोमेन मायायां तानि स्वे स्वे कारणे लयं प्राप्य लीयन्त इति ॥ ५ ॥

वृत्तिः

अथ तत्त्वलक्षणमुपसंहरति—तत्त्वानामिति ।

संहारमाह—प्रतिलोममिति । पृथिव्यादेस्तत्त्वगणस्य स्वकारणलयक्रमेण मायायामुपसंहारः ॥ ६७ ॥

मायायाः परतोऽध्वा शुद्धः शक्तौ निलीयते सकलः ।
परमात्मनि सापि शिवे तिष्ठत्यविभागमापन्ना ॥६८॥

माया से परे सम्पूर्ण शुद्धाध्व (के तत्त्व) शक्ति में लीन होते हैं और वह भी (शक्ति भी) परमात्मा शिव में अविभक्त रूप में स्थित हो जाती है ॥ ६८ ॥ ६ ॥

तात्पर्यदीपिका

मायायाः परस्ताद् यानि तत्त्वानि तेषां कुत्र लय इत्याशङ्क्याह—मायाया इति ।

मायायाः परतो यस्तत्त्वाध्वा शुद्धाख्यः, स सर्वोऽपि शक्तितत्त्वे

१. सर्वात्मनि ।

लयं याति । सा शक्तिः शिवेनैक्यं प्राप्य तिष्ठति । निलीयत इति, 'आनीदवातं स्वधया तदेकमिति' श्रुतेस्तदवगमात् ।। ६ ।।

वृत्तिः

मायाया इति ।

शुद्धविद्यादेस्तु शक्तौ महामायाख्यायाम् । सकलः कालोपबृंहितोऽध्वा शुद्धः संलीयते । तदुक्तमस्माभि :—

'गन्धे भूः सलिलं रसे हुतवहो रूपे मरुत्स्पर्शने
शब्दे स्यात्खमहंकृतौ पुनरिमास्तन्मात्रिकास्तामसे ।
कर्माक्षाणि च राजसे सह मनोबुद्धीन्द्रियैः सात्विके
बुद्धौ तच्च गुणेषु सो गुणगणोऽव्यक्ते लयं गच्छति ।।

तद्रागविद्ये च कलां प्रयान्ति
पुंस्त्वं च कालो नियतिः कला च ।
मायासु विद्येशमसौ स देशं
स शक्तिमेषा शिवमेष बिन्दुः ।। इति ।

तत्र च शिवशब्देन शान्तिकलामस्तकस्थं शान्त्यतीतभुवन-मुच्यते । तदानीं च । परमात्मनीति सा महामाया अपि शब्दात् मलावृतात्मनि चिता माया च शिवे निमित्तभूते अधिष्ठातरि सति परं केवलमात्मन्येव कार्यरूपे विभागरहिता कारणस्वरूपैव तिष्ठति । न तु शिवे अविभागमापन्ना समवायं प्राप्नोतीति व्याख्येयम् तस्याश्चित्-समवाये परिणामित्वादिदोषप्रसङ्गात् । तदुक्तं श्रीमन्मृगेन्द्रे—

'स्वापेऽप्यास्ते बोधयन्बोधयोग्यान्
रोध्यान् रुद्धन् पाचयन् कर्मिकर्म ।
मायाशक्तीर्व्यक्तियोग्याः प्रकुर्वन्
पश्यन् सर्वं यद् यथावस्तुजातम् ।। इति ।
तच्च सात्मकमाश्रित्य विश्वमायावतिष्ठते ।
भविनां भवखिन्नानां सर्वभूतहितो यतः ।। इति ।।६८।।

माया पुरुषः शिव इत्येतत्त्रितयं महार्थसंहारे ।
अवशिष्यते पुनस्तत्प्रवर्तते पूर्ववत् सृष्टौ ।। ६९ ।।

महार्थों (काल से लेकर अवनि-पर्यन्त तत्त्वों) का प्रलय होने पर माया, पुरुष और शिव ये तीन तत्त्व शेष रह जाते हैं (नष्ट नहीं होते), और पुनः सृष्टि-निमित्त वही तीनो पहले की भाँति प्रवृत्त होते हैं ।। ६९ ।। ७ ।।

तात्पर्यदीपिका

ननु संहारदशायां सकलस्य विनाशेन पुनरुत्पादासंभव इत्याशङ्क्याह—माया इति ।

महार्थानां कालाद्यवन्यन्ततत्त्वानां शुद्धानां च विद्येशसदाशिवानां संहारे मायापुरुषशिवानां जगत्कारणानां सद्भावात् पुनरपि जगदुत्पत्तिः संभवत्येव पूर्ववदिति ॥ ७ ॥

वृत्तिः

ततश्च मायेति—

अयं त्रैलोक्यान्तस्य मध्यमस्य च गुणान्तस्य प्रलयस्य सद्भावान्महाप्रलयो ह्यशेषसंहारः तत्र विद्येशानामपि मोक्षप्राप्तेः । मायादिकं त्रितयमवशिष्यते । तत्र मायाशब्देन मन्त्रोच्चारान्मायामहामायात्मकमुपादानद्वयमुच्यते । पुरुषशब्देन जात्येकवचनेन मलयुक्ताः सर्वे बद्धात्मानः शिवशब्देन समवेतशक्तियुक्तः शिवः मुक्तात्मानश्च । पुनः संहारान्ते तच्छिवादिवस्तुसृष्ट्यर्थं प्रागुक्तवत्प्रवर्तते ॥ ६९ ॥

संसारे खिन्नानां निखिलानां प्राणिनां प्रभुः कृपया ।
कुरुते महार्थसंहृतिमेतेषामेव विश्रान्त्यै ॥७०॥

संसार में दुःखी इन सभी प्राणियों के विश्राम के लिये ही प्रभु कृपायुक्त हो महार्थों (कालादि तत्त्वों) का संहार किया करते हैं ॥ ७० ॥ ८ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु तर्हि किं प्रलयेनेत्याशङ्क्याह—संसार इति ।

अनवरतम् उपजायमानशरीरेन्द्रियविषयसंपर्कजातसुखदुःखानुभवव्यापारसञ्जातश्रमाणां प्राणिनां विश्रान्त्यर्थं करुणानुन्नहृदयः प्रभुर्महार्थसंहारं करोतीति । तदुक्तम्—

"कार्यव्यासक्तचित्तानां विश्रान्त्यै रजनी यथा ।
संहारं भवखिन्नानां कृपया कुरुते शिवः ॥" इति ॥८॥

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां सामान्यवादः
पञ्चमः परिच्छेदः

वृत्तिः

अथास्य महासंहारस्य प्रयोजनमाह संसार इति ॥ ७० ॥

---

१. सर्वेषां ।

कर्मविपाचनहेतोः[1] पशुदयया पुनरपीह परमेशः।
सृष्टिं विधाय तेषां कर्म विपाचयति[2] देहभृताम् ॥७१॥

पशुओं पर करुणा करके उनके कर्मों के परिपाक के लिये परमेश्वर पुनः उनकी रचना करके उन शरीरधारियों के कर्मों का पाचन करते हैं ॥७१॥१॥

तात्पर्यदीपिका

अथ षष्ठः परिच्छेदः

अथ तर्हि पुनः सर्गकारणमयुक्तं, विश्रामस्यैव पुरुषार्थत्वादित्याशङ्क्याह—कर्म इति।

अयमभिप्रायः—निःशेषदुःखनिवृत्तिनित्यनिरतिशयानन्दात्मकापवर्गविहीनान् पशुतयाऽनधिगतपुरुषार्थान् कर्मबद्धान् दयार्हान् पशूनवलोकयन् भगवान् भोगेन कर्मबन्धविनिवृत्तये तत्साधनदेहीन्द्रियविषयसृष्टिं विधत्ते। तेषां कर्मबन्धविनिवृत्तिश्च मोक्षार्थेति मोक्षार्था सृष्टिरुपपन्नेत्यर्थः ॥ १ ॥

वृत्तिः

कर्मेति। विश्रमायाखिलात्मनां कर्मणां च पाकार्थम् उपलक्षणत्वादस्यानवरतमनन्तशरीरादिजननेनापचितशक्तेर्मायायाश्च सामर्थ्योत्पादनार्थं संहार इत्यर्थः। सृष्टिरपि मोक्षायेत्याह—पशुदययेति। कर्म विपाचयति विशेषेण पाचयति प्रागर्जितानि कर्माणि पाकक्रमेण कर्माथिं भोग्यतयोपस्थापयतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

भोगेन कर्मनाशं[3] विधाय दीक्षाख्यया[4] शक्त्या।
मोचयति पशूनखिलान् करुणैकनिधिः सदा शम्भुः ॥७२॥

भोग के द्वारा कर्मों का प्रणाश करके दया के एकमात्र निधि शिव सर्वदा दीक्षा नाम की शक्ति से सभी पशुओं को मुक्त कर देते हैं ॥७२ ॥ २ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु केन तर्हि कर्मपाकः, कथं वा मोक्षसंभव इत्यत आह—भोगेन इति।

---

१. इतः। २. कर्माण्येवं पाचयति। ३. कर्मपाकं। ४. दीक्षां शिवः।

अयमाशयः—भोगेन कर्मणः पाकं विनाशं कुर्वन् भगवान् कालं प्रतीक्षमाणः कर्मसाम्ये सति शक्तिं मोचिकां पाचयित्वाऽऽचार्यो भूत्वा दीक्षां विधाय अपवर्गार्हान् पशून् अखिलान् सर्वदा सदा परमकारुणिकः शंभुर्मोचयतीति। ननु न मोक्षाख्यः पुरुषार्थोऽस्ति, नापि स्वर्गाख्यः, तयोः सद्भावे प्रमाणाभावात्। न चानुमानागमाभ्यां तयोः सद्भावसिद्धिः इति वाच्यम्। अनुमानागमयोः अप्रामाण्यात्। तत्रानुमानस्याप्रामाण्यं व्याप्तिग्रहणसापेक्षस्य अनुमानस्य तदसंभवात्। स च देशान्तरकालान्तरगततयाऽनध्यक्षयोः साध्यसाधनयोः, साहित्यनियमात्मकस्य अविनाभावस्य अध्यक्षतो ग्रहणासंभवात्। न चानुमानात् तदविनाभावग्रहणमिति वाच्यम्। अन्योन्याश्रयप्रसङ्गाद्, व्याप्तिग्रहणे सत्यनुमानप्रवृत्तिः, अनुमानप्रवृत्तौ व्याप्तिग्रहणमिति। न चानुमानान्तरेण व्याप्तिग्रहणम्। अनवस्थाप्रसङ्गात्। न चागमाद् व्याप्तिग्रहणम्। तस्य सन्दिग्धत्वात् तदनुपलम्भात् चेति। न चागृहीताविनाभावात् साधनात् साध्यसिद्धिरिति वाच्यम्, अतिप्रसङ्गात्। तस्मात् प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। तच्च स्वर्गापवर्गौ भावगमयतीति काम एव मुख्यः पुरुषार्थः, अर्थश्च तत्साधनत्वादिति। तदुक्तम् "वृत्तिसाध्या प्रीतिः पुरुषार्थः, स काम एव नान्यो मोक्षादिः, दृष्टहान्यदृष्टकल्पनाप्रसङ्गादिति"। तथा पृथिव्यप्तेजोवायव एव तत्त्वानि, शरीरेन्द्रियविषयाणां तत्समुदायरूपतया तत्त्वान्तराभावात्। न च ज्ञानं तत्त्वान्तरम्। तस्य रजनीचूर्णसम्बन्धाद् उपजायमानरागवद् भूतसमवायजन्यतया तद्धर्मत्वनिश्चयादिति चार्वाकः। तदयुक्तम्। अनुमानागमाप्रामाण्ये सन्दिग्धं विपर्यस्तं वा प्रतिपाद्यं प्रति प्रतिपादकस्य शब्दप्रयोगासंभवप्रसङ्गात्। तथा हि—अस्याज्ञानं सन्देहो विपर्यासो वा विद्यते इति प्रतिपाद्यशब्दादिना लिङ्गेनानुमाय मयोच्चारितेन शब्देनास्य यथार्थप्रतिपत्तिर्भविष्यति। सा तदज्ञानादिकं निर्णुदस्यतीत्याद्यनुमानपूर्वको हि परं प्रतिपाद्यं प्रति प्रतिपादकस्य शब्दप्रयोगः। अतत्पूर्वकत्वे शब्दप्रयोक्तुरुन्मत्तवदुपेक्षणीयताप्रसङ्गेन च परगताज्ञानसन्देहविपर्यासाः प्रत्यक्षतोऽवगन्तुं शक्यन्ते अतोऽनिच्छतापि चार्वाकेणानुमानस्य चागमस्य च प्रामाण्यम् अभ्युपेतव्यम्। शब्दस्य अप्रमासाधकत्वे प्रयोगासंभवप्रसङ्गात्। न च व्याप्तिग्रहेणासंभवाद् अनुमानाप्रामाण्यम्। सामान्योपग्राहकवशाद् अखिलव्यक्तिषु सम्बन्धग्रहणवत् तदुपपत्तेः। तथा हि—व्याप्तिग्रहणवेलायाम्

अल्पत्वादिविशेषं परित्यज्य धूमजातीयम् अग्निजातीयं न व्यभिचरति इति सामान्योपग्राहकवशाद् अजातातिवृत्तप्रत्युत्पन्नाखिलव्यक्तीनां तत्तज्जातीयतया तथा व्याप्तिग्रहणे, व्याप्तेर्गृहीतत्वान्न व्याप्तिग्रहणासंभव इति । सामान्ययोरेव व्याप्तिग्रहणम्, अधिकरणसिद्धान्तन्यायेन विशेषसिद्धेरिति । तदपास्तम् ।

"विशेषेऽनुगमाभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् ।
तद्वतोऽनुपपन्नत्वाद् अनुमानकथा कुतः ।।" इति ।

यतो व्याप्तिग्रहणादिसंभवस्योक्तत्वात् । तथा भोजनादिसर्वक्रियासंभवश्च । तासामनुमानपूर्वकत्वात् । किञ्च, अवगताविनाभावस्य पुरुषस्य धूमदर्शनाद् अग्निज्ञानम् उपलभ्यते । तत् किंरूपमास्थेयम् न तावद्विपर्ययरूपम् । बाधकाभावात्, प्रत्यक्षसम्भवाच्च । नापि विकल्परूपम् । "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" इत्युक्तलक्षणाभावात् । नापि निद्रा । सुषुप्त्यभावात् । न च स्मृतिरूपम् । धूमादिसंभवसंस्कारमात्रजन्यत्वाभावाद् इदन्तया भासमानत्वात् तथाविधपूर्वानुभवाभावाच्चेति । नापि संशयरूपम् । अनवधारणज्ञानं संशय इत्युक्तसंशयलक्षणाभावात् तस्मादेतज्ज्ञानं प्रमाणमेव । न च तत् प्रत्यक्षम् । अर्थेन्द्रियसंप्रयोगाजन्यत्वात् । न चाग्नेरर्थस्य चक्षुरादिना सम्प्रयोगोऽस्ति, आवृतत्वाद् इत्यग्निज्ञानकारणधूमज्ञाननिष्पादनार्थं चक्षुर्विज्ञानम् अग्निज्ञानार्थम् । स्वर्गादिज्ञानकारणशब्दज्ञानार्थश्रोत्रव्यापारवदिति । न चानुमितानुमानादौ चक्षुराद्यपेक्षेति प्रमाणान्तरमेवानुमानाख्यमिति सिद्धम् अनुमानमिति । आगमप्रामाण्यं च पूर्वमुपवर्णितम् इत्यलमतिप्रसङ्गेन । तथा हि—शरीरेन्द्रियवृत्तिसङ्घातः परार्थः भोगसाधनं च जडत्वात्, जडं च कार्यत्वात्, गृहक्षेत्रादिवदिति भूतव्यतिरिक्तः पर आत्मा सिद्धः । तस्य नित्यत्वं, शरीरनाशेऽप्यविनाशात् । स च जातिस्मृत्यादिना अवगम्यते । तस्य मोक्षो बद्धत्वात् । अतो मोक्षस्य कादाचित्कतया कारणापेक्षा । कारणं च हिंसालक्षणधर्माधर्मसंयुताद्—

"अहिंस्यदेहाद्युद्भूतिर्मोक्षमाहुर्दिगम्बराः ।" इति ।

तथा हि—नित्यतायां ग्रहे अनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थानेकान्तभावना । तथा हि—घटादिः मृदादिरूपेण नित्यः, सर्वावस्थासु उपलम्भात् । घटादिरूपतया अनित्यः, तदपायात् । एवं स्वदेशकालकारणाधारतया सत्त्वमर्थानामन्यदेशादिषु असत्त्वं, स्वकार्ये कर्तृत्वं कार्यान्तरे चाकर्तृत्वं, स्वशब्देनाभिधेयत्वम्, अन्यशब्देन अनभिधेयत्वम्

इत्याद्यूह्यम् अर्थानामनेकान्तत्वम् इति दिगम्बराः। तदिदमनुपपन्नम्। अनेकान्तभावनायां मिथ्यारूपतया अपवर्गसाधनत्वासंभवात्। तच्च स्वदेशादिषु सत्त्वादिनियतरूपस्य एवोपालम्भात्। तथा घटादेश्च कार्यस्य नित्यत्वात् मृदादेः कारणस्य च नियमेन नित्यत्वाच्च नोभयात्मकत्वम्। एवं स्वशब्देनाभिधेयत्वम् एवान्यशब्देन चाभिधेयत्वमेवेति नानेकान्तत्वमिति। या चेयमुभयरूपता प्रोक्ता तत्र विवादः। इतरेतराभ्युपगमेन अस्माभिरप्यभ्युपगतत्वात्। यदि च स्वदेशादिष्वप्यसत्त्वादिकं स्यात्, तदा स्यादर्थानामनेकान्तता। न च तदस्ति। तस्मान्नानेकान्तत्वम् अर्थानाम् इति मिथ्याभूतत्वान्नापवर्गकारणम् अनेकान्तज्ञानम् इति। न चानेकान्तताभावनावशाद् विशिष्टप्रदेशे अक्षयशरीरादिप्राप्तौ प्रमाणमस्ति। न च तेषाम् आगमः प्रमाणम्। तस्य प्रमाणमूलत्वाभावात्। न च प्रत्यक्षानुमाननित्यागमा मूलानामनित्यागमानुशब्दानां प्रामाण्यं संभवतीत्युक्तम्। न च शरीरेन्द्रियविषयाणां कार्याणां नित्यत्वं संभवति। अतिप्रसङ्गात् यच्च शरीरपरिमितस्यात्मनः शरीरनाशे नक्षत्रादिवद् अवस्थानं निःश्रेयसम् इत्यार्हतैकदेशीयैरुक्तं, तदपि न चतुरश्रम्। देहपरिमितस्यात्मनो देहवन्मूर्ततया अनित्यत्वप्रसङ्गात्। तथा गजशरीरावस्थितस्य मशकशरीरप्रवेशे मृदङ्गपिहितप्रदीपप्रभाया घटपिधान इव सङ्कोचविकासाश्रयणेन परिणामित्वप्रसङ्गः। तस्मात् रूपरसगन्धस्पर्शज्ञानात्मकेषु षट्पदार्थेषु यद् दुःखसमुदायनिरोधमार्गाख्यं पदार्थचतुष्कं तस्मिन् क्षणिकादिभावनापवर्गकारणं, शुद्धचित्तसन्तानोत्पत्तिरपवर्ग इति सौगताः। दुःखं रूपादिस्कन्धपञ्चकम्। तच्च रूपस्कन्धो वेदनास्कन्धः संज्ञास्कन्धः संस्कारस्कन्धो विज्ञानस्कन्धश्चेति स्कन्धपञ्चकम्। तत्र वर्णगन्धरसस्पर्शात्मना चतुर्विधो रूपस्कन्धः। सुखा वेदना दुःखा वेदना मध्यमा वेदनेति त्रिविधो वेदनास्कन्धः। चक्षुःसंज्ञा जिह्वासंज्ञा श्रोत्रसंज्ञा घ्राणसंज्ञा स्पर्शसंज्ञेति षट्प्रकारः संज्ञास्कन्धः। संस्कारस्कंधो द्विप्रकारः कुशलाकुशलभेदात्। तत्राकुशलो दशविधो मनोवाक्कायभेदैः। तत्र मानसा मिथ्यादर्शनाभिलाषप्रद्वेषास्त्रयः। वाचिका अनृतवचनपैशुन्यपरनिन्दा विप्रलम्भवचनानि चत्वारि। कायिका हिंसापरस्वहरणमैथुनयोगास्त्रयः इत्यकुशलाः। कुशलाश्च दश विपरीताः। एवं संस्कारस्कन्धो विंशतिप्रकारः। चक्षुर्विज्ञानं श्रोत्रविज्ञानं घ्राणविज्ञानं स्पर्शविज्ञानं जिह्वाविज्ञानं मनोविज्ञानं चेति षट्प्रकारो विज्ञानस्कन्धः। इत्येष दुःखकारणत्वात् दुःखमिश्रत्वात् सुखमपि दुःखम्। तस्य कारणं

समुदायः। तयोर्निरोधो विनाशः, तस्योपायो मार्गः। क्षणिकादिभावेनैष क्षणिकमिति भावनावशात् रागादिनिवृत्तिः। ममेदमिति सम्बन्धाभावात्। तथा निरात्मकभावनातश्च रागादिनिवृत्तिः, स्वपरसम्बन्धाभावात्। एवं सर्वं शून्यमिति भावनया रागादिनिवृत्तिः, असत्त्वात्। नहि गगनकुसुमवन्ध्यासुतादौ रागादिसम्भव इति शुद्धचित्तसन्तत्युद्भवोपपत्तिरिति वैभाषिकसौत्रान्तिकज्ञानाद्वैतवादिनो बौद्धाः शुद्धचित्तसन्ततेरपि विनाशोऽपवर्ग इति शून्यवादिनः। तदिदमनुपपन्नम्। क्षणिकादिभावनानां मिथ्यारूपतया निःश्रेयससाधनत्वासंभवात्। न च सर्वे भावाः क्षणिकसत्त्वाद् विज्ञानवद् इत्यनुमानात् पदार्थानां रूपरसगन्धस्पर्शविज्ञानानां क्षणिकत्वसिद्धेः क्षणिकत्वभावनाया न मिथ्यात्वमिति वाच्यम्। तस्याग्न्यनुष्णतासाधककृतकत्वानुमानवत् स एवायं घट इत्यादिप्रत्यक्षबाधया प्रामाण्यात्। न च स एवायं नखः, त एवामी केशा इत्यादिप्रत्यभिज्ञावद् अस्यापि न प्रामाण्यमिति वाच्यम्। अस्य बाधकाभावात्। न चानेनैवानुमानेनास्य बाध इति वाच्यम्। अनुमानस्य प्रत्यक्षमूलस्य स्वमूलबाधकत्वासम्भवात्। न चानुष्णतासाधकेनोष्णताग्राहिप्रत्यक्षं बाध्यत इति। तथा विज्ञानस्य त्रिक्षणस्थायितया क्षणिकत्वाभावात् साध्यविकलो दृष्टान्त इति। नन्वक्षणिकस्यार्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वासंभवादुपलभ्यमानं सत्त्वं पृथिव्यादिक्षणिकतां साधयेत्। तथा हि—क्षणिको यदि स निष्पाद्यं सर्वं युगपदेव करोति, न ह्युत्तरादिक्षणेष्वपि। तदेव सर्वं ज्ञायते तत्कारणस्य विद्यमानत्वात्। न हि कारणे सति कार्यानुत्पत्तिर्घटत इति। नापि क्रमेण। प्रथमक्षण एवोत्तरादिक्षणभाविनां कार्याणां कारणभूतस्यास्य सद्भावेन विलम्बनासंभवात्। न च सहकारिप्राप्त्यनुरूपेण कार्यजननमिति वाच्यम्। सहकारिणा क्रियमाणस्य कारणातिशयविनाशस्य वा कारणाद् भिन्नत्वे तदितरविश्ववदुपेक्ष्यत्वात्। तथानतिशयनिवृत्त्यतिशयाधानहेतुत्वे सहकार्यपेक्षकारणभिन्नत्वेऽतदुत्पत्तौ तदुत्पादप्रसङ्गः। अतिशयाधानानतिशयानिवर्तकत्वे तदितरविश्ववत् सहकारिणाम् अप्युपेक्ष्यत्वप्रसङ्ग इति। तस्मादर्थक्रियाकारित्वलक्षणसत्त्वविरहादसन्तोऽक्षणिका इति। अत्र प्रयोगः—यत् क्रमाक्रमाभ्यामजनकं तन्नास्ति यथा खरविषाणम्। क्रमाक्रमाभ्यामजनकाश्चाक्षणिका इति। तस्मात् पृथिव्यादिषु पक्षभूतेषूपलभ्यमानं सत्त्वं विपक्षे वृत्त्यसम्भवात् सपक्षाभावेऽपि क्षणिकत्वं साधयतीति। नैवम्। अक्षणिकानामपि क्रमाक्रमाभ्यां सहकारि-

प्राप्तौ तथैव जनकत्वोपपत्तेः । ननूक्तं सहकारिणातिशयाधानं तदनतिशयनिवृत्तिर्वेति विकल्पोक्तं सत्वादनुपपन्नमस्यैवातिशयत्वात् । यद् यस्य सद्भावे कार्यं करोति, स तस्यातिशय इति मृदादिकारणं चक्रादिसहकारिसमवधाने घटादिकार्यजनकमुपलब्धमिति तत् तदतिशय इति ॥ २ ॥

वृत्तिः

ततश्च क्रमेण मलपरिपाके जाते सति । भोगेनेति—

मलपरिपाके सति कर्मणां युगपत्पाकात् दीक्षाख्यया स्वशक्त्या आचार्यव्यापाराभिव्यक्तया केवलया वा । युगपदनेकभोगभोजनात्मककर्मनाशं विधाय मलादिभ्यः पशून् मोचयतीत्यर्थः । यदुक्तं श्रीमत्किरणे—

'अनेकभविकं कर्म दग्धबीजमिवाणुभिः
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगदम् ।'

अत एव सद्यो निर्वाणदीक्षायामारब्धकार्यस्य वर्तमानशरीरारम्भकस्य कर्मणोऽपि क्षय इति सिद्धम् । दीक्षायाः च नैष्ठिक्यादिको भेदः श्रीमन्मतङ्गादेरववेयः ॥ ७२ ॥

आप्रलयं यत्तिष्ठति[1] सर्वेषां भोगदायि भूतानाम् ।
तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः ॥ ७३ ॥

जो प्रलय-पर्यन्त विद्यमान रहता है और सभी भूतों के भोग का देने वाला है, वह 'तत्त्व' इस नाम से कहा गया है, इसलिये (उक्त लक्षण के अभाव में) शरीर, घट आदि 'तत्त्व' नहीं हैं ॥ ७३ ॥ ३ ॥

तात्पर्यदीपिका

ननु न षट्त्रिंशत् तत्त्वानि इति शक्यते वक्तुं, शरीरघटादेरपि सद्भावादित्याशङ्क्याह—आप्रलयम् इति ।

अयमभिप्रायः—शरीरघटादेस्तत्त्वलक्षणाभावान्न तत्सद्भावेन तत्त्वाधिक्यम् । तथा हि—यद् आप्रलयावस्थायि सर्वभूतभोगकारणं तत्त्वमिति तत्त्वलक्षणं न शरीरघटादेः अस्ति । तद्देशतत्कालव्याप्त्यभावात् । तथा शरीरघटादीनां पृथिव्यादितत्त्ववृत्तिरूपतया बुद्धिवृत्तिरूपाध्यावसायादिवत् तत्त्वान्तरत्वासम्भवाच्च न तत्त्वाधिक्यमिति । तदुक्तं गुरुदेवाचार्येण—

१. तिष्ठति यत् ।

"ततत्वात् सन्ततत्वाच्च तत्त्वानीति ततो विदुः ।
ततत्वं देशतो व्याप्तिः सन्ततत्वं च कालतः ॥
लक्षादियोजनव्यापि तत्त्वमा प्रलयात् स्थितम् ।
अन्यथा स्तम्भकुम्भादिरपि तत्त्वं प्रसज्यते ॥" इति ॥३॥

वृत्तिः

यद्येवं शरीरादेः कथं न तत्त्वतया परिगणनमत आह—आ प्रलयमिति ।

अतः साक्षात्परम्परया भावभोगदायकमाप्रलयावस्थायि च यत् तत्तत्वमित्युक्तम् । अत एवास्माभिः संहारक्रमेण तत्त्वानि प्रदर्शितानि । यथा—

भूवार्यग्निमरुत्खगन्धरसरूपस्पर्शब्दान् भगं
पायूपादकरास्यनासिरसना दृक्त्वक्छ्रुतिर्मानिसम् ।
गर्वं धीगुणमत्ररागपुरुषान् विद्यानियत्यौ कला
कालं मोहकबोधकेश्वरसदेशच्छक्तिमोडे शिवम् ॥ इति ।

अत्र च रागपुरुषानिति क्रमवैपरीत्येन पुंसो नाध्वत्वमिति दर्शितम् ॥ अकृतस्य करणं कृतस्य परिवर्धनं च बुद्धिधर्म इति ।

तत्त्वं यतो भवेत्[1] यत्कारणमापूरकं च तत्त्वस्य ।
कथिता व्यवस्थितिर्येन्[2] निखिलानामेव तत्त्वानाम् ॥७४॥

तत्त्व जिससे उद्भूत होते हैं, जो तत्त्वों का कारण तथा आपूरक है, जो सभी तत्त्वों का आधार कहा गया है ॥ ७४ ॥ ४ ॥

तात्पर्यदीपिका

प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति—तत्त्वम् इति ।

अयमर्थः—शिवाद्यवनिपर्यन्तानां निखिलानां तत्त्वानां व्यवस्थितिः कथिता । तथा निखिलानां तत्त्वानाम् आपूरकम् आभीक्ष्ण्येन पूरकम् अध्वातीतं शिवाख्यं निष्कलं रूपं च कथितम् । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" इति श्रुतेः । यतो भवति यत् तत्त्वं यत् कारणं चापूरकमुपकरणं वा, तच्च कथितमिति ॥ ४ ॥

वृत्तिः

अथ प्रकरणमुपसंहरति । कथिता व्यवस्थितिरिति ॥ ७४ ॥

---

१. भवति ततो । २. व्यवस्थितिरियं निखिलानामेव ।

तत्त्वानामपि तत्त्वं येनाखिलमेव लीलया कथितम् ।
श्रीभोजदेवनृपतिर्व्य[2]दधत्तत्त्वप्रकाशं सः ॥७५॥

(उसी) तत्त्वों के भी तत्त्व (परमकारण शिव) का पूर्ण कथन जिसने अनायास ही कर दिया, उन्हीं श्रीभोजराज ने (तत्त्वों के प्रकाशक) 'तत्त्व-प्रकाश' ग्रन्थ की रचना की ॥ ७५ ॥ ५ ॥

तात्पर्यदीपिका

शास्त्रस्वीकरणाय कर्तारं स्वात्मानमभिद्योतयति—तत्त्वानाम् इति ।

तत्त्वानामपि तत्त्वं स्वरूपं येनाखिलं कृत्स्नमेव हेलयाऽश्रमेण पूर्वं कथितं, स एव तत्त्वप्रकाशं व्यधत्त विभागेन कृतवानिति । नन्वाप्त-कृतत्वावबोधेन न शास्त्रस्वीकारः । शास्त्रस्वीकारस्य युक्तियुक्तावबोध-पूर्वकत्वात् ।

तदुक्तं भट्टाचार्येण—

"कणान् वा भक्षयेत् कामं माहिषाणि दधीनि वा ।
युक्तियुक्तनिबन्धश्चेत् तद्धि ग्राह्यं मनीषिभिः ॥" इति ।

नैतदेवम् । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । श्रवणे प्रवर्तमानस्य युक्ति-युक्तावबोधः, युक्तियुक्तावबोधे सत्येव श्रवणे प्रवृत्तिरिति । तस्मादाप्त-कृतत्वावबोध एवादौ श्रवणे प्रवृत्तिहेतुः । यथा हि मनुना प्रणीतं व्यासेन प्रणीतमित्यादिकर्तृबहुमानत्वात् प्रवृत्तिरिति युक्तं कर्तृसंकीर्तनमिति । अत्र निवृत्तिः कलाध्वा । तत्त्वाध्वा पृथिवी । भद्रकाल्यादिकालाग्न्यन्ता-न्यष्टोत्तरशतं भुवनाध्वा । क्षकारो वर्णाध्वा । लकारो वाष्टाविंशतिप-दानि पदाध्वा । सद्योजातहृदयाख्यौ मन्त्राध्वा । पदोद्धारं उच्यते—

"चतुर्वर्णं समुद्दिष्टं महादेवपदं हि यत् ।
सद्भावेश्वरसंज्ञं तु पञ्चार्णं मुनिसत्तम ॥
महातेज इति प्रोक्तं पदं वर्णचतुष्टयम् ।
पदं पञ्चार्णमुद्दिष्टं योगाधिपतिसंज्ञितम् ॥
मुञ्च मुञ्च चतुर्वर्णं षड्वर्णं प्रथमात्मकम् ।
शर्वशर्वपदं चात्र बोद्धव्यं चतुरक्षरम् ॥
भवयुग्मं तथा तद्वत् भवोद्भवपदं पुनः ।
पदमष्टाक्षरं चान्यत् सर्वभूतसुखप्रदम् ॥

१. हेलया । २. व्यधत्त ।

सर्वसान्निध्यपूर्वं तु करान्तं सप्तवर्णकम् ।
पदमष्टाक्षरं ब्रह्मविष्णुरुद्रपरं परम् ॥
अनचितं द्विरभ्यस्तमष्टार्णं पदमुच्यते ।
असंस्कृतपदं तद्वत् पूर्वस्थितपदं तथा ॥
साक्षिन् तुरुपदे तद्वच्चतुर्वर्णे द्विरुक्तितः ।
षट्पतङ्गपदे वर्णाश्चत्वारः पिङ्गसंज्ञके ॥
तद्वज्ज्ञानपदं शब्दसूक्ष्माख्ये चतुरक्षरे ।
द्वयक्षरं स्याच्छिवपदं तथा शर्वपदं विभोः ॥
त्र्यक्षरं सर्वदपदं प्रणवादि नमो नमः ।
पञ्चवर्णं शिवायेति त्र्यक्षरं समुदीरितम् ॥
नतियुग्मं पञ्चवर्णं सतारं पदमुत्तमम् ॥"[1] इति ।

ननु कुतः कथं कलानामुत्पत्तिः । शिवेच्छया बिन्दोरिति ब्रूमः । तदुक्तं गुरुदेवपद्धतौ—

"बिन्दोर्नादात्मकात् तस्माच्छिवेच्छातः प्रवर्तिताः ।
कला पञ्च निवृत्त्याद्या यासु विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥
मन्त्राः पदैस्तानि वर्णैर्व्याप्तानीह समन्ततः ।
वर्णास्तु भुवनैर्व्याप्तास्तत्त्वैर्व्याप्तानि तानि च ॥
कलाभिस्तानि तत्त्वानि व्याप्तानीह कलाः क्रमात् ।
सदाशिवादिभूम्यन्तं शक्तितत्त्वं व्यवस्थितम् ॥
सदाशिवादिकं त्वेवं स्वकार्यं व्याप्य संस्थितम् ।
[चतुर्युगमहापादं पृथिवीतत्त्वकन्दरम् ॥
कालतत्त्वात्तनाभं तत् पञ्चाशद् भावकण्टकम् ।
मायातत्त्वबृहद्ग्रन्थि शुद्धविद्याब्जशोभितम् ॥
विद्येश्वरदलच्छन्नं शक्तिकेसरसंयुतम् ।
पीठमेवंविधं कल्प्यं मातृकाबीजसंभवम् ॥"] इति ।[2]
कलाध्वोक्ताङ्गसम्पूर्णो भुवनाध्वोक्तरोमधृक् ।
वर्णाध्वोक्तत्वचोपेतो मन्त्राध्वरुधिरान्वितः ॥

---

१. गुरुदेवपद्धति उत्तरार्ध ६।१००–१०८ ॥ में पाठ कुछ भिन्न है ।

२. ('चतुर्युग...संभवम्' किरणागम के श्लोक है, जो गुरुदेवपद्धति ५।११ के बाद उद्धृत हैं ।)

पदाध्वोक्तशिरामांस-शुक्लमज्जास्थितत्त्वगः ॥
सदाशिवषडध्वात्मा तस्य प्राणः शिवः स्मृतः ।
परावरो महादेवो ध्याने सकलरूपभृक् ॥
निष्कलस्तदभावे तु अष्टत्रिंशत्कलात्मकः ।
आसनं मूर्तिरावाह्यमेतत् त्रितयमध्वनि ॥
व्याप्यव्यापकभावेन ज्ञात्वा यजनमारभेत् ।
आसनं शुद्धविद्यान्तं मूर्तिः शक्त्यन्तगोचरा ।
आवाह्यं शिवतत्त्वं स्यादेतच्छैवानुशासनम् ॥ इति ।

इति तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिकायां निवृत्त्याख्यः
॥ षष्ठः परिच्छेदः ॥

वृत्तिः

केनेदं प्रकरणमित्याह तत्त्वानामिति—

तत्त्वानां प्रकाशं ज्ञानं तत्त्वानां तत्त्वस्वरूपं येन कथितं ज्ञापितमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

यस्याखिलं करतलामलकक्रमेण
देवस्य विस्फुरति[1] चेतसि तत्त्वजातम् ।
श्रीभोजदेवनृपतिः स शिवागमार्थं
तत्त्वप्रकाशमसमानमिदं व्यधत्त ॥ ७६ ॥

जिस महाराजा के हृदय में सकल तत्त्वसमूह करतल में स्थित आमलक समूह की भाँति अवभासित होते रहते हैं, उन्हीं श्री भोजराज ने शैव आगमों के प्रतिपाद्य विषयों वाले अद्वितीय 'तत्त्वप्रकाश' नामक ग्रन्थ को रचा ॥ ७६ ॥

तात्पर्यदीपिका

यस्याखिलं करतलामलकक्रमेण
देवस्य विस्फुरति चेतसि तत्त्वजातम् ।
श्रीभोजदेवनृपतिः स शिवागमार्थं
तत्त्वप्रकाशमसमानमिदं व्यधत्त ॥[2]
नमस्तस्मै भगवते भोजायाक्लिष्टकर्मणे ।
शिवाय शिवभक्ताय शिवैकाहितचेतसे ॥

---

१. विष्फुरति । २. श्रीकुमार इसे पुष्पिका मानते हैं ।

नमः सर्वजगज्जन्मस्थितिभङ्गैकहेतवे ।
सर्वदैकस्वभावाय शिवाय शिवदायिने ।।
तत्त्वप्रकाशव्याख्यानं भक्तिनिर्भरचेतसा ।
अविज्ञाय कृतं यत्तु सन्तस्तत् क्षन्तुमर्हथ ।।

इति भारद्वाजकुलालङ्करणभूतेन शङ्करसूनुना विधिविहितसोम-
रसास्वादनपरितोषिणा शिवाङ्घ्रिकमलद्वयासक्तमधुकराय-
माणमानसेन श्रीमता श्रीकुमारेण रचिता
तत्त्वप्रकाशतात्पर्यदीपिका परिपूर्णा ।

वृत्तिः

तदेव प्रपञ्चयति—यस्येति ।

यः शास्त्रेषु शिवोदितेषु परमं व्याख्यातृभावं गतः
सामान्येषु पदादिकेषु च सुधी स्वाध्यायशिक्षोल्वणः ।
तेनाघोरशिवेन शैवतिलकैः सम्प्रार्थितेनादरात्
संक्षेपेण गुरूत्तमेन विवृतस्तत्त्वप्रकाशः स्फुटम् ।।

इति लक्षद्वयाध्यापकश्रीमदघोरशिवाचार्यविरचिता
तत्त्वप्रकाशवृत्तिः समाप्ता

परिशिष्ट—१

(अकारादि क्रम से श्लोक-सूची)

श्लोक	श्लो० संख्या	श्लोक	श्लोक संख्या
संसारे खिन्नानां	७०	शब्दादीनां ग्रहणं	५८
सात्त्विकराजस	५४	शब्दादेर्गुण	६६
साधारणी च पुंसा	३९	शुद्धानि पञ्च	२१
स्यात्त्रिविधोऽहंकारो	५३	शेषा भवन्ति	१३
शक्तय इहास्य	३८	शैवागमेषु मुख्यं	५
शक्तो यया स शम्भुः	३		

परिशिष्ट–२

(तात्पर्यदीपिका में उद्धृत ग्रन्थों के नाम)

ग्रन्थनाम	आवृत्ति	ग्रन्थनाम	आवृत्ति
अथर्वशिख	१	भुवनेश्वरीकल्पः	१
अथर्वशिरः	१	भूतशुद्धितन्त्रम्	१
अध्वसिद्धिः	१	मानवम्	१
आगमः	२	मोक्षधर्मः	१
आरणम्	१	रौद्रसूक्तम्	१
ईशावास्यम्	१	लिङ्गोद्भवः	१
ईश्वरगीता	५	लैङ्गम्	७
ऐतरेयोपनिषद्	१	लैङ्गोपरिभागः	१
किरणम्	७	वायवीयम्	७
कौर्मम्	१	विष्णुपुराणम्	२
गुरुदेवपद्धति	२	वैशेषिकभाष्यम्	१
चन्द्रज्ञानम्	३	शतरुद्रीयम्	१
तैत्तिरीयम्	१	शिवधर्मोत्तरम्	५
त्रैयम्बकाध्यायः	१	शिवसूत्रम्	१
देवीमन्त्रकल्पः	१	शैवरहस्यम्	१२
नीलरुद्रसूक्तम्	२	शैवागमः	३
न्यायसूत्रम्	१	श्रुतिः	१६
पारमेश्वरम्	१२	श्वेताश्वतराम्	७
पुराणागमः	२	सनत्सुजातम्	१
प्रयोगमञ्जरी	१	सिद्धान्तहृदयम्	१
बृंहणी	१	सिद्धान्तागमः	१
बृहदारण्यकम्	१	स्मृतिः	८
भारतम्	१		

परिशिष्ट—३

(तात्पर्यदीपिका में उल्लिखित ग्रन्थकार)

ग्रन्थकार	आवृत्ति संख्या	ग्रन्थकार	आवृत्ति संख्या
अगस्त्यः	१	मातङ्गः	७
अवधूतपादः	१	मार्कण्डेयः	१
आर्याकारः	१	रामः	१
गुरुदेवाचार्यः	१	वेदव्यासः	६
दधीच	१	वैशेषिक	१
न्यायविदः	४	शतककारः	१
पतञ्जलिः	१	शिवः (सूत्रकर्ता)	१
बादरायणः	१	शिवसूत्रवार्तिककृत्	१
भगवान् विष्णुः	१	शैवाः	१
भट्टपादः	२	सांख्याः	४
मनुः	१	सांख्याचार्याः	५

परिशिष्ट—४

(अघोरशिवाचार्य की वृत्ति में उल्लिखित ग्रन्थ, ग्रन्थकार तथा मत)

अस्माभिः (अघोरशिवाचार्यैः)
कामिकाद्यष्टाविंशतितन्त्राणि
कालोत्तरतन्त्रम्
किरणागमः
क्षपणकादयः
तत्त्वसंग्रहः
पराख्यतन्त्रम्
प्रवाहेश्वरपक्षः
पौष्करागमः
बौद्धः
मृगेन्द्रागमः
मृगेन्द्रवृत्तिदीपिका
रामकण्ठः
रौरवागमः
वेदान्तवादिनः
वैशेषिकादिः
श्रुतिः
स्वायंभुवः
सांख्यैः
सिद्धगुरुः
सिद्धान्तशास्त्रम्

परिशिष्ट—८

(टीकाद्वयोद्धृतसंदर्भसूची)

तत्बाह्ये स्फटिकसन्निभं ... ... आगमः
" " ... ... भवेन्माया "
तद्बाह्ये रागतत्त्वं ... ... आगमः
तद्रागविद्ये च कलां ... ... अघोरशिवः
तद्वपुः पञ्चभिः ... ... आगमः
तदूर्ध्वं वैन्दवं ... ... "
तदेकसजमव्ययं ... ... श्रुतिः ?
तदेतदक्षयं ... ...विष्णुपु० १।२२।६०
तन्मात्राणीह ... ... मृगेन्द्रे
तन्नुद्दिह यः ... ... श्रुतिः ?
तस्मात् तत्संयोगात् ... सांख्यका० ।२०।
तस्मै नूनमभिद्यवे ... ... आगमः
नमः शक्त्यधिकारस्य ... ... मृगेन्द्रे
महावाक्यो. ।३।
तमेवं विद्वान् अमृत ...नृ. पू. उ. १।६॥
तरति शोकमात्मवित् छा. उ. ।७।१।३।
तामसतो ... ...स्मृतिः
तासां माहेश्वरी शक्तिः ... ... मृगेन्द्रे
त्रिगुणमविवेकि ... ... सांख्यका. ।११।
त्रिविधास्ते च विज्ञान ...सिद्धान्तहृदये
तेजस्तत्त्वं ... ... आगमः
तेनेदं पूर्णं पुरुषेण ... ... श्वेता. ३।९
तैजसानि शरीराणि ... ... आगमः
दृष्टमनुमान ... ... सांख्यका. ।४-६।
द्वयोरप्यध्वनो ... ... आगमः
द्यावाभूमी जनयन् ... ... श्वे. उ. ३।३।
द्विधा कृत्वात्मनो ... मनुस्मृतिः ।१।३२।
द्वे विद्ये वेदितव्ये ...मुण्ड० उ. ।१।१।४॥
धर्मेणगमनमूर्ध्वं ... सांख्यका० ।४४-५।
न च पुनरावर्तते ... छां. उ. ८।१५।१॥
न च स्त्री न पुमानेष ... वायवीये ५।४८
न तं विदाथ य इमा ... ... श्रुतिः ?
न चाशरीरिकर्तृत्वं ... ... आगमः
न शंखेन पिवेत्तोयम् ... ... श्रुतिः
न ईशानमूर्ध्न ... ... " ?
न वा ओजीयो रुद्र ... ...
नात्र शक्तिरुपादानं ... ... आगमः
नाधिकां न च हीनां ... ... लैङ्गे
नान्यः पन्था अयनाय ... श्वे. उ. ३।८

नाभुक्तं क्षीयते कर्म ... ... स्मृतिः
नायं पृथिवी न सलिलं ... ... स्मृतिः
नासतो विद्यते ... ... गीता २।१६
निग्रहोऽपि स्वरूपेण ... ... वायवीये
निमित्तकारणं त्वीशः ... ... मातंगे
निमित्तमीश्वरस्तेषां ... ... पराख्ये
निश्चिते तद्कर्तृत्वे ... ... आगमः
निधीशो रूपवान् ...गुरुदेवपद्धति.
उत्तरा. १७।८०–२
निष्कलं निष्क्रियं शान्तं ...श्वेता.उ.।६।१९।
नैव स्त्री न पुमानेष ...श्वेता. उ. ।५।१०।
पञ्चमन्त्रतनुः श्रीमान् ... ... पारमेश्वरे
पञ्चवक्त्रः त्रिपञ्चदृक् ... ... आगमः
पत्युः शक्तिः परासूक्ष्म ... ... मातङ्गे
पत्यौ शिवस्वभावा ... ... शैवरहस्ये
पञ्चावयवयुक्तस्य ... ... व्यासः
परस्त्रिकालादकलो ... ...श्वे. उ. ।६।५।
परापरव्यतिकरः ... ... वैशेषिक
परोपदेशानपेक्षं ... ... न्यायवाक्यम्
परोऽपि न शरीरस्य ... ... आगमः
पशुः पशुत्वसंयोगात् ... ... श्रुतिः ?
पशुपाशपतिज्ञान ... ... किरणे
पश्यन्ति ऋषयो मुक्ताः ...ईश्वरगीता
॥२।५०॥
पार्थिवमन्तिमं तत्त्व ... ... शैवरहस्ये
पाशास्त्रयो निगलयन्ति ... प्रयोगमञ्जरी
पाश्यः पाशयिता पाशाः ... पारमेश्वरे
पुत्रे जातेऽष्टका ... ... श्रुतिः ?
पुरुष एवेदं सर्व ... श्वेता. उ. ॥३।१५॥
पुरुषो वै रुद्रः ... महानारा. ॥१०।११॥
पुल्लिङ्गमखिलं देव ... ... लैङ्गे
पूर्वासिद्धेनदेहेन ... ... आगमः
पृथिवीतत्त्वमाक्रम्य ... ... चन्द्रज्ञाने
प्रकृतिःपुरुषश्चैव ... ... आगमः
प्रतिपत्त्यागतान् ... ... पारमेश्वरे
प्रधानादभवद् बुद्धि ...शिवधर्मोत्तरे
प्रजायसे जनयसि ... ... स्मृतिः
प्रज्ञानं ब्रह्म ... ... ऐत. उ. ।५।३।
प्रमाता ... ...: ?

वामादिशक्तिभिर्युक्तः ... ... रौरवे
व्योम्नोऽवकाशदानं ... ... आगमः
विचारतस्तु रुद्रस्य ... ... स्मृतिः
विज्ञानकलसंज्ञः ... ... शैवरहस्ये
विज्ञानकलसंज्ञान् ... ... आगमः
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ... बृहदा. उ. ३।९।२८।
विज्ञानानां यथार्थत्वं ... न्यायवाक्यम्
विज्ञानयोगसंन्यासैः ... ... आगमः
विद्यातत्त्वं परं ... ... „
विद्यया विन्दतेऽमृतम् ... केनोप० २।४।
विद्येयं सर्वभावानां ... ... आगमः
विद्येश्वरान् करोत्यष्टौ ... सिद्धान्तहृदये
विधिवाक्यमिदं ... शिवधर्मोत्तरे १।१३७॥
विन्दोर्नादात्मकात् ... गुरुदेवपद्धतौ उत्तरा. १७।१३७॥
विपर्ययो मिथ्याज्ञानं ... योगसू० ।१।८॥
विभोरपि मलस्यास्य ... ... किरणे
विवादाध्यासितं विश्वं ... ... आगमः
विषोविषधरो } गुरुदेवपद्धतौ उत्तरा.
वृषो वृषधरो } १७।१८३॥
विष्णोःस्वरूपात् ... विष्णुपु० ॥१।२।२४॥
विशेषेऽनुगमः ... ... अज्ञातम्
विश्वं भूतं भुवनं चित्रं ... भस्मजा० २।५॥
विश्वतश्चक्षुः ... ... आगमः
वेदाहमेतं पुरुषं ... ... श्वेता. उ. ३।७
वैश्वानरं द्वादश ... ... श्रुतिः ?
स इज्ज्योतिः स ... ... लिङ्गपु.
स इमॉल्लोकानसृजत ... ऐते. उ. १।१।२।९
स एव मूलप्रकृतिः ... ईश्वरगीता ७।२१
स कर्तृकेष्वनु ... ... आगमः
सत्यं ज्ञानमनन्तं ... तै. उ. २।१।१॥
सर्वं धर्मत्रिधा ... ... पारमेश्वरे
सत्त्वं लघु प्रकाशक ... सांख्यका. ॥१३॥
सत्त्वे न भ्रान्तिबाधौ ... ... आगमः
सदाशिवाख्यं विमलं ... ... चन्द्रज्ञाने
सदेव सोम्येदमग्र ... छां. उ. ६।२।१
समे कर्मणि सञ्जाते ... ... आगमः
सम्बन्धप्रतिभासो ... ... शैवरहस्ये
सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् ... सांख्यका० ६७।
सविद्युतां विदधतां ... न्यायवाक्यम्
संक्षुब्धाद् ... ... पारमेश्वरे
संरम्भाद्यस्य चेष्टन्ते ... ... आगमः
संरम्भोऽहंकृते ... ... „
संसारहेतुः संसारो ... ... स्मृतिः
सर्गकाले च करोति ... ... स्मृतिः
सर्वगः पुरुषः परः ... ईश्वरगीता ?
सर्वज्ञः सर्वकर्तृत्वाद् ... ... आगमः
सर्वत्रविहितो धर्मः ... ... मोक्षधर्मे
सर्वविकल्पविहीन ... ... शतककारः
सर्वस्मादधिकं ... ... लिङ्गपु.
सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य ... श्लोक.वा० १।१२।
सर्वं प्रत्युपभोग ... ... सांख्यका० ।३७।
सर्वाननशिरोग्रीवः ... श्वे. उ. ३।११।
सर्वेन्द्रियेभ्यः ... ... स्मृतिः
सर्वेषुकालेषु ... ... प. हं. उ.प. ।७।
सर्वो रुद्रस्तस्मै रुद्राय ... नीलरुद्रः
सर्वो वै रुद्रः ... महाना. उ. ॥१३।२॥
सर्वो ह्येष रुद्रः ... शिव. सं. ३१ महाना. १०।१॥
सहजमनादिमलं ... ... शैवरहस्ये
सहजा कालिमा ताम्रे ... ... आगमः
स हि सर्वेषु भूतेषु ... ... स्मृतिः
सा च कुण्डलिनी शम्भो ... आगमः
सा प्रतिष्ठा तदमृतं ... सनत्सुजातीये
सात्त्विक एकादशकः ... सांख्यका. ।२५।
साधकस्य तु लक्ष्यार्थं ... ... पौष्करे
साम्प्रतकालं ... ... सांख्यका. ॥३३॥
सुखदुःखमोह ... ... शैवरहस्ये
सृष्टिसंरक्षणादान ... ... रौरवे
सौवर्णं पृथिवी ... ... चन्द्रज्ञाने
स्वराः षोडशवर्णाध्वा ... ... आगमः
स्वाप्येऽप्यस्ति ... ... मृगेन्द्रे
स्वालक्षण्या ... ... सांख्यका० २९।
सिसृक्षोराद्य ... ... सिद्धान्तहृदये
शक्तयः सर्वभावानां ... ... भट्टपादः
शक्तिर्नाचेतना चितः ... ... आगमः
शक्तेर्नादो भवेद्बिन्दुः ... ... „
शब्दज्ञानानुपाती ... योगसूत्रम् ॥१।९॥

परिशिष्ट-६

पारिभाषिक शब्दकोश

अध्व = मार्ग, सर्गक्रम, शुद्ध तथा अशुद्ध दो प्रकार, शिवतत्त्व से माया के पूर्व तक शुद्धाध्व, माया से पृथ्वी पर्यन्त अशुद्धाध्व।

अनुग्रह = ईश्वरीय कृपा, पाशों के तिरोधान से पशुओं को भोग-मोक्ष प्रदान करना, यथाधिकार ज्ञान,क्रिया, अणिमा आदि से युक्त करना, विश्वोत्पत्ति हेतु समस्त शक्तियों का स्पन्दन।

अणु = पशु, जीव, कर्तृत्व आदि में अत्यन्त सीमित।

अपौरुषेयता = मानव अथवा मानवेतर व्यक्ति के द्वारा पवित्र ग्रन्थों के न रचे जाने का सिद्धान्त।

अर्थपञ्चक = पाश। बिन्दु, कर्म, माया, मल और रोधशक्ति। अथवा पृथिवी आदि पाँच तत्त्व।

अविशेष = सूक्ष्मरूप, तन्मात्र, भूतों की वह अवस्था जिसमें उनके गुण पृथक् रूप में प्रकट नहीं होते।

अशुद्धाध्व = माया से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्व। मायाशबल होने से अशुद्ध कहे जाते हैं। इनकी रचना अनन्त आदि के द्वारा। इसी को 'असिताध्व' भी कहते हैं।

आवरण = मलरोध, विषयों के वास्तविक रूप का प्रकाशित न होना।

ईश्वरतत्त्व = शुद्धाध्व का आदि से चतुर्थ तत्त्व। इसमें ज्ञानशक्ति किञ्चित् न्यून तथा क्रिया शक्ति अपेक्षाकृत अधिक स्फुट। देखें कारिका २९।

ईश्वरवाद = प्रकृति, स्वभाव आदि से भिन्न ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप, जगत्कारणता आदि से सम्बद्ध सिद्धान्त।

उन्मेष = आंख खोलना, सृष्टि हेतु शिव का आदि स्फुरण-परिणाम।

उपादानकारण = जिस पदार्थ से निर्माण होता है, शुद्धाध्व का बिन्दु अथवा महामाया उपादान कारण है और अशुद्धाध्व में माया।

करण=सामान्यतः दश इन्द्रियाँ बाह्यकरण और बुद्धि, अहंकार तथा मन अन्तःकरण, दो प्रकार के, किन्तु जगत्सृष्टि में निमित्त कारण शिव और करण शक्ति है।

कर्मसाम्य=साधक की वह अवस्था जब वह शुभ तथा अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों के प्रति समान रूप से अनासक्त हो जाता है और उनका सत्फल या दुष्फल उसे भोगना नहीं पड़ता।

कर्मविपाक=कर्मों का पकना, पूर्वकृत कर्मों के फलभोग के लिये विषयों का भोग्यरूप में उपस्थापन का प्रारम्भ।

कालतत्त्व=पञ्चकन्चुकों में प्रथम, अशुद्धाध्व का प्रथम तत्त्व।

घृतकीटन्याय=एक देशीय परिणाम, जिस प्रकार प्रचुर घृत में उसके एक अंश में विकार आकर कीट उत्पन्न करता है, उसी प्रकार सर्वात्मना न होकर एकदेशीय परिणाम का सिद्धान्त।

क्षीरदधिन्याय=सर्वात्मना परिणति, जिस प्रकार पूरा का पूरा दूध परिणत होकर दही का रूप ले लेता है, उसी प्रकार सर्वात्मना किसी कारण का कार्य-विशेष में परिणत होने का सिद्धान्त।

चित्=चैतन्य, किन्तु यहाँ इसका अर्थ है ज्ञान और क्रिया शक्ति।

चिद्घन=ज्ञान और क्रिया की एकत्रस्थिति वाला, ज्ञान और क्रिया हैं शरीर जिसके।

तत्त्व=पदार्थ, प्रलय-पर्यन्त अवस्थित रहने वाले पदार्थ। सामान्यतः सिद्धान्त शैव-दर्शन में मात्र तीन—पति, पाश और पशु-तत्त्व हैं, विशेषतः छत्तीस—शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त।

तत्त्वत्रय=पशु, पाश और पति ये तीन। सिद्धान्तदर्शन का सद्योज्योतिरचित एक प्रकरणग्रन्थ।

तिरोधान या तिरोभाव=छिपाना, पशुओं को पति के वास्तविक स्वरूप-ज्ञान से वञ्चित रखना, पाश द्वारा अनुग्रह करके आत्माओं को यथोचित भोग प्रदान करना। पञ्चकृत्यों में एक।

तैजस=राजस अथवा रजोगुण से उत्पन्न।

दीक्षा=गुरु के माध्यम से पशु के कल्याणार्थ होने वाला शिव का व्यापार, मलनिवृत्ति का अपरिहार्य प्रधानतम साधन। नयन, स्पर्श, वाचिक, शास्त्र, मानस, योग तथा होतृ नाम से सात प्रकार की।

नित्य=अनादि एवं अनन्त, शाश्वत, त्रिकालाबाधित, न कि क्षणिक।

निमित्तकारण=जगत्सृष्टि के निमित्तकारण शिव है, शुद्धाध्व में स्वयं, अशुद्धाध्व में 'अनन्त' के रूप में।

नियति=अशुद्धाध्व में माया से उत्पन्न द्वितीय तत्त्व, काल के पश्चात् उत्पन्न होने वाला तत्त्व, पञ्चकन्चुकों में द्वितीय, जगत् का नियन्त्रण करने वाला तत्व।

पक्वमल=जिनके मल पक चुके हैं, जिनके मलों का दोष समाप्तप्राय है, विद्येश, ये आठ हैं=अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ और शिखण्डी। ये पन्चकृत्य के अधिकारी हैं तथा ईश्वरतत्त्व के निवासी हैं।

पञ्चकञ्चुक=पाँच आवरण जिनसे माया कर्तृत्व आदि में न्यूनता लाती है, कला, काल, नियति, विद्या, और राग।

पञ्चकृत्य = शिव के पाँच कार्य—सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह।

पञ्चमन्त्रतनु = पाँच मन्त्र हैं शरीर जिसके वह शिव। ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात ये शिव के शरीर हैं जो मन्त्रात्मक हैं और पञ्चकृत्योपयोगी हैं। नाद, विन्दु, पद, वर्ण, वाक्य इन पाँच रूपों वाले मन्त्र जिसके शरीर हैं। अथवा पञ्चाक्षर मन्त्र-स्वरूप। अथवा ओंकार और चतुर्वेद इन पञ्चमन्त्र-रूपों वाला। द्रष्टव्य श्रीकुमार की छठीं कारिका की टीका।

पति = शिव, शिव सदृश शिवत्वयुक्त मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश्वर, मुक्तात्मा आदि तथा शिवत्वप्राप्ति के साधन दीक्षा आदि भी।

परतःप्रामाण्य = ज्ञानग्राहक तथा उसकी प्रामाण्यग्राहक सामग्री के भिन्न-भिन्न होने का मत।

परिग्रह-शक्ति = माया तथा शिवतत्त्व का सम्बन्ध जिससे शिव की उपस्थिति मात्र से माया से उत्पत्ति का क्रम प्रारम्भ होता है।

पशु = पाशवद्ध, सभी स्थावर तथा जङ्गम, जड़ एवं चेतन। अणु। पशुत्वयुक्त विज्ञानकल आदि वद्धात्मा।

पशुभेद = पशुओं का प्रकार, तीन प्रकार—विज्ञानकल, प्रलयकल, सकल।

पाश = तीनों प्रकार के मल। अर्थपञ्चक। विन्दु और माया से उत्पन्न शुद्ध तथा अशुद्ध रूप वाले तत्व, भुवन, भूत, भाव सब पाशशब्द वाच्य हैं।

पुर्यष्टक = आठ अवयवों वाला शरीर, सर्ग से लेकर कल्पान्त या मोक्ष तक रहने वाला सूक्ष्मदेह। पृथ्वीतत्त्व से लेकर कलातत्त्वपर्यन्त तीस तत्त्वों का शरीर जिसका वर्गीकरण आठ रूपों में हो जाता है। देखें १२ वीं कारिका तथा टीकायें।

पुरुष = पुमान्, पशु, जीव, पञ्चकञ्चुकावेष्टित।

प्रभु = स्वयंसमर्थ, दूसरों का प्रेर्य नहीं। स्वयं कर्तृत्वादियुक्त।

प्रलयकेवल या प्रलयाकल = मल तथा कर्म नामक दो मलों से बद्ध पशु।

प्रवाहेश्वर पक्ष = बौद्धों का आत्मविषयक वह मत जिसमें चेतना के प्रवाह को ही ईश्वर अथवा आत्मा के स्थान पर स्वीकार किया जाता है।

प्रसाद = अनुग्रह, कृपा। शिव का वह व्यापार जिसे प्राप्त कर पशु मुक्त होता है अथवा दिव्यभोगों को प्राप्त करता है।

प्रामाण्यवाद = अभीष्ट प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान की यथार्थता अथवा ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री से सम्बद्ध मतवाद।

विन्दु = शुद्धाध्व का प्रधान उपादान, महामाया।

बुद्ध्यक्ष = बुद्धीन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय।

वैन्दव शरीर = विन्दुदेह, परमशिव का महामाया स्वरूप, शिवतत्त्व।

भूतादि = तामस या तमोगुण से उत्पन्न भूत आदि।

मन्त्रेश या मन्त्रेश्वर = वे पक्वमल सकल जिनको शिव ही मन्त्रेशपद पर नियुक्त करते हैं, इनकी संख्या एक सौ अठारह है—८ मण्डली + ८ क्रोधादि + वीरेश + श्रीकण्ठ + १०० रुद्र = ११८ मन्त्रेश।

मण्डली = कलामस्तकस्थ गहनेश आदि आठ प्रमाता मण्डली कहे जाते हैं। मन्त्रेशों में आठ।

मलपरिपाक=मल का पकना, साधना से प्राप्त वह दशा जब कर्मसाम्य के कारण मल के फलों का भोग नहीं होता, मलों का फल भोग कराने में निष्प्रभाव हो जाना।

(१) **मल**=सामान्यतः पाश का पर्याय, विशेष अर्थ में त्रिविध पाशों में एक जिसके कारण पशुत्व होता है और 'जीव' अपने को नित्य, विभु आदि रूप में नहीं अनुभव कर पाता, 'प्रत्यभिज्ञा' के आणवमल सदृश।

(२) **मायीय**=वह पाश या मल जिसके कारण अनात्मवस्तुओं में आत्मा का भ्रम होता है।

(३) **कार्म**=वह पाश जो इच्छारूप है तथा सुखदुःखचक्र के अनुभव का कारण है।

महाप्रलय=वह अवस्था जब समस्त कार्य अपने कारणों में विलीन होते हुये मात्र शक्तिरूप रह जाते हैं।

महार्थ=सभी तत्त्वों के समूह का एक नाम 'महार्थ' है।

महामाया=विन्दु, शुद्धाध्व का प्रधान उपादान कारण।

माया=अशुद्धाध्व का उपादान कारण, साक्षात् माया से काल, नियति, आदि तथा पारम्पर्येण अव्यक्त, गुणतत्त्व, बुद्धि, अहङ्कार आदि उत्पन्न होते हैं।

मुक्तात्मा=वे पशु जो मुक्त हो चुके हैं, शिवसायुज्य प्राप्त कर लिये हैं, शिवसदृश हो गये हैं।

मोक्ष=शिवभोग की अवस्था, शिवसमानता का अनुभव।

वपु=सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर।

विक्षोभ=उत्पत्ति, सृष्टि अथवा प्रसव के लिये माया का प्रेरित किया जाना।

विज्ञानकल या विज्ञानकेवल=मलमात्र से युक्त पशु, दो भेद—समाप्त कलुष तथा असमाप्त-कलुष।

विद्या अथवा सद्विद्या=शिव की ज्ञानशक्ति के उद्रेक तथा क्रियाशक्ति की न्यूनता की दशा। शुद्धाध्व का एक तत्त्व।

विद्येश या विद्येश्वर=विद्यातत्त्व के अधिष्ठाता, इनका योग वैन्दवशरीर से होता है।

वीरेश=वीरभद्र, शतरुद्रों के अधिष्ठाता।

वैकारिक—सात्त्विक, सत्त्वगुण से उत्पन्न।

व्यापिनी=काल आदि तत्त्वों में व्यापक।

व्यापी=सर्वगत। आत्मा का एक विशेषण, जैनो के उस सिद्धान्त के विपरीत भाव व्यक्त करने वाला शब्द जिसमें आत्मा को शरीर के परिमाण का माना जाता है।

शक्ति=शिव का धर्म, स्वरूप-सामर्थ्य। ज्ञान और क्रियारूप चैतन्य, शुद्धाध्व का द्वितीय तत्त्व, जगत् की सृष्टि के इच्छुक शिव का प्रथम परिणाम।

शक्तिपात या शक्तिनिपात=अनुग्रह, तिरोधान-शक्ति का उपसंहार और पाश का निरोध करके शिवसाम्य की प्राप्ति-हेतु योग्य बनाने के लिये शिव की प्रेरणा।

शतरुद्र=सौ रुद्र, ११८ मन्त्रेशों में से ८ के अतिरिक्त की संज्ञा, ब्रह्माण्डधारक।

शान्त=रागद्वेष आदि से रहित।

शुद्धाध्व=शिव से लेकर शुद्धविद्या या सद्विद्या तक माया से ऊपर के तत्त्व। माया के प्रभाव से रहित होने के कारण शुद्धाध्व कहा जाता है, यह साक्षात् शिवकर्तृक होता है।

शिवभोग=मोक्ष, वह अवस्था जब जीव शिवसदृश होकर शिवत्व का आस्वादन करता है।

शैवागम=शिवप्रोक्त शैवदर्शन के मूलाधार ग्रन्थ। ये २८ हैं। नाम आदि के लिये द्रष्टव्य भूमिका तथा ५ वीं कारिका पर श्रीकुमार की टीका।

श्रीकण्ठ=गुणतत्त्ववासी, अधोलोक के कर्त्ता।

षडध्व=छः मार्ग, सृष्टि के मूल घटकतत्त्व, मुक्ति में सहायक उपाय, छः प्रकार के–मन्त्र, पद, वर्ण, भुवन, तत्त्व तथा कला।

षड्विधलिङ्ग=वाक्यार्थ के विनिश्चय के लिये आवश्यक छः हेतु। ये हैं,—१—उपक्रमोपसंहार २—अभ्यास ३—अपूर्वता ४—फल ५—अर्थवाद ६—उपपत्ति।

सकल=मल, माया और कर्म तीनो मलों से युक्त पुरुष।

सततोदित=नित्यमुक्त, शिव का विशेषण। मुक्तात्माओं से शिव का भेदक, शिव नित्यमुक्त होते हैं और पशु नहीं, वह पहले बद्ध फिर मुक्त होता है।

सत्कार्यवाद=कारण-व्यापार के पूर्व कार्य का कारण में विद्यमान होने का सिद्धान्त।

सदाशिव=शुद्धाध्व में शिव का द्वितीय प्रसर या परिणाम जिसमें ज्ञान और क्रिया दोनों शक्तियाँ साम्यभाव से रहती हैं।

सप्तकोटिसंख्यक=यह मन्त्र-प्रमाता की संख्या हैं जो शुद्धाविद्यातत्त्व के निवासी हैं।

सर्ग=सृष्टि, पाँच प्रकार की—भाव, तत्त्व, भुवन, भूत और प्रत्यय।

सर्वानुग्राहक=शिव का एक विशेषण। उनको जड़ और चेतन सब पर अनुग्रहकारी माना गया है।

सहजमल=मोह, मद, राग, विषाद, शोष, वैचित्र्य और हर्ष ये सात सहज मल है।

साधनचतुष्टयसम्पत्ति=चार अर्हताओं की प्राप्ति जो अध्यात्मसाधक में साधना में प्रवेश से पूर्व आवश्यक है। अद्वैतवेदान्त सम्मत चार—(१) नित्यानित्यवस्तुविवेक (२) इहामुत्रार्थ-भोगविराग (३) शमादिषट्कसम्पत्ति (४) मुमुक्षुत्व।

सूक्ष्म=अमूर्त

सृष्टि=जगदुत्पत्ति, शुद्धाध्व में विद्या-विद्येश्वरों का बैन्दव शरीर से योजन, अशुद्धाध्व में पशुसङ्घ का तात्त्विक शरीर अथवा भौवन, भौतिक शरीर से योजन।

संरम्भ=प्रयत्न

संहार या संहृति=शुद्धाशुद्धाध्व के कार्यों का मूल तत्त्व में विलय या संकोच।

स्थिति=सम्पूर्ण जगत् का स्वविषयों में अवस्थापन।

स्वतःप्रामाण्य=ज्ञान तथा प्रामाण्य दोनों की ग्राहक सामग्रीका एक ही होना, दोनो के लिये भिन्न २ ग्राहक सामग्री की अपेक्षा न होना।



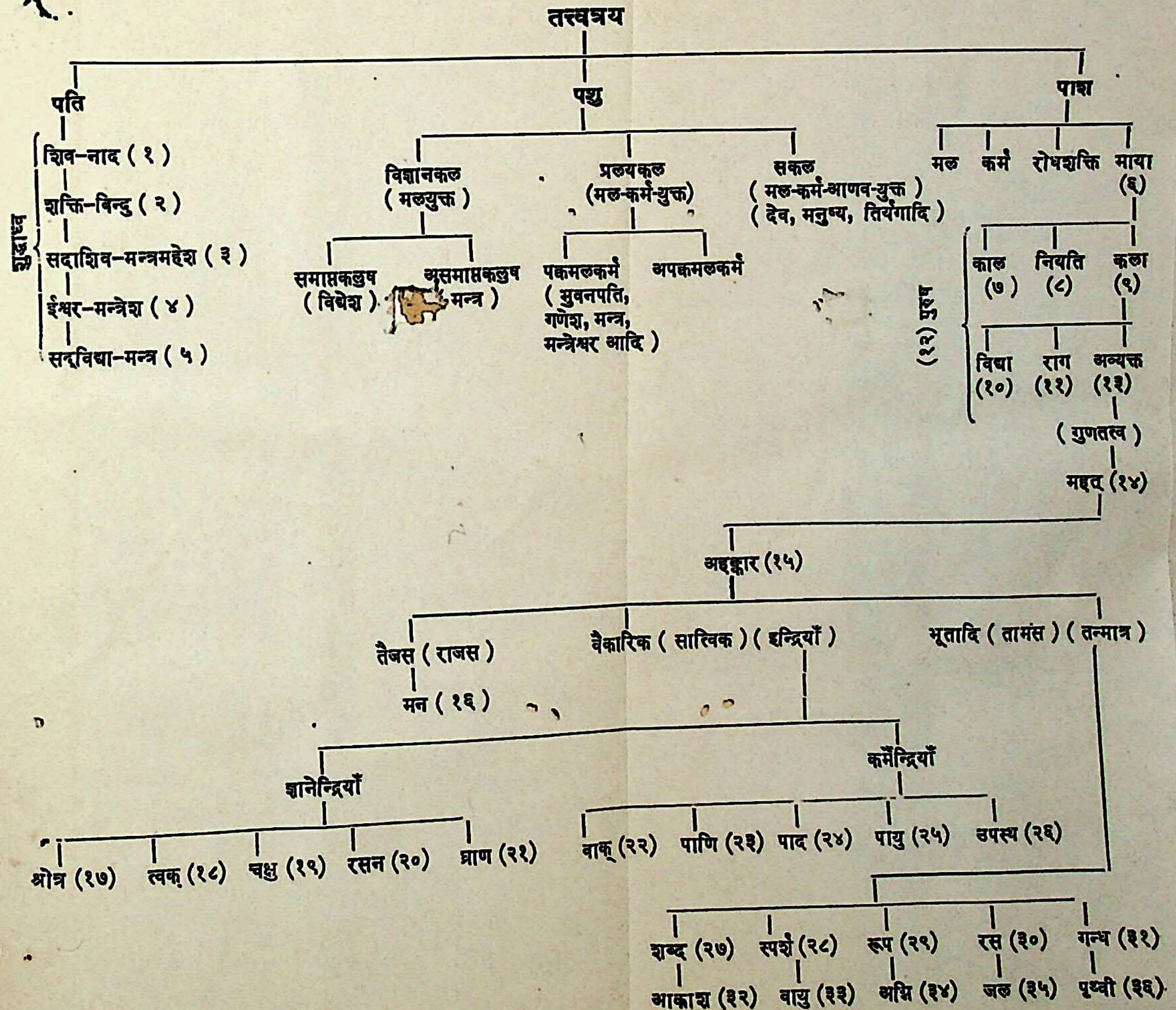
परिशिष्ट–७

प्रयुक्त-ग्रन्थ-सूची

१. अष्टप्रकरणम्, वाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम्, १९२५
2. Aufrecht : Catalogous Catalogorum Vol. I, II/III
3. New Catalogous Catalogorum, Vol. II, University of Madras,
4. Dr. Kanti Chandra Pandey : Bhāskarī Vol. III, Benaras, 1954
5. M. M. Dr. Gopinath Kaviraja : Gleanings from the History and Bibliography of the Nyāya-Vaiśeṣika Literature, Calcutta, 1961.
6. K. S. Pillai : Metaphysics of the Saiva-Siddhanta System Tinnevalley, 1929.
7. Dr. S. N. Dasgupta : A History of Indian Philosophy Vol. V, Cambridge; 1955.
8. Dr. Poniah V. Theory of Knowledge of Saiva-Siddhānta, Annamalainagar, 1962.
9. J. M. N. Pillai : Studies in Saiva-Siddhanta, Madras, 1911.
10. K. M. Balsubramaniam : Special Lectures on Saiva-Siddhanta, Annamalai University, 1959.
11. G. Mathews : Śivajñānabodham, Oxford, 1948.
12. J. N. Sinha : Schools of Saivism, Calcutta 1970.
13. C. M. Duff : The Chronology of Indian History, Cosmos Publications, Delhi, 1972.
14. S. K. De : Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960.
15. Dr. V. Raghavan : Bhoja's Śringāra–Prakāśa, Madras, 1963.
16. Epigraphica Indica, Vol. 2.
१७. श्रीकुमार : शिवपरत्नम्, पूर्वभागः, त्रिवेन्द्रम्, १९२२ ई.
१८. म. म. टी. गणपति शास्त्री (सम्पादक) : तत्त्वप्रकाशः, त्रिवेन्द्रम्, १९२०.
१९. डा. कान्तिचन्द्र पाण्डेयः शैवदर्शनविन्दुः, वाराणसी,
२०. सरस्वतीकण्ठाभरणम्–निर्णयसागर प्रेस, १९३४ ई.
21. Saraswatīkanṭhābharaṇam, Gauhati, 1969.
२२. सारस्वती सुषमा, वर्ष १८ अङ्क १–२, सम्वत् २०२०, वाराणसी

परिशिष्ट-८

(भोजसम्मत तत्त्वविकासक्रम)



१. अष्ट
2. Au
3. Ne
4. Di



7. D
8. Di
9. J.
10. K
11. G.
12. J.
13. C.
14. S.
15. D
16. Ep
१७. श्र
१८. म
१९. ब
२०. स
21. S
२२. स





